ब्रह्मविद्या विज्ञान
ईशावास्योपनिषद् : एक मौलिक चिन्तन
भाग-2
ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा
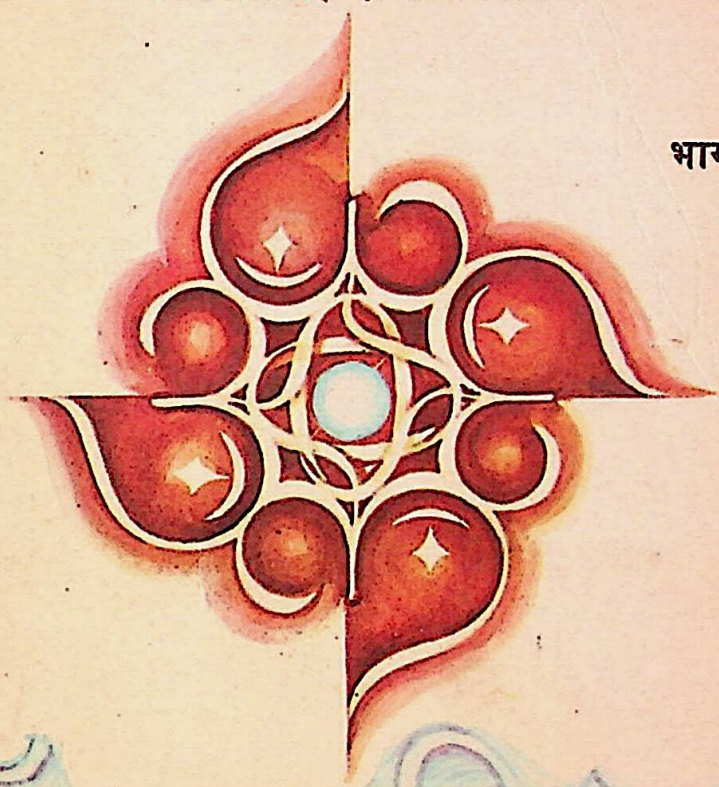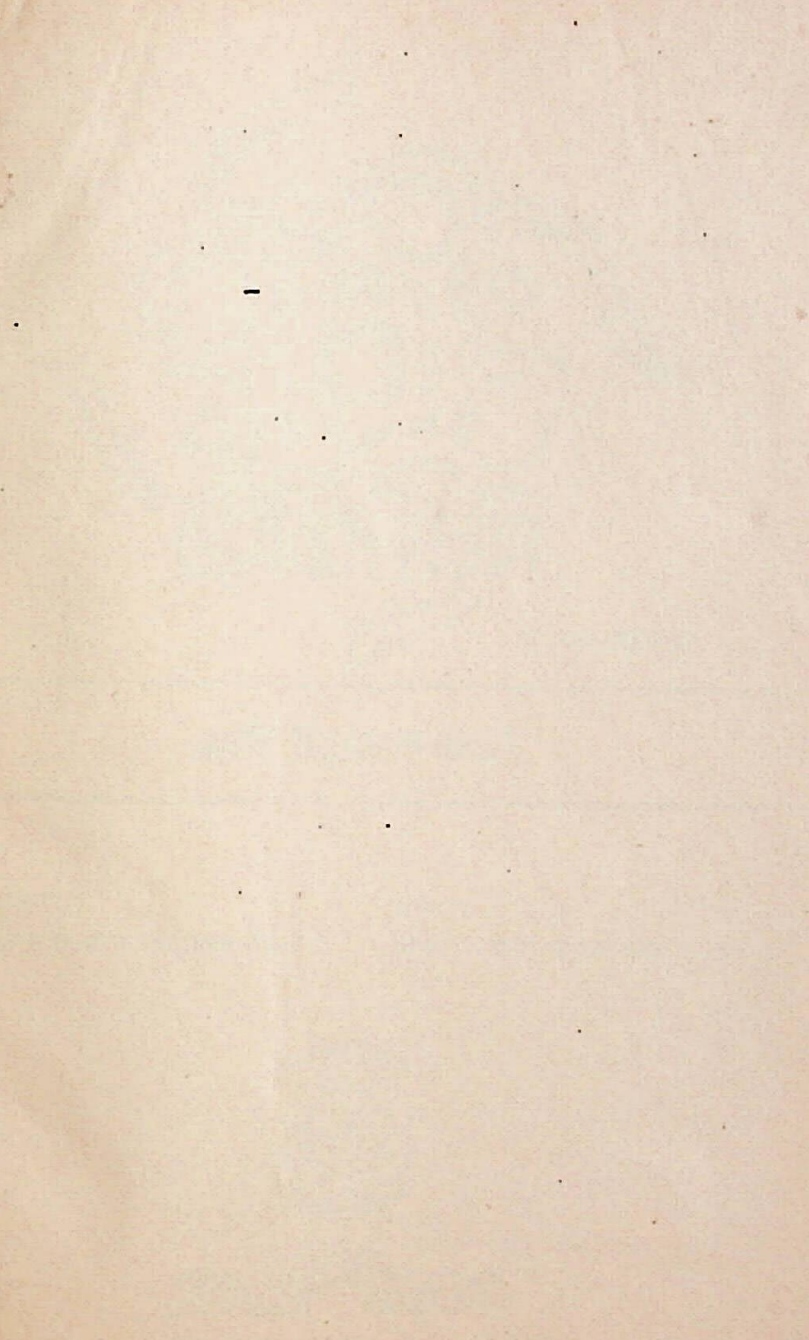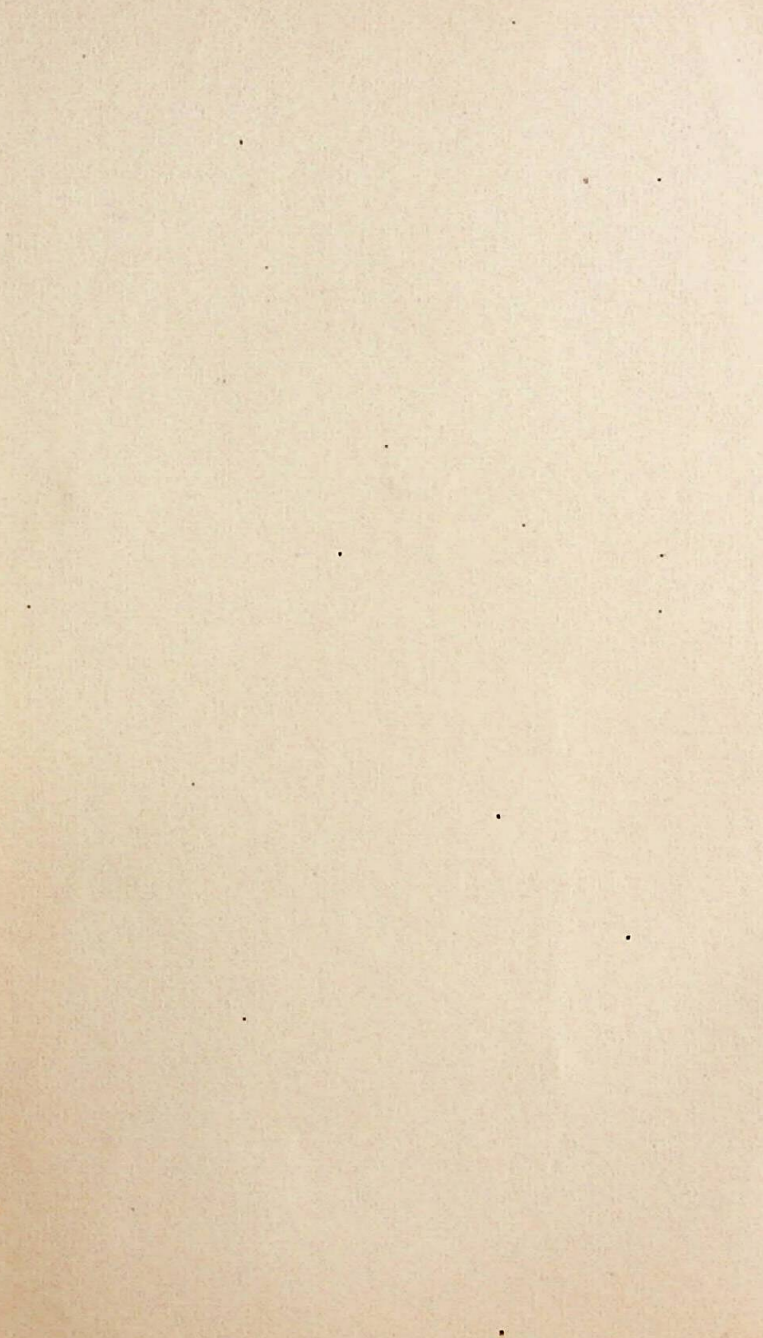
ब्रह्मविद्या विज्ञान

भाग—द्वितीय

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

संपादन :
ब्रह्मश्रुता परिव्राजिका एम० ए०

संकलन :
विश्व भारती परिव्राजिका एम० ए०

दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)
फोन २५५३ (कालका)

ईशा वास्यमिदँ सर्वं...

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥१॥

दो शब्द

करुणानिधान भगवान् की करुणा ही ब्रह्मविद्या के रूप में अवतरित हो अनादि अविद्याग्रसित जीवों को निजस्वरूप, परस्वरूप, विरोधस्वरूप, उपायस्वरूप और फलस्वरूप का समुचित बोध प्रदान करती है। उस सत्य बोध से ही वे संसृति प्रवाह से विमुक्त हो परमानन्द का भाजन बन सदा के लिए कृतकृत्य हो जाते हैं। अपने सुकृत के प्रभाव से नहीं केवल प्रभु कृपा प्रसाद से ही जीव इस जगत् जाल से विमुक्त हो पाता है। यह देवदुर्लभ मानव शरीर ही तो सर्वविध सत् साधनों का धाम है, जिसकी उपलब्धि जीव को अपने कर्मानुसार नहीं कारुणीक प्रभु की अहैतुकी कृपा से ही हुआ करती है। क्योंकि इस सृष्टि प्रवाह में मनुष्य से अतिरिक्त और कोई ऐसी योनि नहीं दीखती जिसको प्राप्त कर जीव ने किसी शुभकर्म का अनुष्ठान किया हो और उसके परिणाम में यह देवदुर्लभ मानव शरीर प्राप्त किया हो।

प्रत्यक्षधर्मा परमर्षियों का कथन है कि अनादि वासना से विमुग्ध हो प्रकृति के गर्भ में प्रसुप्तावस्था में पड़े हुए जीवों की दयनीय दशा को देख कर ही करुणावशात् करुणानिधान के हृदय में सृष्टि का संकल्प उदय होता है और सृष्टि के साथ ही अविद्या निशा में प्रसुप्त पड़े जीवों की जागृति हेतु वह अपनी अमृतमयी वाणी को भी ब्रह्मविद्या के रूप में प्रकट करता है। इस रहस्य का उद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है –

यो ब्रह्माणं विदूधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपद्ये।।
(श्वेता० 6/18)

इससे यह ज्ञात होता है कि अपेन चिदांशभूत जीव शिशुओं को जागृत करके, उन्हें उनके नित्य वैभव से विभूषित कर सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मराज्य वा स्वराज्य सिंहासन पर समासीन कर देना ही, उस परमपिता परमेश्वर की वाणी ब्रह्मविद्या के अवतरण का प्रयोजन है और अनादिकाल से ही उसके दिव्य प्रकाश में यह प्रयोजन पूर्ण होता आ रहा है।

सत्य तो यह है कि वह परम वात्सल्यमय प्रभु जीवों के कल्याणार्थ परम साधन स्वरूप जिस नामरूपात्मक जगत् का सृजन किया है, उसके गुण, धर्म, स्वभाव युक्त समग्ररूप का एवं उसके समुचित प्रयोग की विधि का बोध भी ब्रह्मविद्या के अभाव में नहीं हो सकता। यही कारण है कि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अनवरत रूप से अब तक उस प्रभु के मंगलमय विधान से गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा ब्रह्मविद्या का अक्षुण्ण प्रवाह चला आ रहा है। अपनी इस दिव्य वाणी को जनमानस तक पहुँचाने के लिए कृपासिन्धु स्वयं ही निजजनों को समय-समय पर अवतरित करते हैं और वे महापुरुष प्रभु की इस महत् योजना की पूर्ति के लिए स्वयं को समर्पित कर मोहनिद्रा में निमग्न जीवों को जागृत करते हुए इस धराधाम पर विचरण करते रहते हैं। ऐसे परमहंस अमलात्मा महात्मा स्वयं परमात्मा के प्रतिरूप तथा ब्रह्मविद्या की साकार मूर्ति होते हैं। करुणावशात् वे अपने स्पर्शमात्र से ही किसी भी अबोध मानव को प्रबोध प्रदान कर उसे प्रभु की कृपा का भाजन बना देते हैं और उसे निमित्त बना अपने दिव्य संकल्प से ही लोकोपकारी कार्यों का सम्पादन करते हैं। यह कल्पना लोक की बात नहीं स्वयं के जीवन की यथार्थ कहानी है।

प्रस्तुत पुस्तक में ईशोपनिषद् की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए जो कुछ भी व्यक्त किया गया है, वह एक ऐसे प्रत्यक्षधर्मा परमर्षि परमहंस अवधूत यतीश्वर के कृपाप्रसाद से प्राप्त

हुए दिव्यज्ञान का कुछ अंशमात्र है। परमाराध्य श्री सद्गुरुदेव के कृपाकटाक्ष के प्रकाश में ब्रह्मविद्या के मूलस्रोत वैदिक वाङ्मय, श्रीमद्भगवद्गीता तथा परमर्षियों द्वारा प्रणीत दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन, मनन, चिन्तन से जिस यथार्थ बोध की अनुभूति एवं उपलब्धि हुई है, उसी तत्त्वबोध को जनमानस तक पहुँचाने के लिए यह प्रयत्न है। सम्भव है इस पुस्तक में सुधी पाठकों को ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में अब तक की प्रचलित मान्यताओं एवं विचारों से सर्वथा भिन्न एक मौलिक विचारधारा पढ़ने को प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में मुझे केवल इतना ही कहना है कि इसमें कुछ भी नया नहीं है, जो कुछ भी कहा गया है, वह केवल विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में आर्ष परम्परा से प्राप्त ब्रह्मविद्या विज्ञान की प्रस्तुति मात्र है।

इस युग के परमर्षि गोस्वामी तुलसीदास जी ने विवेक-वैराग्य युक्त परमेश्वर की पराभक्ति को ही श्रुति सिद्धान्त के रूप में जीवों के कल्याणार्थ एकमात्र उपाय घोषित किया है। श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत में भी इसी सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। गम्भीरता से आद्योपान्त मनन करने पर ज्ञात होता है कि ईशोपनिषद् का भी यही पावन सन्देश है। विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति के साथ उस परमतत्त्व का ज्ञान, उसका ध्यान और प्रार्थना वा भक्ति द्वारा उसकी अनुकम्पा से आवरण का निवारण एवं 'सः' और 'अहं' की अभिन्नानुभूति ही जीव का परम प्राप्तव्य है। सार रूप से ब्रह्मविद्या विज्ञान में इसी सिद्धान्त का ऊहापोह के साथ युक्तियुक्त विवेचन किया गया है। जहाँ कहीं भी परम श्रद्धास्पद पूर्वाचार्यों के विचारों एवं मन्तव्यों से असहमति व्यक्त करते हुए विनम्रतापूर्वक स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उन प्रसंगों पर सुधीजनों को पूर्वाग्रह रहित हो विचार कर सत्यासत्य का स्वयं निर्णय करना है।

प्रस्तुत पुस्तक 1979 के कैनेडा प्रवासकाल में वहाँ के जिज्ञासुओं के आग्रह पर ईशोपनिषद् पर दिये गये प्रवचनों का संकलन है। इस उपनिषद् के अठारह मन्त्रों की व्याख्या व्यास समास रूप से तीस प्रवचनों में पूर्ण हुई थी, जिसे मेरे प्रिय शिष्य डॉ० शिवदत्त तालवाड़ तथा डॉ० विजय सोलंकी ने टेपरिकार्ड कर लिया था। 1980 में मेरी प्रिय शिष्या विश्वभारती परिव्राजिका जब वहाँ गई और उन प्रवचनों को टेप द्वारा सुना तो उनके हृदय में उसे लिपिबद्ध कर पुस्तक रूप में प्रकाशित करा जनमानस तक पहुँचाने की अभिलाषा जागृत हुई। बड़े ही परिश्रम से सम्पूर्ण प्रवचनों को उन्होंने लिपिबद्ध किया। कुल संकलित सामग्री लगभग छः सौ पृष्ठों में तैयार हुई और उसे प्रकाशित करने की योजना लेकर वे भारत आईं। दैवयोग कहिये, उसी बीच उनका स्वास्थ्य खराब हो गया, जिससे वह कार्य शीघ्र सम्पन्न न हो सका। स्वास्थ्य लाभ के पश्चात् उसने पुनः उसे प्रकाशित करने की अभिलाषा व्यक्त की, किन्तु सम्पूर्ण सामग्री को एक साथ प्रकाशित करना शक्य न हो सका। यह निश्चय किया गया कि इसे दो भागों में छपाया जाये। प्रथम भाग में शान्तिमंत्र सहित आठ मंत्रों की व्याख्या को सुव्यवस्थित कर दिव्यालोक की सम्पादिका मेरी प्रिय शिष्या ब्रह्मऋता को दे दिया गया, जिसे 1984 में सुन्दर पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर उसने जिज्ञासु पाठकों तक पहुँचाया। पाठकों ने बड़े ही समादर के साथ पुस्तक का स्वागत किया और उसके दूसरे भाग को प्रकाशित करने के लिए सम्पादिका को आग्रहपूर्ण पत्र लिखते रहे। प्रथम भाग के प्रकाशन का आर्थिक व्यय मेरे प्रिय शिष्य सीता राम रत्न (इंग्लैंड निवासी) ने अपने पूज्य माता-पिता की पावन स्मृति में वहन किया।

ईश्वर इच्छा ही समझिये, पाठकों के बार-२ आग्रहपूर्ण पत्र प्राप्त होने पर भी तथा प्रिय विश्वभारती एवं ब्रह्मऋता के बार-२ उसके प्रकाशन की आग्रहयुक्त अभिलाषा व्यक्त

करने पर भी, अब तक वह कार्य पूरा न किया जा सका। इस विलम्ब के लिए न अर्थाभाव को ही और न समयाभाव को ही कारण कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन दिनों मैं देश तथा विदेशों में प्रचार कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहा। इसके साथ कई अन्य आवश्यक कार्य भी होते रहे, फिर भी इसे ईश्वर इच्छा ही कह सकते हैं, जिससे द्वितीय भाग की शेष सामग्री को देखने और व्यवस्थित करने के लिए अब तक समय न निकल सका। इस बार अप्रेल 1988 में इंग्लैंड आते समय विश्वभारती उस सामग्री को अपने साथ ले आई और मुझ से भी आग्रह किया कि समय निकाल कर इसे सुव्यवस्थित कर अवश्य ही जिज्ञासु पाठकों की मांग को पूर्ण किया जाना चाहिए। प्रभु प्रेरणा से जून 1988 में इंग्लैंड तथा हालैण्ड प्रवासकाल में ईशोपनिषद् के शेष ग्यारह मंत्रों की सामग्री को पुनः देखने और व्यवस्थित करने का कार्य सम्पन्न हुआ। पूर्णतया स्वस्थ न होने पर भी विश्वभारती ने कठिन परिश्रम से सम्पूर्ण सामग्री को पुनः लिपिबद्ध करने का कार्य सम्पन्न किया। इसके लिए उसे कभी-२ तीन बजे रात्रि तक बैठकर लिखना पड़ता था। बीच-२ में मेरी प्रिय शिष्या दिव्यभारती भी इस लेखन कार्य में सहयोग देती रही। इस प्रकार पुस्तक की प्रेस-कॉपी तैयार कर प्रिय ब्रह्मऋता को प्रकाशनार्थ भेज दी गई।

इस भाग के प्रकाशन के लिए भी मेरे प्रिय शिष्य सीताराम सत्या रत्न (इंग्लैंड निवासी) डॉ० राजेन्द्र शान्ता दूबे, डॉ० वैंकट रमण लक्ष्मी राव तथा श्याम सुन्दर सहगल(कैनेडा निवासी)ने आर्थिक व्यवस्था की है। करुणानिधान भगवान् श्रीराम से मेरी प्रतिपल की प्रार्थना है कि इन सभी प्रियजनों को सपरिवार अपनी कृपा का भाजन बनावें और धर्मपथ पर चलने की सामर्थ्य प्रदान करें जिससे वे स्वयं के जीवन को कृतकृत्य कर सकें।

ईशोपनिषद् की सम्पूर्ण व्याख्या को दो भागों में प्रकाशित कर सुधीजनों तक पहुँचाने की प्रिय भारती की चिर अभिलाषा पूर्ण हुई। करुणानिधान भगवान् श्रीराम की करुणा सदैव उसे पूर्ण स्वस्थता, योग्यता एवं सामर्थ्य प्रदान करे, जिससे वह इसी प्रकार प्रचार कार्य के साथ प्रभु कार्य की पूर्ति में निरत रहें, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना है। पुस्तक को सुन्दर रूप में संपादित एवं प्रकाशित कर पाठकों तक पहुँचाने का कार्य मेरी प्रिय शिष्या ब्रह्मऋता ने सम्पन्न किया है। कार्य बहुत दुरूह था। इस वर्ष हम सभी के विदेश आ जाने से आश्रम की पूर्ण व्यवस्था में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी, इतने अल्प समय में इसे पुस्तक का रूप प्रदान करने में उसका कठोर परिश्रम, कर्मठता, लग्न एवं दृढ़ संकल्प ही कारण रहा है। सदैव की भाँति उसके इस कार्य में मेरे प्रिय शिष्य भगवानशरण बंसल ने भी पूर्ण सहयोग दिया है। इसके लिए मैं प्रिय ब्रह्मऋता तथा प्रिय भगवानशरण को नित्य की अनन्त शुभाशीष देता हूँ और प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने कृपाप्रसाद से उन्हें योग्यता एवं सामर्थ्य प्रदान कर अपने कार्य की पूर्ति में सतत निरत रखें।

विश्वास है कि जिज्ञासुजन इस पुस्तक के अध्ययन, मनन, चिन्तन द्वारा ब्रह्मविद्या के यथार्थ स्वरूप को आत्मसात कर स्वयं के जीवन को सार्थक बनाने की दिशा में प्रवृत्त होंगे। जीवों के परम सुहृद कारुणीक प्रभु अपनी अहैतुकी अनुकम्पा से जिज्ञासुजनों को यथार्थ दृष्टि प्रदान कर स्वयं से अभिन्नानुभूति का भाजन बनावें। इसी शुभकामना के साथ—

सभी का शुभेच्छु,
विश्वात्मा बावरा

प्रवास स्थान :—
6031, SIERRA BRAVO, IRVINE
California 92715
U.S.A.

वि० सम्वत् २०४५
भाद्रपद पूर्णिमा
25 सितम्बर 1988

पाठकों के प्रति

ब्रह्मविद्या विज्ञान के द्वितीय भाग को सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता हो रही है। इसके प्रथम भाग के प्रकाशित होने के पश्चात् से ही ब्रह्मविद्या के निगूढ़तम आशयों को जानने और समझने की जिज्ञासा से प्रेरित हो पाठकों द्वारा इसके द्वितीय भाग की माँग से युक्त अनेकों पत्र प्राप्त होते रहे, किन्तु किसी कारणवश उसे पूर्ण करने में मैं असमर्थ रही। इस बार मई मास में परमपूज्य आचार्यश्री के विदेश जाते समय उनसे आग्रह किया कि इस पुस्तक के द्वितीय भाग को भी व्यवस्थित कर प्रकाशित करना है। पूज्या विश्वभारती दीदी ने भी इस सम्बन्ध में विशेष रूप से निवेदन किया और यू०के० जाने पर एक मास के कठोर परिश्रम से शेष सामग्री को संशोधित एवं व्यवस्थित किया गया। यह पुस्तक कैनेडा के जिज्ञासुजनों के आग्रह पर पूज्य आचार्यश्री द्वारा ईशोपनिषद् पर दिये गये प्रवचनों का संग्रह है। प्रवचनों को टेप से उतार कर तथा उसे आचार्यश्री से संशोधित एवं व्यवस्थित कर प्रैसकापी तैयार करने का श्रमसाध्य कार्य विश्वभारती दीदी ने किया है। पाण्डुलिपि तैयार करने में पूज्या दिव्यभारती दीदी ने भी बहुत सहयोग किया। उस सामग्री को यथाशक्य शुद्ध, सुव्यवस्थित एवं सुन्दर रूप में पाठकों तक पहुँचाने का दायित्व मुझे सौंपा गया है। इस कार्य में मैं कहाँ तक सफल हो पाई हूँ, इसका निर्णय तो सुधी पाठक ही करेंगे।

दोनों भागों में प्रकाशित ब्रह्मविद्या विज्ञान पूज्य आचार्यश्री के दार्शनिक विचारों की विस्तृत व्याख्या है। आर्ष परम्परा से प्राप्त, निजि अनुसन्धान एवं अनुभव के प्रकाश में उपलब्ध तत्त्वज्ञान तथा पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा तात्त्विक विश्लेषण की दिशा में अब तक के उपलब्ध हुए विज्ञान, दोनों के समन्वय से जिस यथार्थ बोध का उदय हुआ है, वह समन्वित रूप से सुधी पाठकों को इस पुस्तक में पढ़ने को उपलब्ध होगा।

ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदी काण्व शाखा का चालीसवां अध्याय है। वैदिक साहित्य से सुपरिचित सुधीजन यह भली-भाँति जानते हैं कि समाधिभाषा में अभिव्यक्त वैदिक मन्त्रों के निगूढ़तम आशय को समझना और समझाना कितना कठिन कार्य है ! यह सामान्य प्रज्ञा की पहुँच से सर्वथा परे की बात है। साधन, स्वाध्याय में निरत, सद्गुरु कृपाप्रसाद प्राप्त किया हुआ पात्र कोई सौभाग्यशाली ही वेद-मंत्रों की यथार्थता को समझ पाता है और वही जनसामान्य को समझाने में सक्षम भी हो पाता है। वैदिक मन्त्रों के यथार्थ अभिप्राय को समझाने के लिए ही प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में ही उसके ऋषि, छन्द और देवता का उल्लेख प्राप्त होता है। ये तीनों ही मन्त्रगत गंभीरतम रहस्यों के उद्घाटन में हेतु होते हैं। इनके विषय में यहाँ विस्तृत जानकारी देना शक्य नहीं किन्तु इतना बता देना असंगत न होगा कि इनमें मन्त्र का देवता ही यथार्थतः उसका विवेच्य विषय हुआ करता है। इस ईशोपनिषद् में प्रयुक्त हुए अठारह मन्त्रों में से एक मन्त्र का देवता ब्रह्म है और शेष सत्रह मन्त्रों का देवता आत्मा है। पूर्व के व्याख्याकारों ने इस तथ्य पर विशेष ध्यान न देते हुए प्रायः स्वमत समर्थन की दृष्टि से स्वरुचिनुसार ही अर्थ किये हैं, किन्तु पूज्य आचार्यश्री ने इनकी व्याख्या करते हुए मन्त्रगत भावों की अभिव्यक्ति एवं अर्थ के प्रकाश में इस पर विशेष ध्यान दिया है। यही कारण है कि कई स्थानों पर पूर्व के आचार्यों की मान्यताओं से विलग एवं विलक्षण विचार यहाँ पाठकों को पढ़ने को प्राप्त होंगे। प्रत्येक मन्त्रगत भाव को युक्ति और तर्क के द्वारा वैज्ञानिक दृष्टि से समझाया गया है। विश्वास है आग्रह एवं आक्षेप की संकुचित सिमाओं से परे हो सुधीजन इसके स्वाध्याय से स्वयं को लाभान्वित कर हमारे श्रम को सार्थक बनावेंगे।

यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि किसी भी सत्संकल्प को साकार रूप प्रदान करने में अर्थ की आवश्यकता अनिवार्य हुआ करती है। अर्थ के अभाव में इस लोकोपकारी ज्ञानयज्ञ को सम्पन्न करने में श्रम सहित हमारा संकल्प अधूरा ही रह जाता, यदि इसकी पूर्ति के लिए पूज्य आचार्यश्री के प्रिय शिष्य श्रीसीतारामसत्या रत्न (यू०के० निवासी), डॉ० राजेन्द्र शान्ता दूबे, डॉ० वैंकटरमणलक्ष्मी राओ एवं श्री श्याम सुन्दर सहगल (कैनेडा निवासी) अपनी सात्त्विक आय से इसके प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग न दिये होते। अतः इस ज्ञानयज्ञ की पूर्ति में इन सभी सहयोगदाताओं को अनन्त शुभकामनाओं सहित प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि वे अपनी करुणा से इन्हें धर्मकार्य संपादनार्थ सामर्थ्य प्रदान कर सात्त्विक सुख का भाजन बनावें।

सदा की भाँति, इस ग्रन्थ के प्रकाशन में भी भैया भगवानशरण बन्सल (शाहदरा, दिल्ली निवासी) द्वारा दिये गये सहयोग की मैं अत्यन्त आभारी हूँ। इसके साथ ही श्री जयप्रकाश शर्मा, श्री चन्द्र प्रकाश गुप्त एवं प्रिय नीलमणि को भी धन्यवाद देती हूँ, जिनके सहयोग से इस पुस्तक का शोधकार्य पूर्ण हुआ। अंत में मेरा आभार है अनन्त ज्ञानपुंज, परम प्रकाशस्वरूप अपने परम पूज्य गुरुदेव के प्रति, जिनकी अकारण कृपा एवं आशीर्वाद से यह दुरूह कार्य सम्पन्न हो पाया है। भविष्य में भी आप द्वारा विरचित ज्ञानयज्ञ के संपादन में इस अकिंचन के प्रत्येक श्वास का समर्पण होता रहे, इसी आशीर्वाद की अभीप्सु—

आपकी अपनी,
ब्रह्मव्रता,
सम्पादिका 'दिव्यालोक'

कार्तिक पूर्णिमा
23/11/88
विजय चौक फाइल ३७/जे

इस ग्रन्थ के प्रकाशन सहयोगी

यू० के० निवासी श्री सीताराम सत्यावती रत्न

कैनेडा निवासी डा० वैंकट रमण लक्ष्मीराओ

कैनेडा निवासी श्री राजिन्द्र शान्ता दूबे

ॐ

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रंतन्न आ सुव।।
ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् की करुणा सदैव आप सभी के लिए कल्याण का सृजन करे, इस शुभ कामना के साथ आप सभी को शाश्वत सनातन धर्म के मूलाधार ब्रह्मविद्या के प्रमुख ग्रन्थ ईशोपनिषद् की व्याख्या सुनाई जा रही है। यह उपनिषद् यजुर्वेद का ४०वां अध्याय है। वेद के मंत्र भाग से सम्बन्धित होने से इसका वेदान्त नाम सर्वथा सार्थक है। आप लोग इस उपनिषद् पर दार्शनिक विचार सुन रहे हैं, अब तक इसके सात मंत्रों की व्याख्या संक्षिप्त रूप में की जा चुकी है। यह बात पहले बताई जा चुकी है कि मनुष्य जब परमात्मा की ओर, सत्य की ओर प्रवृत्त होता है तो सब से पहले उसे स्वीकार करना पड़ता है, मानना पड़ता है, मान करके ही जानने की दिशा में प्रवृत्त होता है। यहाँ पर एक बात और समझ लेनी है कि हमारे जीवन में जब संसार से कहीं भी शान्ति, सुख ओर स्थिरता प्राप्त करने की गुंजाईश नहीं रह जाती और कहीं से भी हमें भय तथा दुःख से बचने के लिए कोई उपाय दिखाई नहीं देता, उस अवस्था में हम देखे हुए नहीं बल्कि सुने हुए प्रभु में आस्था करते हैं। जब तक देखा हुआ, जाना हुआ जगत् हमारे लिये सुख और सुविधा का साधन बना रहता है तब तक सुने हुए प्रभु में आस्था नहीं होती। इसे आप फिर समझ लीजिए, जगत् आपका देखा हुआ है, जाना हुआ है, दृश्य है। जब तक देखे हुए, जाने हुए जगत् से आप को रस मिलता है तब तक सुने हुए प्रभु में आपकी आस्था नहीं हो सकती, सुने हुए प्रभु के लिए आप प्रयत्नशील नहीं हो सकते क्योंकि जो देखा हुआ, जाना हुआ जगत् है, उसमें एक प्रकार का आकर्षण है और वह आकर्षण आपको अपनी

तरफ बार-२ खींचता है क्योंकि वह देखा हुआ, जाना हुआ ही नहीं भोगा हुआ भी है। तो भुक्त भोग की स्मृति मनुष्य को बार-२ जगत् की ओर ले जाती है और अप्राप्त की आकांक्षा यानि जो आपको प्राप्त नहीं है लेकिन जिसके विषय में सुना है कि दूसरों को प्राप्त है, उसकी आकांक्षा आपको पुनः जगत् में प्रवृत्त होने के लिए बाध्य कर देती है। तो स्मृति और आकांक्षा, ये दोनों आपके लिए जगत् में आकर्षण उत्पन्न करते हैं। स्मृति भोगे हुए भोग की, आकांक्षा सुने हुए भोग की। जब इन दोनों से आप दौड़कर हार जाते हैं और कहीं से भी आपको शान्ति और सुख का दर्शन नहीं होता, जब आप इनसे तंग आ जाते हैं, तब आप सुने हुए प्रभु को प्राप्त करने के लिए, उन तक पहुँचने के लिए चेष्टा करते हैं। जब तक व्यक्ति भुक्त भोग की स्मृति और अप्राप्त भोग की आकांक्षा से मुक्त नहीं होता तब तक वह प्रभु को जानने के लिए, प्राप्त करने के लिए,प्रवृत्त नहीं होता और शास्त्र का यह संदेश ह ,कि ऐसे व्यक्ति के लिए प्रभु के विषय में संदेश देना भी व्यर्थ है, अनावश्यक है,क्योंकि ऐसी स्थिति में वह उस का पात्र नहीं होता। यदि उसको ईश्वर के विषय में कुछ बताते भी हैं तो उसका परिणाम आपके सामने नहीं के बराबर होगा क्योंकि ऐसा व्यक्ति किसी अवस्था में, ऐसी दिशा में, ऐसे कार्य में प्रवृत्त होने के लिए तैयार नहीं हो सकता,जिससे उसे वर्तमान में देखे हुए, जाने हुए भोगों की उपलब्धि की संभावना न हो। इसलिए दर्शनशास्त्र में बताया गया जबतलक व्यक्ति में मुमुक्षा की जागृति न हो, षड-संपत्ति सम्पन्न न हो तबतलक उस को ब्रह्म तत्त्व का उपदेश देना व्यर्थ है। हाँ, यदि कोई व्यक्ति संसार के दुःख से भयभीत है और उसे संसार में रक्षा का कोई आधार दिखाई नहीं दे रहा, ऐसी अवस्था में यदि वह आपके पास आता है तो आप उसे अज्ञात ईश्वर की तरफ प्रेरित कर सकते हैं। उससे लाभ यह होगा कि वह भय से मुक्त होने के लिए ही सही ईश्वर की ओर चलेगा क्योंकि उस समय उसे एक आश्रय की जरूरत होती है। दूसरी बात यह है कि जिस आकांक्षा को व्यक्ति पूर्ण करना चाहता है और उसके लिए उसके पास साधन नहीं, इसलिए वह सहायता की आवश्यकता महसूस करता है, ऐसी स्थिति में यदि कोई उसे ईश्वर की तरफ प्रेरित करे, तब भी वह उधर लग सकता है। दोनों अवस्थाओं में वह ईश्वर की तरफ जाने के लिए तैयार हो जाता है। पहली अवस्था को आर्त्त एवं दूसरी को अर्थार्थी अवस्था कहते हैं। पहला भय से मुक्त होने के लिए दूसरा अर्थ की प्राप्ति के लिए, दोनों परमात्मा की तरफ बढ़ने की कोशिश कर सकते हैं। अधिकांश, अधिकांश का अभिप्राय आपको ९९ प्रतिशत ऐसे लोग मिलेंगे जो आर्त्त और अर्थार्थी की अवस्था में ही परमात्मा की ओर बढ़ने की कोशिश करते हैं। उनके जीवन का लक्ष्य परमात्मा नहीं है, उनके जीवन का लक्ष्य मोक्ष

नहीं है, उनके जीवन का लक्ष्य तत्त्व बोध नहीं है, उनके जीवन का लक्ष्य है विपत्ति से मुक्त होना या जो नहीं प्राप्त होने वाली वस्तु है, उसको प्राप्त करना। ये दो अवस्थाएं हैं।

गीता में भगवान् कहते हैं कि इस में कोई आपत्ति की बात नहीं, यदि कोई व्यक्ति दु:ख से दु:खी होकर मेरी शरण में आना चाहता है तब भी वह मेरा भक्त है। यदि एक व्यक्ति अर्थ प्राप्ति की चाह ले कर मेरी शरण आता है तब भी वह मेरा प्रिय है क्योंकि वह किसी भी अवस्था में मुझे तो चाहता है। यह जो प्रभु का संदेश है कि आर्त्त और अर्थार्थी भी मेरे भक्त हैं, मेरे को प्रिय हैं, इसलिए यदि वे भयनिवृत्ति या सम्पत्ति प्राप्ति के लिए मेरी आराधना करते हैं, तो करने दो, कभी तो उनकी बुद्धि में धीरे-२ सात्त्विक भावना जागृत होगी, कभी तो वे यथार्थ की तरफ आगे बढ़ेंगे। यदि कोई स्वार्थ के लिए परमात्मा की तरफ जाता है,तब भी कोई घटिया बात नहीं, वह भी ठीक है, धीरे-२ उन्नत अवस्था में जाकर परमार्थ तत्त्व को भी जानने की कोशिश करेगा। ऐसी स्थिति कभी तो आएगी क्योंकि जब विश्वास है तो वह भी स्थिति आ सकती है। कभी तो उसको यह पता चलेगा कि मैं परमात्मा से क्या मूल्यहीन चीज़ों की माँग करता हूँ। मैं तो इससे परमात्मा को भी प्राप्त कर सकता हूँ। परमात्मा जब प्राप्त हो जाएगा तो उसके लिए सारे पद-पदार्थ कोई अर्थ नहीं रखते। इसलिए यदि कोई भयभीत है, किसी प्रकार से दु:खित है, पीड़ित है तब भी उसको परमात्मा की तरफ लगाया जा सकता है लेकिन यदि किसी व्यक्ति को किसी भी प्रकार से अन्य साधनों से सुख मिलने की संभावना है तो वह कभी परमात्मा की तरफ नहीं लग सकता, सुने हुए परमात्मा में विश्वास नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति को ही क्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति कह सकते हैं, वह जीवन की दूसरी अवस्था में है। वह मूढ़ तो नहीं है लेकिन मूढ़ से एक स्तर ऊपर होते हुए भी उसमें प्रभु की तरफ किसी भी प्रकार जाने की चाह नहीं है, उसे आशा है संसार के हितैषी, संसार के मित्र, संसार के रिश्तेदार, संसार की वस्तुऐं, उसे किसी अवस्था में सुख ज़रूर देंगी, इस आशा ने उसे जकड़ रखा है। भगवान् ने गीता के सातवें अध्याय में बताया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:।।

(गीता 7/3)

"हज़ारों मनुष्यों में कोई एक होता है जो मेरी तरफ चलता है। चलने वाले हज़ारों में कोई एक होता है जो मेरे लिए प्रयत्न करता है और प्रयत्न करने वाले हज़ारों में कोई एक सिद्धि को प्राप्त करता है और सिद्धि प्राप्त करने वाले हज़ारों

में कोई एक मुझे प्राप्त करता है।" अतः हम जब यह विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि प्रभु की प्राप्ति की दिशा में चलना कोई सरल काम नहीं, बहुत ही मुश्किल है। सब्जी के बाज़ार में, कपड़े के बाज़ार में, मिठाई के बाज़ार में आपको भीड़ तो मिल सकती है लेकिन हीरों के बाज़ार में भीड़ नहीं मिलेगी। जंगल में जाएँ आपको हज़ारों प्रकार के जानवर मिलेंगे लेकिन शेर हज़ारों की संख्या में नहीं मिलेंगे, वे तो कहीं कुछ संख्या में ही मिलेंगे। इसी प्रकार ही जो कुछ भी महान् है, श्रेष्ठ है, उसकी उपलब्धि बहुत कम होती है। परमात्मा की तरफ चलने वाले भी बहुत कम होते हैं। यह तो अनेकों जन्मों के सुकृत जिसके साथ हों, अनेकों जन्मों का पुण्य जिसके साथ हो, वही परमात्मा की तरफ कदम बढ़ाता है–

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई।।

भगवान् ने गीता में बताया कि बहुत कम लोग हैं जो इस मार्ग पर चलने के लिए तैयार होते हैं लेकिन जो चलते हैं, उनके लिए कहा है–

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। (गीता 2/40)

जो इस राह पर चलते हैं उनके अभिक्रम अर्थात् प्रारम्भ का नाश नहीं होता। यदि वे 10 कदम चले हैं तो उनका रास्ता 10 कदम तय हो गया है। यह बात याद रखें जिस समय आप परमात्मा की तरफ वा धर्म के रास्ते पर चलते हैं और 10 कदम चलकर किसी कारणवश रुक जाते हैं तो वह 10 कदम का रास्ता आपका तय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि वह व्यर्थ नहीं जाता। यदि पुनः उस रास्ते पर चलना हुआ तो जहाँ आप रुके थे, वहीं से यात्रा प्रारम्भ होगी। एक जन्म में यदि आपने अपने जीवन की यात्रा पूरी नहीं की तो इसमें घबराने की बात नहीं, जितना शेष रह गया है, वह अगले जन्म में पूर्ण हो जाएगा। प्रभु का कथन है–

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। (गीता 7/19)

"अनेक जन्मों के प्रयत्न के पश्चात् ज्ञान की उपलब्धि होती है और फिर वह ज्ञानी मेरी शरण को प्राप्त करता है।" अनेक जन्मों के पश्चात् ही ज्ञानी को यह स्थिति प्राप्त होती है कि वह पूर्ण रूप से प्रभु को समर्पित हो कर सर्वरूप में प्रभु का ही साक्षात्कार करे-"**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।**" सर्वरूप में वासुदेव ही विराजित हैं, ऐसी अनुभूति प्राप्त करने वाला महात्मा इस सृष्टि में दुर्लभ है। तो मैं आप लोगों को बता रहा था कि इस भागवत् धर्म के मार्ग पर चलने वालों का परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता और न ही धर्मानुष्ठान अपूर्ण रह जाने पर कोई उलटा परिणाम ही होता है। प्रभु का आश्वासन है– "**प्रत्यवायो**

न विद्यते।" जिस प्रकार त्रयीधर्म के अनुष्ठान में किसी प्रकार की त्रुटि हो जाने पर उसका विपरीत परिणाम होता है, भागवत् धर्म के अनुष्ठान में ऐसी संभावना नहीं है। प्रभु का कथन है—"कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" हे अर्जुन! "यह मेरी प्रतिज्ञा तू अच्छी प्रकार से जान ले कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होगा।" इस मार्ग पर चलने वाला किसी व्यवधान विशेष के आने पर रुक तो सकता है किन्तु गिर नहीं सकता, इसीलिए प्रभु कहते हैं—"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" इस धर्म का थोड़ी मात्रा में किया गया अनुष्ठान भी मनुष्य को महान् भय से सदा के लिए बचा लेता है, उसे पतन की ओर नहीं जाने देता किन्तु इस मार्ग पर चलने के लिए बहुत जन्मों के पुण्य का परिणाम ही हेतु होता है और समस्त पुण्यों का मूल है सत्संगति। जितने शुभ-कर्म हैं, जितने सत्कर्म हैं, सबका सार है सत्संगति।

सत्संगति मुद मंगल मूला। सोई फल सिधि सब साधन फूला।।

मनुष्य स्वभावतः न पापात्मा होता है न पुण्यात्मा ही, जैसा संग मिलता है वैसे ही रंग में वह रंग जाता है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो सद्धर्म की साधना में प्रवृत्त होता है और प्रभु कृपा से उसमें प्रगति प्राप्त करता है तो उसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था में वह देखता है कि यह सारा विश्व प्रभु में है, दूसरी स्थिति में वह देखता है कि विश्व के कण-कण में प्रभु व्याप्त हैं और तीसरी स्थिति में वह देखता है कि प्रभु ही सर्वरूप में विराजित हैं। यह तीसरी अवस्था ही साधक का अन्तिम साध्य है। इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक की स्थिति का वर्णन करते हुए श्रुति कहती है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

(ईशा० 7)

जिस अवस्था में साधक ऐसा अनुभव करता है कि परमात्मा ही सम्पूर्ण सृष्ट जगत् के रूप में प्रकट है तो फिर उस अद्वैत की अनुभूति करने वाले साधक के लिए मोह कहाँ और शोक कहाँ? इस मंत्र में विजानतः शब्द यह सूचित करता है कि वह साधक पूर्ण प्रज्ञता को प्राप्त कर आत्मस्थ हो गया है, जिसके लिए गोस्वामी जी ने रामायण में "दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी" के रूप में उल्लेख किया है। वही पूर्ण-प्रज्ञ ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुआ सर्वत्र, सर्वरूप में परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव करता है। यह उच्चतम अवस्था कैसे प्राप्त हो सकती है, इसके क्रमिक विकास की विधि भगवान् ने गीता के अठारहवें अध्याय में बताई है। वहाँ पर पूरी साधना का क्रम श्लोक

51 से 55 तक वर्णित है। यह साधना विशुद्ध बुद्धि से ही की जा सकती है। प्रभु का कथन है "बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो।" विशुद्ध बुद्धि का अभिप्राय है सात्त्विक बुद्धि। बुद्धि तीन प्रकार की होती है—सात्त्विक, राजस और तामस। गीता के 18वें अध्याय में भगवान् ने इसका विवेचन किया है। इनमें तामसिक बुद्धि निकृष्टतम कही गई है, इसी को योगदर्शन में विपर्यय बुद्धि भी कहा है। यही अविद्या एवं अज्ञान का स्वरूप है, इसकी व्याख्या करते हुए भगवान् ने बताया—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।

(गीता 18/32)

तमोगुणी बुद्धि अधर्म को ही धर्म मानती है। सभी पदार्थों में उसके यथार्थ गुण से विपरीत भाव का दर्शन करना ही तमोगुणी बुद्धि का स्वभाव होता है; वह मिथ्याज्ञान को ही उत्पन्न करती है। तामसिक बुद्धि के परिणाम से ही यह विराट विश्व सच्चिदानंद की अभिव्यक्ति होता हुआ भी असत्, अन्धकारमय तथा दुःखमय प्रतीत हो रहा है, अतः यह बुद्धि सर्वथा त्याज्य है। इससे कुछ उन्नत राजसिक बुद्धि है, उसके विषय में भगवान् कहते हैं—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।

(गीता 18/31)

जिसके द्वारा धर्म और अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में संशय बना रहता है, सही निर्णय नहीं हो पाता, वह राजसिक बुद्धि कही जाती है। तामसिक बुद्धि भ्रमात्मिका है और राजसिक बुद्धि संशयात्मिका। ये दोनों ही मनुष्य के लिए शोक और संताप उत्पन्न करने वाली हुआ करती हैं, इसलिए दोनों ही त्याज्य हैं। मनुष्य के विकास में हेतु केवल सात्त्विक बुद्धि ही हुआ करती है, जिसका लक्षण बताते हुए प्रभु कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।

(गीता 18/30)

जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, भय-अभय, बन्धन और मोक्ष, इन सभी के विषय में यथार्थ बोध रखती है, वही सात्त्विक बुद्धि है। बुद्धि ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का आधार होती है। यदि यह कहा जाए कि व्यक्ति वही है जो उसकी बुद्धि है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। तामसिक और राजसिक बुद्धि वाला व्यक्ति कभी भी सत्-धर्म का पथिक नहीं हो सकता, उसके लिए तो

सात्त्विक बुद्धि होना अति आवश्यक है। यहाँ पर एक दूसरा प्रश्न होता है कि सात्त्विक बुद्धि को कैसे प्राप्त किया जाए? उसके उत्तर में श्रुति का कथन है--

आहारशुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां धुविप्रमो क्षः

(छान्दो० 7/26)

यह छान्दोग्य उपनिषद् का वाक्य है। इसमें बताया गया है कि आहार शुद्धि ही सत्त्वशुद्धि में हेतु होती है। सत्त्व माने बुद्धि। जो लोग सात्त्विक बुद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें सात्त्विक आहार ही ग्रहण करना होगा। आजकल कुछ ऐसे योगी वा मार्गदर्शक दुनिया में प्रकट हुए हैं, जिनका कथन है कि आहार शुद्धि आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति का आहार-विहार कैसा ही क्यों न हो, यदि वह उनके बताये हुए रास्ते पर चले तो परम सिद्धि को प्राप्त कर लेगा। मेरे विचार से यह सर्वथा शास्त्र एवं अनुभव विरुद्ध होने से पाखंडपूर्ण बात है, ऐसे तथाकथित योगियों तथा भगवानों से सदैव सावधान रहना चाहिए। वेद का कथन है कि ऐसे पाखंडपूर्ण मार्ग का उपदेश देने वालों, शास्त्र विरुद्ध मार्ग का उपदेश करने वालों के पीछे चलने से वही गति होती है, जो एक अंधे की लाठी पकड़ कर चलने वाले की--

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

(मुण्डक० 1/2/8)

प्रायः लोग अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए ही इस प्रकार का उपदेश देते हैं, इससे उनका स्वार्थ भले सिद्ध होता हो किन्तु परमार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। सद्धर्मपथ पर चलने के लिए सात्त्विक बुद्धि आवश्यक है और सात्त्विक बुद्धि के लिए आहार शुद्ध अति आवश्यक है। यदि आहार शुद्धि नहीं है तो बुद्धि शुद्ध नहीं हो सकती, यह परम सत्य है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी है कि बुद्धिमान होना अलग बात है और सात्त्विक बुद्धि से युक्त होना अलग बात है। ईश्वरीय विधान में मनुष्यमात्र को बुद्धि प्राप्त है लेकिन सभी की बुद्धि सात्त्विक नहीं है। क्या आप लोग समझते हैं कि जो बेईमानी करते हैं, चोरबाजारी करते हैं, ठग्गी करते हैं, धोखा करते हैं, ताला तोड़ते हैं, उनके पास बुद्धि नहीं होती? आप लोगों ने जासूसी की पुस्तकें पढ़ी होंगी, क्या उन गुप्तचरों के पास, क्या जासूसों के पास कम बुद्धि होती है? आजकल जो लोग वैज्ञानिक आविष्कार किए हैं, अणुबम्ब, ऐटमबम, न्यूट्रान बम्ब तक का आविष्कार किये हैं, क्या वे लोग कम बुद्धिमान हैं? बुद्धिमान होना ही सात्त्विक बुद्धि का लक्षण नहीं है। बुद्धिमान होने के लिए आहार शुद्धि की आवश्यकता भी नहीं है। आहार शुद्धि की आवश्यकता केवल उनके लिये है जो प्रज्ञावान होना चाहते हैं, जो सत् धर्म पर चलना चाहते हैं, जो परमात्मा को

प्राप्त कर स्वयं के जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं। यदि लोकहित में स्वयं को लगाना है, प्रभु की आराधना-उपासना में जीवन को सार्थक बनाना है, नित्य सुख एवं शाश्वत शान्ति को प्राप्त करना है तो आहार-विहार की शुद्धि द्वारा सात्त्विक बुद्धि को प्राप्त करना अति आवश्यक है। जिन बुद्धिमानों के विषय में मैं संकेत कर रहा था, उनके पास दुनिया की सारी सुविधायें भले ही उपलब्ध हों किन्तु अन्तर की शान्ति एवं सुख नहीं है और इस प्रकार की बुद्धि से वह प्राप्त भी नहीं हो सकती। हाँ, एक बात और समझ लें, यदि किसी को अन्तर शान्ति एवं नित्य सुख की चाह नहीं है तो उसे आहार-विहार शुद्धि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस जगत् प्रवाह में जैसे अब तक अनेकों जन्म बीते हैं वैसे और भी बीत जायेंगे। दुनिया में जैसे अब तक जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, संयोग-वियोग जन्य अनेकों प्रकार के दुःख सहते रहे हैं, वैसे फिर भी सह लेंगे। यह तो निश्चित है कि दुनिया में और कोई दूसरा नया दुःख पैदा होने वाला नहीं है। जिन दुःखों को अनेकों बार सहते आये हैं, आगे भी वही सहन करने होंगे। सबसे बड़ा दुःख तो गर्भवास का होता है और यह जीव अनन्त काल से उसे सहता आ रहा है। शास्त्रकारों का कथन है कि गर्भाशय के दुःख से व्यथित होकर जीव प्रभु को पुकारता है और उनसे प्रतिज्ञा करता है कि इस बार यदि इस मल-मूत्र से भरे दुःखालय से हमें बाहर निकाल दो तो फिर कभी उन कर्मों को नहीं करूँगा जिससे पुनः इसमें आना पड़े। श्रीमद्भागवत् में इस घटना का बड़े ही विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ जीव प्रतिज्ञा करता है कि प्रभो! अब संसार में जाकर आपका भजन ही करूँगा, जिससे सदैव के लिए इस जन्म-मृत्यु से छुटकारा मिल जाए। प्रभु की कृपा से ही उस मलमूत्रयुक्त गर्भाशय से छुटकारा मिलता है और बाहर आने पर अपनी सारी प्रतिज्ञा भूलकर यह जीव पुनः उसी धंधे में लग जाता है जो जन्म-मृत्यु के प्रवाह का कारण बनता है, कितनी विचित्र बात है! मैंने एक पद में इस शरीर और इसके रचनाक्रम पर लिखा है, जिसका शीर्षक है—"अब जाग बावरे होश में आ निशि बीत गई क्या सोना है?" पूरा पद इस प्रकार है—

जिस तन को अपना मान रहा, उसकी तो कथा निराली है ।
है ऊपर सुन्दर दीख रहा, तर सार हीन सब खाली है।।
नारी नर का संयोग हुआ, दो बूंद मिला गन्दा पानी ।
यह खेल विचित्र देख प्रभु की, होती है मन में हैरानी।।
कुछ समय बुदबुदा रूप रहा, फिर तन की रचना शुरु हुई ।
माता के उदर मध्य प्यारे, मलमूत्र रक्त से जुरी हुई।।
बन गया पूतला क्रम-क्रम से, स्थूल शरीर तमोगुण का ।
इन्द्रियाँ रजोगुण से प्रगटी, मन बुद्धि चित्तादि सतो गुण का।।

वासना मूल आधार हुई, नारी या नर के विग्रह की ।
कर्मों से बँधा जीवता में, आ पड़ा यतन न निग्रह की।।
दु:ख सहे अनेकों गर्भ माहिं, कहने में आता जो ना है ।
अब जाग बावरे होश में आ, निशि बीत गई क्या सोना है।।

माँ उदर मध्य हो दु:खित अमित, सांसति निशि वासर सहता था ।
नीचे सर मल में गढ़ा हुआ, ऊपर पग उलटा रहता था।।
दुर्दशा देखि तब कृपा सिन्धु, करिकृपा ज्ञान तुमको दीना ।
सुधि भई अनेकों जन्मों की, प्रभु से कर जोर विनय कीना।।
हे नाथ! छोड़ दो बन्धन से, मैं शरण तुम्हारी आया हूँ ।
हे मायापति माया वश हो, निज करनी का फल पाया हूँ।।
था भूल गया मैं अपने को, अब ज्ञान हुआ फिर ध्यान हुआ ।
जग में जा भजन करूँ प्रभु का, ऐसा मन में अरमान हुआ।।
खुल गई जेर फिर बाहर आ, शिशु रूप रुदन करते बीता ।
कौमार किशोर अवस्था भी, अपराध कुण्ड भरते बीता।।
फिर पड़ा कर्म के धन्धों में, मल से मल को क्या धोना है ।
अब जाग बावरे होश में आ, निशि बीत गई क्या सोना है।।

माता के गर्भ में बच्चे को जितना दु:ख होता है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। गर्भ के बालक में चौथे महीने में चेतना का जागरण हो जाता है और तब से लेकर जन्मपर्यन्त तक वह गर्भ की यातना का अनुभव करता रहता है। माँ के द्वारा खाये गये कड़वे, तीखे, उष्ण आदि पदार्थों से गर्भगत शिशु के कोमल शरीर को कितनी पीड़ा होती है, इसका अनुमान कौन लगा सकता है? किन्तु गर्भाशय से बाहर आते ही वह सब कुछ भूल जाता है और धीरे-२ वही संसार चक्र की वृद्धि करने वाली क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाता है। यद्यपि संसार में उसके लिए किसी नये दु:ख का निर्माण नहीं होता, सभी दु:ख उसके सहे हुए होते हैं, फिर भी बार-बार उसी यातना को प्राप्त होने के लिए प्रवृत्त होना, कौन सी समझदारी है? विवेक तो यह है कि वह अपने जन्म के प्रयोजन को समझे और अपने अन्तर की चाह को पूर्ण करने के लिए उस सच्चिदानंद की उपासना-आराधना में निरत हो जाए, जिसको प्राप्त कर पुन: इस संसार प्रवाह में पड़ना नहीं होता।

मैं आपलोगों को बता रहा था कि जिसे अभी संसार में सुख पाने की आशा बनी है, जिस की संसार में रसानुभूति की संभावना जीवित है, उस के लिए

शास्त्र और सत्संग कुछ अर्थ नहीं रखते। मेरी राय है कि उसे इस रास्ते पर चलने के लिए प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए किन्तु जो संसार से हार चुका है, निराश हो चुका है, जिसकी संसार से सुख की संभावनाएँ मिट गई हैं, ऐसे लोगों को पहले अपने आहार-विहार को शुद्ध करके सात्त्विक बुद्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह बात सदैव याद रखनी है कि अन्न ही मन का कारण है। अशुद्ध अन्न से शुद्ध मन की प्राप्ति नहीं हो सकती और मलिन मन के द्वारा न तो शास्त्र ही समझ में आ सकेगा और न सत्संग ही। एक बात और याद रखनी है कि यदि ऊँचाई पर चढ़ना हो तो प्रयत्न करना पड़ता है, धैर्य, उत्साह एवं परिश्रम की आवश्यकता होती है किन्तु यदि किसी गड्ढे में कूदना हो तो उसमें प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, परिणाम दोनों का भिन्न-२ होता है। यह सभी को ज्ञात है कि जिन महापुरुषों का आज हम स्मरण करते हैं, जिनका आदर्शमय जीवन आज हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है, वे सभी दृढ़ आस्था, धैर्य एवं अमित उत्साह के साथ अपने जीवन में घोर परिश्रमशील रहे हैं। कोई अपने माता-पिता वा अपने पूर्वजों की जयन्ती नहीं मनाता; बहुतों को तो अपनी तीसरी पीढ़ी वालों का नाम भी स्मरण नहीं रहता किन्तु हम सहस्रों वर्ष पूर्व में हुए महापुरुषों और महात्माओं की आज भी जयन्ती मनाते हैं। इससे आप लोग समझ गये होंगे कि जो परमात्मा के लिए, धर्म के लिए, लोकहित के लिए, राष्ट्र के लिए स्वयं के जीवन को समर्पित कर महान् कठिनाइयों का सामना करते हुए भी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए, अपने लक्ष्य की पूर्ति में सदैव निरत रहे हैं, वे ही आज मानव समाज के लिए आदर्श हैं। उन महापुरुषों ने अपने सदाचारमय जीवन से, शुद्ध आहार-विहारमय जीवन से, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, बन्धन और मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली सात्त्विक बुद्धि से युक्त हो आदर्श की प्रतिष्ठा की है। अमृत के अभिलाषी साधकों को उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए। बुद्धि की सात्त्विकता में केवल भोजन ही कारण नहीं होता, बाह्य एवं अन्तः इन्द्रियों से जो कुछ भी हम ग्रहण करते हैं, इन सभी का प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है, इसीलिये श्रुति ने आहार शुद्धि से ही सत्त्व शुद्धि की बात कही है। जो कुछ भी हम बाहर से ग्रहण करते हैं, आहरण करते हैं, वह आहार है। इसलिए बड़ी सावधानी से ज्ञानेन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से ग्रहण करने योग्य तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिए। गीता में भगवान् ने बताया है कि जीव के दुःखों के समूल नाश के लिए योग ही एक मात्र उपाय है और वह योग युक्त आहार-विहार से ही साधा जा सकता है। जिस प्रकार से बाहर से ग्रहण करने वाले पदार्थों को आहार शब्द से संबोधित

किया गया है, उसी प्रकार से जो अन्दर से हम समाज को देते हैं उसे विहार कहा जाता है। इससे आप लोग समझ गये होंगे कि यदि हमारा आहार शुद्ध नहीं है तो विहार कभी शुद्ध नहीं होगा, और इसके साथ ही जीवन में होने वाली अन्य क्रियाएँ जैसे कर्मों में उचित चेष्टा, सोना और जागना आदि भी व्यस्थित नहीं हो सकते और अव्यवस्थित जीवन कभी भी लोक और परलोक की सिद्धि में सहायक नहीं बन सकता। भागवत धर्म का यह सिद्धान्त है कि यदि आप जीवन को शुद्ध एवं सात्त्विक बनाना चाहते हैं तो उसमें होने वाली समस्त क्रियाओं को उस परमेश्वर के साथ जोड़ दें, जो आप का परम हितैषी तथा प्राप्तव्य है। भगवान् ने स्वयं आश्वासन देते हुए गीता में कहा है–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
(गीता 9/27)

"जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, दान देते हो, तप वा साधन करते हो, वे सब मुझे समर्पित होकर करो।" भगव्रत् समर्पित बुद्धि से किया गया आहार-विहार सात्त्विक बुद्धि की उपलब्धि में सहायक होता है। यदि आप अपना आहार-विहार एकाएक सात्त्विक नहीं बना सकते, घबराने की बात नहीं। जो कुछ भी आहार ग्रहण करते हो वा जो कुछ भी व्यवहार करते हो, उसे परमात्मा के साथ जोड़ दो, परमात्मा के नाते करो। एक दिन स्वयं आप अपने दूषित आहार-विहार से घृणा करने लगेंगे और सोचेंगे कि जो कुछ आप ग्रहण कर रहे हैं और जो कुछ आप दे रहे हैं, वह प्रभु को अर्पण करने योग्य नहीं है। आप स्वयं ही उसे त्याग देंगे। भगवान् का कथन है कि वह वैश्वानर रूप में स्वयं उदर में विराजमान होकर हमारे खाए हुए सभी आहार को पचाते हैं और उसे रस रूप में परिणत कर हमारे शरीर को पुष्ट करते हैं। भला, आप सोचिए जिन दूषित पदार्थों को आप अपने माने हुए बाहर के भगवान् को अर्पित नहीं कर सकते भला, उन्हीं पदार्थों को अपने अन्दर में विराजित भगवान् को कैसे अर्पित करेंगे? बाहर का भगवान् तो आप का माना हुआ, आप की कल्पना का है और अन्दर तो वह स्वयं विराजित है, उसमें कल्पना की आवश्यकता नहीं। तो भगवत् अर्पण करके ग्रहण किया हुआ आहार बुद्धि को विकसित बना देगा और विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त करके ही निश्चित धारणा शक्ति का उदय होगा, जिसके द्वारा आप अपनी इन्द्रियों को संयमित कर परमार्थ की दिशा में आगे बढ़ पाएँगे और धीरे-२ आन्तरिक विकास करते हुए आप उस अवस्था को प्राप्त कर लेंगे, जिसको प्राप्त करने के पश्चात् जीवन में मोह और शोक नहीं होता। गीता के चौथे अध्याय में ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए प्रभु ने कहा है–

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञान के सदृश इस लोक में पवित्र करने वाला दूसरा कोई साधन नहीं है-

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का ज्ञान में ही अन्त होता है, इसलिए द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है, उसी का अनुष्ठान करना चाहिए। अर्जुन को उत्सुकता होती है यह जानने की कि यदि विविध प्रयत्नों द्वारा उस परम तत्त्व की प्राप्ति हो गई तो उस से क्या लाभ होगा? प्रभु कहते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।

(गीता 4/35)

उस ज्ञान को प्राप्त करके पुनः तू इस प्रकार के मोह को प्राप्त नहीं होगा। जिस मोह के प्रभाव से तुम अपने कुलधर्म, जातिधर्म के नाश की संभावना से संतप्त हो रहे हो, जिस मोह के प्रभाव से तुम अपने कुटुम्बियों के नाश के भय से भयभीत हो स्वधर्म से विमुख हो रहे हो, जिस मोह के कारण तुम क्षात्रधर्म का त्याग कर भिक्षाजीवी बनना चाहते हो, जिस मोह ने तुम्हारे शौर्य को शिथिल कर दिया है, उत्साह को नष्ट कर दिया है, स्वधर्म से भ्रष्ट कर दिया है, जिस मोह के परिणाम से तुम धनुषबाण फेंक कर दीन-हीन असहाय की भाँति कातर हो बिलख रहे हो, वह मोह फिर तुम्हारे जीवन में नहीं आएगा। वह मोह फिर कभी भी इस दुर्दशा में तुम्हें नहीं ला सकेगा। ज्ञान के प्रकाश में ही मोह रूपी अंधकार का नाश होता है। इतना ही नहीं, उस ज्ञान के प्रभाव से तुम पहले सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी आत्मा में, फिर मुझ परमात्मा में देख सकोगे। ज्ञान ही मोह नाश का एकमात्र साधन है। गोस्वामी जी कहते हैं—

होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुबीर चरन अनुरागा।।

विवेक होने पर मोह और भ्रम, ये दोनों भग जाते हैं, फिर उस परमेश्वर में अनन्य अनुराग की प्राप्ति होती है, लेकिन वह विवेक वा ज्ञान कैसे प्राप्त होगा, इसके लिए गोस्वामी जी ने दो साधन बताए हैं। पहला **"गुरु बिनु होई कि ग्यान।"** दूसरा **"ग्यान कि होई बिराग बिनु।"** संसार के विषयों से विरक्ति और सद्गुरु में अनुरक्ति ही ज्ञान प्राप्ति का उत्तम साधन है और ये दोनों साथ ही होने चाहिए। संसार से यदि विरक्ति नहीं है तो गुरु प्रदत्त ज्ञान कभी स्थायी नहीं हो सकेगा। जैसे एक वैद्य रोगी को औषधि के साथ परहेज भी बताता है, बिना परहेज के औषधि पूर्णतया काम नहीं कर पाती, उसी प्रकार से सद्गुरु रूपी वैद्य जब विवेक रूपी औषधि प्रदान करता है तो उसके साथ वह संसार के विषयों से वैराग्य रूपी परहेज भी बताता है। यदि कोई औषधि का सेवन करता है और परहेज नहीं करता तो वह उचित रूप से स्वास्थ्य लाभ नहीं कर पाता। यहाँ पर एक बात और ध्यान रखने की है कि संसार के पदार्थों के त्याग की बात

नहीं बल्कि उनसे राग रहित होने की सीख दी गई है क्योंकि संसार के पदार्थ नहीं पदार्थ में राग ही अनर्थ का कारण होता है, वही विवेक प्राप्ति में मुख्य बाधक तत्त्व है। यहाँ पर एक आशंका हो सकती है कि यदि संसार में राग न हो तो व्यवहार कैसे चल सकता है? इस के उत्तर में तो आप लोग मेरा जीवन देख सकते हैं। मैं दो माह के लिए इस अपार्टमेंट में रह रहा हूँ और यहाँ पर जितनी सुविधाएँ हैं, सभी का उपयोग कर रहा हूँ। जो सुविधाएँ आप लोग अपने घरों में पाते हैं, क्या उससे यहाँ पर कोई कमी है? नहीं, लेकिन जब पहली तारीख को इसे छोड़ कर जाऊँगा तो न तो मुझे कोई उसका दुःख ही होने वाला है और न ही किसी प्रकार की परेशानी ही। यह सभी जानते हैं कि जो जहाँ रह रहा है, उसे उस स्थान को एक दिन अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा। यदि वह अपनी प्रसन्नता से नहीं छोड़ता तो महाकाल उससे जबर्दस्ती छुड़वा लेगा। जब संसार के सभी पद-पदार्थों को छोड़ना ही है, तो उसमें आसक्त होने से क्या लाभ? राग वा आसक्ति केवल दुःख के सिवा और क्या दे सकेगी? इसलिए अनासक्त रहते हुए संसार के पदार्थों का प्रयोग बंधन में हेतु नहीं बनता बल्कि ज्ञान प्राप्ति में सहायक ही हुआ करता है। बंधन का कारण पदार्थ नहीं, पदार्थ में आसक्ति है। महात्मा सुखदेव को तत्त्वबोध का उपदेश देते हुए महाराज जनक ने यही समझाया था। यदि पदार्थ स्वयं में बन्धनकारक हैं तो दंड, कमंडल वा कोपीन भी बन्धन में हेतु बन जाएगी और यदि पदार्थ बन्धनकारक नहीं है तो बड़े-से-बड़े साम्राज्य का संचालन करता हुआ भी व्यक्ति मुक्त रह सकता है। पदार्थ में बन्धन का गुण नहीं, उसमें राग ही बन्धन के कारण बनता है। तो राग रहित होकर संसार का व्यवहार चलाते हुए गुरुकृपा द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान का अभ्यास करें। पदार्थों के सर्वथा त्याग की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि यह सारा सृष्ट जगत् पंचमहाभूतों का ही परिणाम है। हिमालय की ऊँची चोटी से लेकर दुनिया के बड़े से बड़े आबादी वाले शहर में, चाहे जहाँ भी आप चले जाइए, आपको पाँच तत्त्वों के सिवा और कुछ नहीं मिलने का। यदि आपकी दृष्टि तत्त्व पर है तो कहीं भी बन्धन नहीं है, विश्व के समस्त पदार्थों का प्रयोग करते हुए भी राग रहित हुआ जा सकता है, इसमें संदेह नहीं। ब्रह्मविद्या की यही सीख है।

यह याद रहे कि जीवन में सुख-दुःख का कारण केवल राग ही हुआ करता है, पदार्थ नहीं। सृष्टि के पदार्थों में दुःख की कल्पना करना सर्वथा अवैदिक दृष्टिकोण है। वैदिक सिद्धान्त में इस विश्व को आनन्द से ही उद्भूत बताया गया है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। (तैत्तिरीय० 3/6)

आनंद ही इस सृष्टि का मूल स्रोत है। वेद कहता है जिस प्रकार समुद्र से उत्पन्न होने वाली तरंगें जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती, ऐसे ही उस सच्चिदानंद रूपी ब्रह्म से उत्पन्न होने वाली तरंगें इस विराट् विश्व के रूप में प्रतीत होती हैं। जैसे महासागर से असंख्य बुदबुदे उठते हैं, उसी पर स्थित रहते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस सच्चिदानंद ब्रह्म से ही अनन्त ब्रह्माण्ड रूपी बुदबुदे उठते हैं, उसी पर स्थित रहते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं, यही सनातन वैदिक सिद्धान्त है। जगत् सच्चिदानंद की अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं है। यहाँ जो कुछ भी असत्, अचित् और दुःखमय प्रतीत हो रहा है वह अज्ञान एवं अविद्या का ही परिणाम है। जैसे एक अबोध बालक समुद्र की यथार्थता को न जान केवल तरंगों की ही सत्ता समझ उनके प्रकट होने पर प्रसन्न और लय होने पर दुःखी हुआ करता है, वही अवस्था अविद्याग्रसित अज्ञानी जीव की हुआ करती है। विश्व को दुःखमय तथा हेय दृष्टि से देखने की शिक्षा वैदिक साहित्य की देन नहीं, यह तो बौद्ध साहित्य की देन है। वैदिक विज्ञान तो मानव को यह सिखाता है कि वह शुद्ध सात्त्विक आहार-विहार द्वारा शुद्ध सात्त्विक बुद्धि को प्राप्त कर, उसके दिव्य प्रकाश में उपलब्ध पदार्थों का समुचित प्रयोग करते हुए परमतत्त्व का बोध प्राप्त कर स्वयं के जीवन को सार्थक बनावे। इसलिए वैदिक धर्म में चार प्राप्तव्य बताए गए हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्मानुसार अर्थ और काम का सेवन करने वाला व्यक्ति स्वयमेव मोक्ष का अधिकारी हो जाता है किन्तु यह साधना विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ही सम्पन्न की जा सकती है। इसलिए मैं आपको बता रहा था कि विशुद्ध बुद्धि का अवलम्बन ले आप सभी स्वधर्म का पालन करते हुए इस जीवन की श्रेष्ठतम स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं, जहाँ पहुँच कर मोह और शोक से सदा के लिए छुटकारा हो जायेगा।

यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि वैदिक धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें अर्थ और काम भी मनुष्य के लिए सेवनीय बताया गया है क्योंकि बिना अर्थ के जीवन यात्रा पूरी नहीं की जा सकती और बिना काम के आगे उन अव्यक्त आत्माओं को मानव शरीर में व्यक्त होने का अवसर प्रदान नहीं किया जा सकता। वैदिक गुरु अपने शिष्यों को गुरुकुल से विदा करते समय यह आदेश देता है–"प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।" सन्तान परम्परा को उच्छेद नहीं करना और यह परम्परा काम सेवन के अभाव में चलाई ही नहीं जा सकती, इसलिए गुरु आदेश देता है कि तुम अपने योग्य सद्धर्मचारिणी पत्नी का वरण कर वंश परम्परा को बनाए रखो। हमारे यहाँ पत्नी संग्रह की प्रक्रिया बहुत ही उत्तम रीति से समझाई गई है। उच्चकुल की

शुभ लक्षणों वाली, उत्तम संस्कारों में पली हुई सुयोग्य कन्या के संग्रह का ही विधान बताया गया है। नारी को अर्द्धांगिनी तथा धर्मपत्नी शब्द से सम्बोधित किया जाता है। अर्द्धांगिनी होने से वह नित्य जीवन संगिनी है और धर्मपत्नी होने से वह धर्म की रक्षिका है। इस सम्बन्ध में सदैव सावधान रहना चाहिए कि वासना के व्यामोह में फँसा कर पत्नी कहीं पतन के रास्ते पर तो नहीं ले जा रही? यह नियम केवल पुरुष के लिए ही नहीं बल्कि स्त्री के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। कई बार यह देखा गया है कि धर्मनिष्ठ देवियों को उनके पति अपनी अज्ञानता एवं उच्छृंखलतावश गलत रास्ते पर चलने के लिए मजबूर कर देते हैं ओर कई बार माडर्न सोसायटी में सम्मान पाने की दुराशा से देवियाँ अपने धर्मनिष्ठ पतियों को पतन की राह पर ढकेल देती हैं। ऐसी कई घटनाएँ मेरे सामने आई हैं। प्राय: कर विदेशों में रहने वाले भारतीय केवल सोसायटी में मूव करने की भ्रान्ति में स्वयं को पतन के गर्त में ढकेल देते हैं।

एक दिन की बात, एक देवी मेरे पास आई और वह बड़ी दु:खी थी। मेरे से कहने लगी, स्वामी जी! मैं आपसे अकेले में बात करना चाहती हूँ। मेरे पूछने पर उसने बताया कि मैं अपने पति के व्यवहार से अत्यंत दु:खी हूँ। उसके पति की मेरे प्रति बहुत ही श्रद्धा थी, इसलिए वह समझती थी कि मेरी बात वह मान लेगा। मैंने उससे पूछा कि दुनिया के प्रत्येक सुख-सुविधा के साधन तुम्हें प्राप्त हैं, एक सम्पन्न परिवार की तू गृहणी है, तुम्हारा पति भी सुयोग्य और सज्जन है, अपने घर की तुम रानी हो, भला, किस बात का तुम्हें दु:ख है ? उसने कहा कि दुनिया की सभी सुविधाएं मुझे प्राप्त हैं, इसमें सन्देह नहीं। मेरे पतिदेव भी मुझे आदर और प्यार देते हैं फिर भी मैं दु:खी हूँ और मेरे इस दु:ख का जो कारण है, उसे आप दूर कर सकते हैं। मैंने पूछा कि वह कारण क्या है? कहा, मेरे पतिदेव को शराब पीने की आदत पड़ गई है और अब मेरे बच्चे बड़े हो रहे हैं, उन्हें देख कर यही आदत बच्चों में भी आएगी और आप जानते हैं कि शराब के कारण कई घर बरबाद हो गए हैं। इतना ही नहीं, शराब के प्रभाव से धर्म-कर्म ही नहीं स्वास्थ्य भी नष्ट हो जाता है। मुझे डर है कि कहीं उनको देखकर मेरे बच्चे भी शराब पीने लगेंगे तो सब कुछ बरबाद हो जाएगा। उसकी बात सुनकर मैं सोचने लगा क्योंकि उसका पति मेरा एक श्रद्धावान शिष्य था। मैंने उसे तुरन्त बुलाया और पूछा, यह देवी जी जो कह रही हैं वह सत्य है? उसने कहा-जी हां। किन्तु इसका कारण कौन है, इससे यह भी आप पूछ लीजिए। जब उसकी स्त्री से मैंने कारण पूछा तो उसने मौन होकर सिर नीचे कर लिया। उस लड़के ने बताया, स्वामी जी ! अब आप मेरी

पूरी कहानी सुन लीजिए। जब मेरी शादी हुई उससे पहले मैं शुद्ध शाकाहारी था, शराब तो दूर की बात, मैं सिगरेट तक भी नहीं छूता था। जब यह ब्याह कर आई तो मेरे घर के वातावरण और मेरे व्यवहार को देखकर इन्हें सब कुछ पुराने जमाने की बात लगी। इन्होंने एक दिन मेरे से कहा, आप ज़रा एक दिन सिगरेट मुँह में रख कर मेरे साथ फोटो खिंचवाइए। यद्यपि यह मेरे लिए एक अजीब सी बात थी, क्योंकि उससे पहले मैंने कभी सिगरेट नहीं छुआ था, किन्तु मैंने इनकी रुचि रखने के लिए सिगरेट खरीदा और चित्र खिचवाया, अब धीरे-धीरे सिगरेट की आदत पड़ गई। एक दिन इन्होंने कहा कि हाई फेमिली के लोग सभी क्लबों में जाते हैं और एक आप हैं जो अभी दकियानूसी विचारधारा में पड़े हुए हैं। घर में बैठे-बैठे मेरा दिल नहीं लगता, आप भी किसी क्लब के मैम्बर बन जाइए और मुझे साथ लेकर वहाँ चला कीजिए। मैंने इन्हें बताया कि मेरे माता-पिता क्लब जाने की आज्ञा नहीं देते और न ही मैं उस वातावरण में बैठ ही सकता हूँ क्योंकि वहाँ प्राय: शराब और जुआ ही मनोरंजन का साधन हुआ करता है, जिससे हमें सख्त नफरत है। किन्तु इनके बार-२ कहने पर इनकी रुचि रखने के लिए मैं भी क्लब का मैंबर बन गया और वहां जाने लग गया और उसके लिए मुझे अपने मां-बाप से भी झूठ बोलना पड़ा। मुझे याद है, पहले दिन ही क्लब में जब मेरे सामने वाइन रखी गई, मैंने उसे अस्वीकार कर दिया और गुस्से में वहां से लौट आया किन्तु यह रात भर मुझे कोसती रही और कहा कि तुम्हें सोसायटी में मूव करना नहीं आता। यदि तुम ज़रा सा एक घूंट ले लेते तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता, तुम्हारे इस व्यवहार से मुझे अन्य स्त्रियों के सामने लज्जित होना पड़ा। मैंने इन्हें बहुत समझाया कि शराब न पीकर मैने कोई बुराई नहीं की, इसमें तुम्हें लज्जित होने वाली कोई बात नहीं थी, किन्तु इन्होंने एक भी न सुनी। दूसरे रविवार को मुझे फिर यह साथ ले गईं, केवल इनकी प्रसन्नता के लिए मुझे न चाहते हुए भी पीना पड़ा। अब धीरे-धीरे मेरी आदत बन गई है। मैं शराब और सिगरेट दोनों पीता हूँ और अब इस स्थिति में पहुँच गया हूँ कि मेरे लिए इन दोनों का छोड़ना असम्भव सा लग रहा है। अब बच्चे बड़े हो रहे हैं, सिगरेट मैं बच्चों से मंगवाता हूँ, यह कहती है कि बच्चों से न मंगवाया करो, उनको बुरी आदत पड़ जाएगी। मैं पूछता हूँ कि आखिर मैं भी तो किसी का बच्चा था? मेरे मां-बाप भी यही चाहते थे कि मुझे बुरी आदत न पड़े किन्तु इन्होंने अपनी सोसाइटी मेनटेन करने के लिए मुझे ज़हर पीने की आदत डलवा दी। अब जानता हूँ कि मैं ज़हर पी रहा हूँ और वही ज़हर बच्चों में भी फैल रहा है तो यह क्यों रो रही है? इतना कहते हुए उसका गला भर आया।

मैं सारी कहानी सुन कर स्तब्ध रह गया। मैंने उस देवी से पूछा, भला, तुम्हें यह रोग कहां से लगा? उसने रोते हुए कहा कि गुरु जी! मैं बचपन से ही कानवैंट स्कूल में पढ़ी हूँ, उनके होस्टल में रही हूँ, इंग्लिश वातावरण में रहने से हमें वहीं के संस्कार पड़े थे और वैसे ही मेरी कल्पनाएँ हुआ करती थी। कालेज की पढ़ाई पूरी करते ही मेरी शादी हो गई और उसी कल्पना को लेकर मैं इस घर में आई, उस समय मुझे इसके परिणाम का कुछ भी पता नहीं था। इनके माता-पिता धार्मिक थे, ये स्वयं धार्मिक संस्कारों में पले थे, इस घर में आ करके ही हमें भारतीय संस्कारों का पता चला। सही जिन्दगी जीने का एहसास हुआ। मैंने अपने धर्मनिष्ठ सास-ससुर के जीवन को देखा है, उससे बहुत कुछ सीखा है। अब मुझे अपने किए पर ही घोर पश्चाताप है, इन्हें पुनः सही रास्ते पर लाने के लिए मुझे कोई उपाय नहीं दीखता, इसीलिए मैं आपसे प्रार्थना कर रही हूँ, आपके उपदेश से ही अब इनका जीवन संभल सकता है। मैंने उसके पति को समझाने की बड़ी कोशिश की किन्तु बहुत दिनों से पड़ा हुआ नशे का अभ्यास धीरे-धीरे ही जाता है। मैं आप लोगों को बता रहा था कि इस प्रकार की संस्कारहीन पत्नियों से सदैव सावधान रहना चाहिए। ऐसी स्त्रियाँ धर्मपत्नी नहीं धर्मपुटनी होती हैं और जैसा कि मैंने बताया है बहुत सी ऐसी सात्त्विक परिवार की देवियां भी इन देशों में आकर पतियों के दुराग्रहपूर्ण व्यवहार से मज़बूर होकर बुरी आदतों का शिकार हुई हैं। जिन्होंने भारत में कभी लहसुन और प्याज़ भी नहीं खाया था, वे आज अंडे और मुर्गी के बिना भोजन नहीं करती। मेरे विचार से पति-पत्नी का सम्बन्ध जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए, एक दूसरे की सहायता के लिए ही होता है, यही वैदिक सिद्धान्त की सीख है। वेद इस संसार को मिथ्या वा नरक नहीं मानता, वह इसे प्रभु की विभूति मानता है, इसीलिए धर्मानुसार अर्थ और काम का सेवन करते हुए मोक्ष प्राप्ति का उपदेश देता है।

ब्रह्मविद्या के प्रकाश में जगत्, जीव एवं जगदीश के यथार्थ स्वरूप को जानकर परब्रह्म परमात्मा ही इन त्रिविध रूपों में स्थित है, ऐसा अनुभव करते हुए मोह और शोक से विमुक्त हो नित्यानंद का अनुभव करना ही जीवन का परम लक्ष्य है। उस अवस्था को प्राप्त हुए व्यक्ति की स्थिति का वर्णन करते हुए ही ईशोपनिषद् का यह मंत्र घोषित करता है–

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।। (ईशा० 7)

इस अवस्था को प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु कोई एक दिन में ही शुद्ध सात्त्विक होकर उस स्थिति में नहीं पहुँच

सकता, उसके लिए अध्यास करना होता है। कभी-२ तो प्रयत्न करने पर भी उस अवस्था को प्राप्त करना असम्भव सा लगने लगता है। ऐसी स्थिति में अधीर नहीं होना चाहिए। अपने पुरुषार्थ पर नहीं, प्रभु की करुणा पर विश्वास करो। उस के अनुग्रह से ही उस उच्चतम अवस्था की प्राप्ति सम्भव है। एक संत कहा करते थे "एक बात एकान्त में, सुनिए श्रीभगवान्, जो मोहि तारे कर्म निज तो तेरा क्या एहसान।" हे प्रभो ! मेरी एक प्रार्थना आप ध्यान से सुन लें, यदि मेरे कर्म ही मेरा उद्धार करेंगे तो उसमें तेरा क्या एहसान होगा? तुम्हारी शरण में आने की फिर आवश्यकता ही क्या है? अपने पुरुषार्थ की असमर्थता के कारण ही तो मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। हे शरणागतवत्सल, मेरे कर्मों के बल से नहीं बल्कि अपनी कृपा से मेरा उद्धार कर, मुझे इस भवचक्र से विमुक्त करो। यही यथार्थतः इस अल्पज्ञ जीव के अन्तर की पुकार है, इसी को सुन कर प्रभु द्रवित होते हैं। यदि आप भी इसी प्रकार से प्रभु को पुकारें तो वे स्वयं अपने अनुग्रह से विशुद्ध बुद्धि प्रदान कर अपनी प्राप्ति में सक्षम बना देंगे। यह स्वयं उनकी प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

(गीता 9/22)

'जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करता हुआ सर्वभाव से मेरी उपासना करता है, उसका योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ।' जो नहीं है, उसकी पूर्ति करना योग है और जो है उसकी रक्षा करना क्षेम। संसार में निरत जीव की चित्तवृत्ति को अपनी कृपा से अपने में अनुरक्त करा देना योग है और उस अवस्था से पुनः नीचे न गिरने देना, उसकी रक्षा करना क्षेम है। योगक्षेम का वहन प्रभु स्वयं करते हैं। अनेकों संतों के जीवन इसके उदाहरण हैं। भक्त नरसी महता, तुकाराम, नामदेव, सूरदास और तुलसीदास की प्रभु ने किस प्रकार से संभाल की है, यह सर्वविदित है। यदि मीरा के लिए वे ज़हर को अमृत बना सकते हैं तो हमारे आपके लिए योग-क्षेम की व्यवस्था करने में भला उन्हें क्या कठिनाई है? आवश्यकता है पूर्ण आस्था की, पूर्ण विश्वास की, अनन्य निष्ठा की। एक सज्जन मंदिर में दर्शन करने गये और जूता बाहर निकाल दिया। दिमाग में यह बात बनी हुई थी कि कहीं ऐसा न हो कोई जूता उठा ले जाए? तीर्थों में, मंदिरों में अक्सर जूतों की चोरी हुआ करती है। भगवान् की मूर्ति के सामने खड़े होकर प्रार्थना करने लगे किन्तु ध्यान जूतों में था। एक बार प्रभु की मूर्ति की तरफ देखते और कहते 'त्वमेव माता' फिर ध्यान जूते की तरफ जाता, तो उलट कर पीछे देखते और कहते 'च पिता त्वमेव' फिर मूर्ति की तरफ देखकर कहते

'त्वमेव बंधु' फिर पीछे मुड़कर कहते 'च सखा त्वमेव'। फिर उसी प्रकार से 'त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव' 'त्वमेव सर्वं' और आखीर में जूते की तरफ दृष्टि करते हुए 'मम देव देव'। भला, आप सोचिये इस प्रकार की प्रार्थना से क्या सिद्ध होने वाला है? प्रभु को पुकारो अधीर हो कर अबोध बालक की भाँति। जैसे छोटा बच्चा मलमूत्र से सना हुआ अपवित्र अवस्था में होता हुआ भी अधीर होकर माँ को पुकारता है और ममतामयी माँ उसे उठाकर स्वयं निर्मल बना देती है, उसी प्रकार सर्वभाव से प्रभु के होकर प्रभु को पुकारो, वह तुम्हें स्वयं अपनी करुणा से निर्मल बना देंगे। प्रभु का नाम भक्त-वत्सल है। जैसे गऊ अपने नवजात बच्चे को चाटकर स्वयं निर्मल कर देती है, वैसे ही प्रभु अपने भक्त रूपी वत्स को अपनी करुणा से ही निर्मल बना देते हैं। यह याद रखो जो बच्चा अपनी सफाई करने में स्वयं सक्षम होता है, वह अपवित्र अवस्था में माँ को कभी नहीं पुकारता, उसके लिए शुद्ध होकर ही माता-पिता को प्रणाम करने का विधान है किन्तु अबोध, असमर्थ बालक के लिए ऐसी कोई विधि नहीं है। गोस्वामी जी ने शरणागत भक्त को प्रभु का अबोध बालक ही बताया है। प्रभु स्वयं कहते हैं—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।
जनहि मोर बल निजबल ताहीं। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आहीं।।
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं।।

ज्ञानी प्रभु का ज्येष्ठ पुत्र है और भक्त अबोध शिशु। भक्ति मार्ग का अवलम्बन लेकर आप प्रभु कृपा के जल से स्वयं को निर्मल बना सकते हैं। भक्ति पथ पर चलने वाले साधकों के भी कुछ लक्षण बताये गये हैं, उन्हें भी समझ लें। भक्ति पथ पर चलने वाले का पहला लक्षण है उदारता। दूसरे के दु:ख से दु:खी हो जाना, दूसरे के दु:ख को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो जाना, ये सब उदारता के लक्षण हैं। दूसरा लक्षण है प्रभु का नाम, प्रभु का चरित्र श्रवण कर आनन्दित होना, गद्गद् हो जाना और तीसरा लक्षण है संसार के संग्रह से विरत हो जाना। जीव मात्र के प्रति करुणा, जगत् से विराग और प्रभु में अनुराग, ये भक्ति के तीन मुख्य लक्षण हैं। यह याद रखो, भक्ति भक्त को संकीर्ण नहीं बनाती, वह समस्त जीवों के प्रति आत्मीयता एवं प्रियता का पाठ पढ़ाती है। जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए भक्ति एक श्रेष्ठतम साधन है। गीता का धर्म, उपनिषदों का धर्म यथार्थत: भक्तियोग ही है। वह धर्म नकारात्मक नहीं क्रियात्मक है, नेगेटिव नहीं पोज़िटिव है। कुछ लोग ऐसे कहते हैं कि हम किसी को दु:ख नहीं देते, हानि नहीं पहुँचाते, बुराई नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, फिर हमें अन्य किसी साधन की क्या आवश्यकता है? ईश्वर की आराधना की क्या आवश्यकता है? क्या

हमारे इन कर्मों द्वारा मुक्ति नहीं मिल जाएगी? किन्तु मेरा कहना है कि धर्म का मार्ग इससे बिल्कुल विपरीत है। किसी को दु:ख न देना धर्म नहीं बल्कि सुख पहुँचाना धर्म है, हानि नहीं पहुँचाना धर्म नहीं बल्कि लाभ पहुँचाना धर्म है। उसी प्रकार से सत्य का व्यवहार करना, दूसरे की सहायता करना आदि धर्म है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि धर्म नकारात्मक नहीं क्रियात्मक है। धर्म का अवलम्बन ही मनुष्य के जीवन को पावन बना कर उसमें परम तत्त्व को प्रकाशित करने वाले विवेक को उदय करता है और उस परम विवेक के प्रकाश में ही साधक सर्वत्र, सर्वरूप में परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव करता हुआ सदा के लिए शोक और मोह से विमुक्त हो जाता है। इसी सत्य का उद्घोष करते हुए ईशोपनिषद् का यह सातवाँ मंत्र कहता है—"**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।**" वेद के इस महान् संदेश का मनन करते हुए,उस अवस्था को प्राप्त करने की चेष्टा में निरत रहते हुए,आप सब स्वयं के जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न करें, इसी शुभकामना के साथ आज का यह प्रवचन यहीं विश्राम पाता है।

हरि ॐ तत्सत्
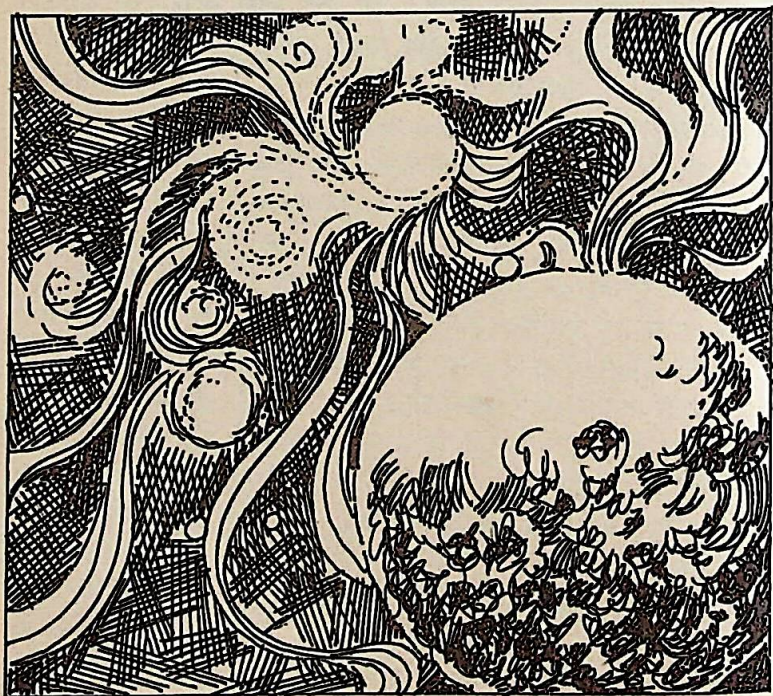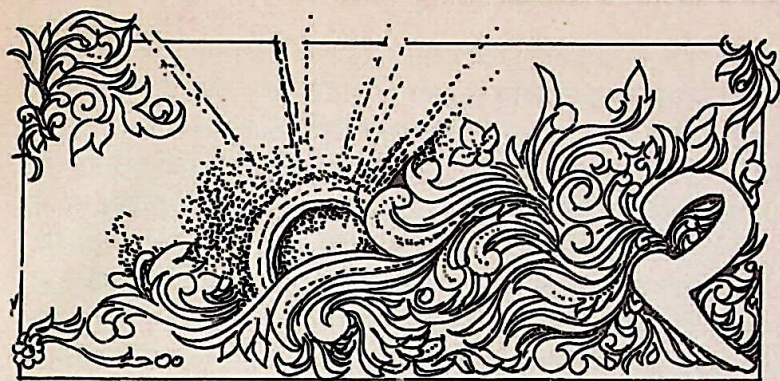
मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोग कई दिनों से ईशोपनिषद् के दार्शनिक सिद्धांतों को सुन रहे हैं। अब तक इसके सात मंत्रों पर विचार दिया जा चुका है। जो आप सुने हैं उसका सार इतना ही है कि साधन करते हुए जो लोग विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में समस्त विकारों से विमुक्त हो आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उनकी दृष्टि में सर्वत्र, सर्वरूप में केवल एक ही अद्वैत सत्य विराजित होता है और वे मोह तथा शोक से विमुक्त हो ब्रह्मानंद में निमग्न रहते हैं। इस उपनिषद् के छठे और सातवें मंत्र में साधक की दो विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। योग की भाषा में इसे सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से वर्णन किया गया है। सम्प्रज्ञात की अवस्था में सब कुछ आत्मा में ही प्रतिष्ठित है, ऐसा अनुभव करता हुआ योगी राग, द्वेष एवं घृणा आदि विकारों से विमुक्त हो जाता है। असम्प्रज्ञात की अवस्था में वह तत्त्ववेत्ता ऐसा अनुभव करता है कि आत्मा ही स्वयं सर्वरूपों में प्रकट है और वह मोह-शोक से विमुक्त हो जाता है। जीवन का यही प्राप्तव्य है, यही अन्तिम लक्ष्य है और उसके लिए यही उत्तम मार्ग है, जिसका निर्देश वेद भगवान् ने किया है। वेद प्रभु की वाणी है, जीव के लिए प्रभु का दिया हुआ उपदेश है। मनुष्य जीवन की सार्थकता मोह तथा उससे उत्पन्न इस शोक से विमुक्त हो सर्वरूप में परमेश्वर की अनुभूति करने में है। जो साधक इस परम सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है, इसका विवेचन उपनिषद् का आठवां मंत्र कर रहा है। वह मंत्र इस प्रकार से है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

(ईशा० 8)

मंत्र का शाब्दिक अर्थ है—वह सर्वत्र व्यापक है, वह देह रहित, स्नायु रहित,

वर्ण रहित, शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी, द्रष्टा, ज्ञाता, मन का स्वामी, सर्वविजयी और स्वयंभू है, उसने योग्य रीति से अनादि काल से अर्थों की व्यवस्था की है। इस मंत्र का दूसरा यह भी अर्थ किया जा सकता है कि वह उस तेजस्वी, देह रहित, अनादि, शारीरिक दोषों से और स्नायु आदि शारीरिक गुणों से रहित, शुद्ध, पापरहित, ऐसे आत्म तत्त्व को चारों ओर से प्राप्त होकर स्थित हो गया है। वह क्रान्तदर्शी, अन्तःकरण का अधिपति, व्यापक और स्वतन्त्र हो गया। उसने शाश्वत काल तक स्थित रहने वाले सम्पूर्ण अर्थों को यथावत् प्राप्त कर लिया है। वैदिक साहित्य शब्द को ब्रह्म मानता है। उसका कथन है कि शब्द ब्रह्म का ज्ञाता परब्रह्म को यथार्थ रूप से जान पाता है। वेदवाक्य ब्रह्म वाक्य है, इसके यथार्थ अर्थ को जानने और समझने के लिए केवल लौकिक व्याकरण की दृष्टि से अनुशीलन करना पर्याप्त नहीं। तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने समाधि अवस्था में इन मन्त्रार्थों का अनुभव कर विविध छंदों में उसे वर्णित किया है, इसलिए इन मंत्रों के यथार्थ आशय को समझने के लिए समाधि प्रज्ञा ही पूर्णतया सहायक हो सकती है और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

ईशोपनिषद् के इस आठवें मंत्र की व्याख्या में पूर्व के विद्वानों ने भिन्न-२ रीति से अपने विचार व्यक्त किये हैं। कुछ विद्वानों की राय में यह मंत्र परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या कर रहा है, कुछ विद्वानों ने इसे सृष्टि के मूल तत्त्व की व्याख्या माना है और कुछ विद्वानों की राय में यह मंत्र परमसिद्धि को प्राप्त हुए साधक की उच्चतम अवस्था का अवबोधन करा रहा है। पूर्वापर विचार करने से इस मंत्र के यथार्थ अभिप्राय को समझा जा सकता है। इस मंत्र के प्रारम्भ में प्रयुक्त हुआ 'स' अक्षर किस का अवबोधन कराता है? परमेश्वर का अथवा उस साधक का जिसके सम्बन्ध में छटे और सातवें मंत्र में उपदेश किया गया है। यही मुख्य विचारणीय बात है और दूसरी बात यह भी है कि इस मंत्र में कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं,जिनका परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त होना कोई महत्त्व नहीं रखता। जैसे यह कहना कि परमात्मा शरीर रहित, स्नायुरहित, पापरहित, शुद्ध, क्रान्तदर्शी, मन का स्वामी है, मेरे विचार से कुछ अर्थ नहीं रखता क्योंकि आज दिन तक किसी भी विवेकशील व्यक्ति के मस्तिष्क में यह बात नहीं आई कि वह परमात्मा कायायुक्त है, स्नायुयुक्त है, अशुद्ध है, पापविद्ध है, अज्ञानी है, मन का दास है, पराजित और परतंत्र है। यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि इन सब दोषों से युक्त परमात्मा नहीं, जीवात्मा है। जीवात्मा ही पंचभौतिक शरीर में आसक्त होने से शरीर और उसके विकारों को स्वयं में कल्पित करता हुआ अनेक प्रकार के दोषों और दुःखों का भाजन बना हुआ है। विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में अपनाए गये अभ्यास और वैराग्यमय

साधनों द्वारा जब वह शरीरासक्ति से मुक्त हो जाता है, समाधि अभ्यास के द्वारा स्वयं को पंचकोषों से विरत कर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, उस स्थिति में वह सर्वत्र सर्वरूप में आत्मानुभूति करता हुआ जिस स्वरूप को प्राप्त होता है, यह यजुर्वेद की श्रुति साधक की उस अवस्था का ही अवबोधन करा रही है। यह याद रखना चाहिए कि वैदिक मंत्रों के यथार्थ विषय को ही देवता कह करके सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद के 40वें अध्याय के द्रष्टा ऋषि दीर्घतमा हैं, देवता आत्मा और ब्रह्म है, इसलिए इस मंत्र में आये हुए शुक्रम् शब्द को सृष्टि का कारण पदार्थ मानना और उसकी व्याख्या में ही अन्य शब्दों का प्रयोग समझना, मेरे विचार से उचित नहीं है। यहाँ 'स' अक्षर मोह-शोक विमुक्त सर्वत्र आत्मरूप का दर्शन करने वाले साधक का ही संकेत कर रहा है और बता रहा है कि 'स परिअगात्' वह सर्वभाव से प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह साधक साधना की उच्चतम अवस्था में पहुँच कर सर्वरूप से जिस आत्म-स्थिति को प्राप्त कर लेता है, यह मंत्र उसका वर्णन कर रहा है। वह किस स्थिति को प्राप्त करता है, इस में श्रुति का कथन है-'शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम् अपापविद्धम्।' यह स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त योगी की अवस्था है, जिसके विषय में महर्षि पतंजलि ने कहा है–**"तदाद्रष्टुस्वरूपेऽवस्थानम्।"** उस अवस्था में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। योगदर्शन द्रष्टा के जिस स्वस्वरूप की बात कर रहा है, सर्वप्रथम आप उसे समझ लें, फिर आपको इस मंत्र का अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होगी। शरीर के शिरोभाग में ब्रह्मचक्र की स्थिति है, यौगिक भाषा में उसे ही हृदय कहते हैं। योगशास्त्र में सहस्रदल कमल के नाम से भी इसका वर्णन है। सिर के ऊपर तालु प्रदेश में उपनिषदों में जिसे विवृत्ति मार्ग कहा गया है, उस मार्ग से ही परमात्मा की दिव्य किरण उस ब्रह्मचक्र अथवा चित्त को प्रकाशित करती है। उस परम चैतन्यघन के प्रकाश से प्रकाशित चित्त ही चेतनायुक्त हो बोध, अहं और संकल्प, इन तीनों भावों के उदय होने में हेतु होता है। योगशास्त्र में इन्हें वृत्ति कहकर सम्बोधित किया गया है। चित्त में प्रकट होने वाले उस चेतनांश को ही जीव कहते हैं। बोध, अहं और संकल्प, इन त्रिविध रूपों में उस जीव की ही अभिव्यक्ति होती है, जिसे दार्शनिक भाषा में बुद्धि, अहं और मन कहा जाता है। आगे अहं से ही गुणात्मक एवं द्रव्यात्मक पदार्थों का आविर्भाव होता है, जिनको इन्द्रिय तथा विषय के नाम से जाना जाता है। वह परमात्मांश चेतन चित्त के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त होने से ही अहंजन्य गुणों और द्रव्यों को अपने साथ सम्बन्धित मानने लगता है।

यहाँ पर यह बात भी समझ लेना है कि जिस चित्त में चेतनांश का आविर्भाव

होता है, वह चित्त परमात्मा की त्रिगुणत्मिका प्रकृति का प्रथम परिणाम है। चित्त त्रिगुणात्मक है—सत्, रज, और तम, ये तीनों आद्याशक्ति से उत्पन्न होने वाले गुण हैं। प्रभु ने गीता में इसी का संकेत करते हुए कहा है—"गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।" सतोगुण प्रकाश, रजोगुण क्रिया और तमोगुण स्थिति में हेतु बनता है। सतोगुण से बोधात्मिका वृत्ति का उदय होता है, यही वृत्ति बुद्धि कहलाती है। यह ज्ञानात्मिका वृत्ति है। मैं ज्ञाता हूँ, मैं जानने वाला हूँ आदि भाव इसी बुद्धिवृत्ति से ही उदय होते हैं। ज्ञाता, बोधा, द्रष्टा आदि भाव ही चेतन के अहं भाव हैं, उस अहं से ही आगे संकल्प-विकल्प का उदय होता है। बोधात्मिका वृत्ति को बुद्धि, ज्ञाता, बोधा, द्रष्टा आदि भावों को अहं और उनसे उत्पन्न होने वाले संकल्प-विकल्पमय भावों को मन कहा जाता है। बुद्धि, अहं और मन, ये तीनों एक साथ चेतन के प्रकाश से चित्त में स्फुरित होते हैं। इनका जो यह विभाजन है, वह केवल समझाने के लिए है। चित्त तत्त्व भी यथार्थतः कोई स्थूल पदार्थ नहीं। यहाँ पर हम प्रकृति की जिस अवस्था की चर्चा कर रहे हैं, वह इन पंचमहाभूतों के सूक्ष्मतम कारण रूप पंचतन्मात्राओं का भी आदि कारण है। दूसरे शब्दों में वह आकाश से भी सूक्ष्म, उसका भी आदि कारण तत्त्व है, इसलिए उसे किसी भी प्रकार विभाजित कर पाना संभव नहीं। इसीलिये उपनिषदों में चित्त, बुद्धि, अहं और मन, इन चारों को सत्त्व शब्द से सम्बोधित किया गया है। इंग्लिश में दो शब्द हैं ... सैल्फ और सोल। सैल्फ शब्द का प्रयोग उस परम चैतन्य के अंश के लिए हुआ करता है और सोल शब्द का प्रयोग चित्तयुक्त चेतन के लिए हुआ करता है। हमारे यहाँ उन्हें आत्मा और जीवात्मा, इन दो शब्दों से संबोधित किया जाता है। बुद्धि से उत्पन्न अहं ही मन का जनक है उस अहं से ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और उस अहं से ही पंच तन्मात्राओं का भी आविर्भाव होता है। अहं के सात्त्विक अंश से मन, राजसिक अंश से इन्द्रियाँ और तामसिक अंश से पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं, आगे उन तन्मात्राओं से ही पंचमहाभूतों का आविर्भाव होता है। ये तन्मात्रायें ही विषय रूप से जानी जाती हैं, जिन्हें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध कहते हैं और इन्हीं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का आविर्भाव होता है। ये सभी द्रव्यात्मक तत्त्व हैं। यह बात और स्पष्ट रूप से समझ लें। शब्द कारण है आकाश तत्त्व का, स्पर्श कारण है वायु तत्त्व का, रूप तन्मात्रा कारण है अग्नि का, रस तन्मात्रा कारण है जल का, इसी रूप से गन्ध तन्मात्रा कारण है पृथ्वी तत्त्व का। तन्मात्रा शब्द का अर्थ होता है—तनु माने सूक्ष्म, मात्रा कहते हैं पदार्थ को, यानी

सूक्ष्मतम पदार्थ। यह मात्रा शब्द ही इंग्लिश के मैटर का जनक है। अहं के तमस अंश से तन्मात्राओं और उनसे पंचमहाभूतों का आविर्भाव होता है और उनकी ग्राहक पंचज्ञानेन्द्रियाँ उसी अहं के रजस अंश से उत्पन्न होती हैं। ये दोनों स्थिति और क्रिया स्वभाव वाले हैं किन्तु प्रकाश के अभाव में ये दोनों ही निरर्थक हो जाते हैं। प्रकाश सतोगुण का धर्म है, जिसके अंश से मनस तत्त्व का आविर्भाव होता है। यह मनस तत्त्व यदि ज्ञानेन्द्रियों के साथ हो, तभी यह इन्द्रियाँ पंच तन्मात्राओं तथा उनके कार्यों को ग्रहण कर पाती हैं। यह कैसी विचित्र रचना है प्रभु की! पंचज्ञानेन्द्रियों की सहायता के लिए ही पंचकर्मेन्द्रियों का सृजन हुआ है। जानना और ग्रहण करना, इन दोनों क्रियाओं का संपादन ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों द्वारा ही संभव है। कान, आँख, नाक, जिह्वा और त्वचा, ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ, पाँव, मुख, जननेन्द्रिय एवं मलद्वार, ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पांच विषय और पांचमहाभूत तथा मन, ये 21 अहं की संतानें हैं। इनमें 16 अहं से उत्पन्न होते हैं और पंचमहाभूत अहं के कार्य पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं। अहं स्वयं बुद्धि की संतान है और बुद्धि चित्त की बोधात्मिका शक्ति है। किन्तु सांख्य सिद्धांत में बुद्धि से भिन्न चित्त की स्थिति स्वीकार नहीं की गई है, बुद्धि को अव्यक्त प्रकृति का प्रथम परिणाम माना गया है, इसलिए जहाँ उपनिषदों में चित्त, बुद्धि, अहं और मन, अन्तःकरण चतुष्ट्य के नाम से वर्णित हैं, वहाँ सांख्यदर्शन में बुद्धि, अहं और मन, ये तीन ही अंतःकरण माने गये हैं। इसमें पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रा, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहं और बुद्धि के साथ उसके कारण रूप अव्यक्त प्रकृति को स्वीकार कर प्रकृति के २४ भेदों की व्याख्या की गई है किन्तु उपनिषदों में चित्त सहित प्रकृति के २४ कार्य बताए गए हैं। कारणस्वरूपा प्रकृति उनसे भिन्न है। मेरे विचार से तत्त्वतः इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं। चेतन के संयोग से ही बुद्धि और आगे उसके सारे कार्यों का आविर्भाव होता है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि सृष्टि के ये दो मूल पदार्थ हैं, चेतन और अचेतन जिन्हें दार्शनिक भाषा में पुरुष और प्रकृति शब्द से सम्बोधित किया जाता है। यह सम्पूर्ण विश्व प्रपंच पुरुष और प्रकृति का ही खेल है। इसमें पुरुष सच्चिदानंद स्वरूप द्रष्टा है और प्रकृति अनन्त रूपों में आविर्तिरोभाव को प्राप्त होने वाली दृश्य। चेतन पुरुष के प्रकाश में ही प्रकृति के ये सारे आविर्तिरोभाव रूप कार्य सम्पन्न होते रहते हैं। प्रकृति और उसके विकारों से चेतन सर्वथा अछूता है, परे है। बुद्धि से लेकर स्थूल मृतिका तक ये प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है, उस का ही अवतरण है, लेकिन यह चेतन के प्रकाश के बिना कभी भी सम्पन्न नहीं हो सकता।

यद्यपि चेतन स्वयं में शुद्ध है, प्रकाशस्वरूप है, किन्तु चित्त वा बुद्धि के साथ युक्त होने पर वह उसके समस्त गुण, धर्मों को अपने में स्वीकार कर स्वयं को सीमित और सदोष मानने लगता है, यह ही उसके दुःख और संताप का कारण है। चेतन का चित्त के साथ तादात्म्य होना और उसके धर्मों को स्वयं में स्वीकार करना ही मोह है, यही मोह शोक का जनक होता है। विशुद्ध वुद्धि को प्राप्त हुआ साधक जब स्वयं को उससे भिन्न अनुभव करता है और स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तो वह पुनः शोक और मोह को प्राप्त नहीं होता। सृष्टि की समस्त क्रियाओं के प्रति उसे यथार्थ दृष्टि प्राप्त हो जाती है–"**इन्द्रियाणीइन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।**" इन्द्रियाँ इन्द्रियों के अर्थों में वर्त्त रही हैं, ऐसा समझता हुआ, वह सभी क्रियाकलापों से विरत रहता है।

तत्त्व की दृष्टि से सृष्टि का प्रवाह अनन्त काल से इसी रूप से चला आ रहा है। प्रकृतिजन्य इन्द्रियाँ, प्रकृतिजन्य विषयों में बरत रही हैं, इसमें कहीं कुछ भी चेतन पुरुष के लिए न तो उपकारक है न हानिकारक ही, इसलिए उससे आसक्त हो शोकाकुल होने का प्रश्न ही नहीं होता। इस यथार्थ का अनुभव करने वाला तत्त्ववेत्ता मोह और शोक से विमुक्त हुआ जिस स्थिति को प्राप्त करता है, यह आठवां मंत्र उसी का वर्णन कर रहा है–"**स शुक्रम्, अकायम अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्, पर्यगात्।**" वह तेजोमय प्रकाश स्वरूप, स्थूल, सूक्ष्म और कारण, त्रिविध शरीरों से रहित अव्रणम व्रण आदि शरीरिक दोषों से रहित, स्नायु आदि शरीरिक धर्मों से रहित, शुद्ध, पापविद्ध अवस्था से रहित अर्थात् समस्त दूषित संस्कारों, कर्मपरिणामों से रहित अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यह याद रहे कि श्रुति उस साधक को समस्त प्रकृति तथा तद्जन्य दोषों से रहित चिन्मय स्वरूप को प्राप्त हुआ बता रही है। शुक्रम् शब्द ज्योतिर्मय स्वरूप का अवबोधक है। यही चेतन का अपना स्वरूप है जो कि काया तथा उससे उत्पन्न हुए गुण-दोषों से सर्वथा परे है; साधक उसी स्वस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। अपने स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर समस्त प्राकृतिक क्रियाओं को देखता हुआ आनन्दित होता रहता है। यह प्रकृति प्रवाह उसे किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा पाता। वह आनन्दस्वरूप है, आनन्द से ही उसका आविर्भाव होता है, आनन्द में ही स्थित रहता है और फिर आनंद में ही वह विलीन हो जाता है। निजानंद का अनुभव करने वाला प्रकाशस्वरूप चेतन इस शरीर में रहते हुए भी शरीरगत् गुण-दोषों से, शरीर के धर्मों से सर्वथा परे रहता है। सामान्य स्थिति में जीव इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, संघात-चेतना और धृति, ये जो शरीर के सात विकार हैं और इनके साथ ही काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि जो सूक्ष्म

शरीर के दोष हैं, इन सभी को वह अपने में मानता हुआ इनके परिणामों से भयभीत एवं संतप्त रहता है किन्तु जब वह साधना द्वारा प्राप्त विवेक के प्रकाश में प्रकृति और उसके कार्यों की यथार्थता को जान जाता है, फिर वह स्वयं को शुद्ध, अपापविद्ध अनुभव करता हुआ शोक-संताप से मुक्त हो जाता है।

यह याद रहे कि अशुद्धि और पाप, ये सब त्रिविध शरीरों से ही सम्बन्धित हैं, इसीलिए गीता में प्रभु ने कहा है–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(गीता 18/66)

यहाँ सर्वधर्मान का अभिप्राय चित्तगत धर्मों से है अथवा प्रकृतिजन्य धर्मों से है। संसार में जितने भी धर्म वा कर्त्तव्य हैं, वे सभी स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से ही सम्बन्धित हैं। पाप और पुण्य, ये सब कुछ चित्त से ही सम्बन्धित कार्य हैं। चित्त से परे अपने परम प्रकाशस्वरूप परमेश्वर में पूर्णरूपेण समर्पित हो जाने पर अशुद्धि और पाप-पुण्य आदि मान्यताओं का, स्वीकृतियों का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। चित्त-गत चेतन से ही माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, परिवार, समाज, राष्ट्र आदि से सम्बन्धित कर्त्तव्य जुड़े हुये होते हैं। चित्तातीत अवस्था को प्राप्त होते ही इन समस्त कर्त्तव्यों का कहीं अस्तित्व नहीं रह जाता। इस शरीर से ही नहीं, इस शरीर के पूर्व भी अनेकों शरीर प्राप्त हो चुके हैं और उन शरीरों के भी माता-पिता सगे सम्बन्धी हुए हैं। उन सबके सहयोग से ही विकसित होता हुआ वा उत्थान को प्राप्त होता हुआ यह जीवात्मा इस स्थिति को प्राप्त करने में सक्षम हो सका है। एक शरीर के सम्बन्धियों के प्रति कर्त्तव्य की भावना से भावित हो उसमें आबद्ध हो जाना, उन समस्त सहयोगियों के प्रति क्या अन्याय नहीं है? इसलिए प्रभु कहते हैं कि शरीरासक्तिवश स्वीकार किये हुए समस्त कर्त्तव्यरूप धर्मों का परित्याग कर एक मेरी शरण में आ जा, तू चिन्ता मत कर, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। यथार्थ तो यह है कि संसार से विमुख होते ही, चित्त से विरत होते ही, सम्पूर्ण पापपुण्यमय संस्कार स्वयं ही छूट जाते हैं। पापमुक्त करने का प्रभु द्वारा दिया गया आश्वासन तो केवल जीव को निर्भय बनाने के लिए ही है। प्रभु के निर्देशानुसार जो समस्त धर्मों का त्याग कर चित्तातीत अवस्था को प्राप्त कर लिया है, वह परम शुद्ध एवं अपापविद्ध है। कठोपनिषद् की श्रुति भी उसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहती है–

अशरीरँ शरीरेष्व नवस्थेष्व अवस्थितम्।

महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।
(कठ० 1/2/21)

शरीर में रहते हुए भी जो अशरीरी है, परिवर्तनशील तत्त्वों में भी जो अपरिवर्तनीय है, जो महान, विभु, सर्वव्यापी आत्मा है, वही मैं हूँ, ऐसा जो आत्मस्वरूप को जान गया है, वह धीर पुरुष कभी भी शोक नहीं करता। "**तरति शोकं आत्मवित्।**" वह आत्मवेत्ता समस्त शोकों से तर जाता है। शोक पाप का ही परिणाम हुआ करता है और वह अपापविद्ध है। पाप चित्त का दोष है, वह सर्वथा निर्दोष है, शुद्ध है। संसारगत जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दुःखमय अवस्थायें भौतिक शरीर से ही सम्बन्धित हैं और वह अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम् है और यह सारा अनर्थ प्रकृति वा तमस से ही उत्पन्न होता है किन्तु वह तम से परे प्रकाशस्वरूप है। यजुर्वेद की श्रुति कहती है–"**आदित्यवरणं तमसः परस्तात्।**" वह प्रकृत्यातीत अपने चिदानंदमय आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। उसी का वर्णन यहाँ श्रुति कर रही है–

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण मऽस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।

वैदिक विज्ञान जीव को परमात्मा का पुत्र बताता है। जो गुण-धर्म पिता के होते हैं, वही पुत्र के भी हुआ करते हैं। भगवान् कहते हैं–"**जन्मकर्म च मे दिव्यं।**" "मेरा जन्म और कर्म दोनों दिव्य हैं।" रामतापनी की श्रुति कहती है–

रामस्य नाम रूपश्च लीलाधामपरात्परम्।
एतद् चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानंद विग्रहम्।।

परात्पर प्रभु का नाम, रूप, लीला और धाम, ये चारों नित्य और सच्चिदानंद-स्वरूप हैं। इसी सत्य को उद्‌घाटित करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं–

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।।

हे प्रभो! आपका यह स्वरूप समस्त प्राकृतिक विकारों से रहित, चिदानंदमय है, किन्तु इसे अधिकारीजन ही जान पाते हैं। वे अधिकारी कौन हैं? इसके उत्तर में कहते हैं–

सोई जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।।

आपके इस चिन्मय स्वरूप को वही जान पाता है,जिसे आप जना दें और जो तुम्हें जान जाता है,वह तुम जैसा ही हो जाता है। श्रुति का कथन है–"**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**" ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मवित् ही हो जाता है। गीता में भगवान् कहते हैं–"**निर्दोषंहिसमं ब्रह्म।**" जो प्रकृति और तद्‌जन्य दोषों से

रहित हो गया है, वह ब्रह्म के समान सच्चिदानन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इन सभी उदाहरणों का सारांश केवल इतना ही है कि सर्वत्र, सर्वरूप में परमात्मा को प्रत्यक्ष करने वाला साधक परमात्मभाव को ही प्राप्त हो जाता है– यही तो जीव के जीवन का अन्तिम प्राप्तव्य है। आप सभी गंभीरता से विचार करें, क्या आप शरीर में सीमित रहना, उसके दोषों से युक्त होना, अशुद्ध तथा पापविद्ध होना चाहते हैं? नहीं, कभी भी नहीं। आप के जीवन की चाह वही है जो यथार्थतः आपके परम कारण परम पिता परमेश्वर का यथार्थ स्वरूप है। यह सीमा, यह दोष आदि तो मजबूरी में स्वीकार किये हुए हैं। जिस दिव्यता की चाह है, उसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब चित्तातीत अवस्था की प्राप्ति हो जाए। उसमें अज्ञान के लिए, अंधकार के लिए, अशुद्धि के लिए, पाप-पुण्य के लिए स्थान नहीं रह जाता। चिन्मय स्वरूप को प्राप्त हुआ योगी परमानन्द का भाजन बन जाता है, वह पुनः इस संसार-चक्र में नहीं आता।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उपनिषद् के इस रहस्य को बड़े ही सरल शब्दों में विनय पत्रिका में व्यक्त किया है और साथ ही उन्होंने उस चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की विधि का उल्लेख भी किया है। वे लिखते हैं–

जब द्रवैं दीन दयालु राघव साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये।।
जिनके मिले दुःख-सुख समान, अमानतादिक गुन भये।
मद-मोह लोभ-विषाद-क्रोध सुबोधतें सहजहिं गये।।

दीनदयाल श्रीराघव जब द्रवित होते हैं तभी साधुसंगत की प्राप्ति होती है। इससे यह ज्ञात होता है कि श्रेष्ठ पुरुषों की संगति अपने किसी पुरुषार्थ का परिणाम नहीं प्रभु कृपा का ही परिणाम है। महापुरुषों के संग में रह कर ही व्यक्ति अपने अन्तर्निहित समस्त दोषों से छूट पाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है कि उनके दर्शन, स्पर्श और समागम से समस्त पाप समूह नष्ट हो जाते हैं। उन सत्पुरुषों की सन्निधि मात्र से दुःख-सुख में समान दृष्टि और मान-अपमानादि द्वन्द्वों से विमुक्त हो अमानता, निरहंकारिता, उदारता आदि सद्गुणों की अभिवृद्धि हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप शुद्ध-सात्त्विक बुद्धि में सुबोध का उदय होता है और उसके प्रकाश में मद-मोह, लोभ-विषाद, क्रोध आदि अन्तःकरण के सभी दूषण सहज में ही नष्ट हो जाते हैं। आगे वे कहते हैं–

सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्री रघुवीर-चरन लय लागै।।
देह जनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै।।

साधु संगति का सेवन करने से द्वैत तथा तद्जन्य भय, दोनों ही भाग जाते

हैं। श्रुति का कथन है "द्वितीयात् भयं भवति।" द्वैत से भय उत्पन्न होता है। साधुसंग सेवन से द्वैत का अभाव हो जाता है और द्वैत के अभाव से स्वतः भय की निवृत्ति हो जाती है। निर्भय, निर्द्वन्द्व तथा अद्वैतनिष्ठ साधक के हृदय में ही प्रभु श्रीराम के पावन चरणार्विन्द में अनुरक्ति का उदय होता है। भगवत् चरणानुरागी साधक बड़ी ही सुगमता से शरीर तथा उससे उत्पन्न हुए विकारों का त्याग कर अपने निजस्वरूप में अनुरक्ति प्राप्त कर लेता है। जैसा कि प्रभु ने गीता में कहा है—जो आत्मरत है, आत्मतृप्त है और आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिए कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। उस अवस्था को प्राप्त हुआ साधक आत्मकाम, पूर्णकाम हो जाता है। वह आत्मस्वरूप कैसा है? इसका विवेचन करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं—

अनुराग सो निज रूप जो जग ते विलच्छन देखिये।
संतोष, सम सीतल सदादम देहवंत न लेखिये।।
निरमल, निरामय, एक रस तेहि हरष-सोक न व्यापई।
त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।।

साधक को जिस आत्मस्वरूप की उपलब्धि एवं उसमें अनुरक्ति होती है, वह स्वरूप सर्वथा जगत् से विलक्षण है। इस दृश्य जगत् में जो कुछ भी देखा हुआ वा सुना हुआ पदार्थ है, उनमें से किसी से भी उस आत्मस्वरूप की तुलना नहीं की जा सकती। वह आत्मस्वरूप सर्वत्र, समान, एकरस, तृप्ति रूप, शीतल, नित्य एवं देहरहित है। वह नित्य, एकरस, मल एवं रोग से रहित है। उसे हर्ष और शोक स्पर्श नहीं कर पाते। जिस साधक ने उस आत्मस्वरूप को प्राप्त कर उसमें स्थिति प्राप्त कर ली है, वह तीनों लोकों को पवित्र करने वाला हो गया है। इस छंद में गोस्वामी जी ने जो कुछ भी लिखा है, वह यथार्थतः उनका अनुभूत सत्य है। ईशोपनिषद् के इस आठवें मंत्र में जिन विशेषणों के द्वारा आत्मनिष्ठ साधक का वर्णन किया गया है, गोस्वामी जी के इस छंद में भी उन्हीं का प्रयोग हुआ है। यह अभेद, अद्वैत की अवस्था है, इसको प्राप्त कर ही यह जीवन कृत-कृत्य हो सकता है अन्यथा नहीं। वेद कहता है, वह आत्मस्वरूप अकाय है, अव्रण है, अस्नाविरम् है। गोस्वामी जी ने उसे "**देहवन्त न लेखिये**" निरमल, निरामय, एकरस कह कर इस मंत्र के अभिप्राय को ही अभिव्यक्त किया है। श्रुति ने आत्मस्वरूप में स्थिति का फल मोह, शोक से विमुक्ति बताया है और गोस्वामी जी ने भी—"**तेहि हरष सोक न व्यापई**" कह कर उसी को स्पष्ट किया है। जिसको ऐसी अवस्था प्राप्त हो गई, वह त्रैलोक्य पावन बन गया और श्रुति उसी त्रैलोक्य पावन को शुक्रम् कह कर सम्बोधित कर रही है। वह परम प्रकाशस्वरूप है। प्रकाश पावक

का धर्म है। पावक शब्द का अर्थ होता है सबको पवित्र करने वाला। उस परम प्रकाश स्वरूप आत्मा के प्रकाश से ही सृष्टि के समस्त प्रकाशमय तत्त्व प्रकाशित हो रहे हैं। उसके प्रकाशस्वरूप का वर्णन करते हुए मुण्डक० की श्रुति कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

(मुण्डक० 2/2/10)

उस परमात्मस्वरूप को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्र, न तारागण, न वह विद्युत से ही प्रकाशित होता है, इस अग्नि की तो बात ही क्या? उसी के प्रकाश से ये सारे प्रकाशमय तत्त्व प्रकाशित हो रहे हैं। उसी का प्रकाश इन सब के माध्यम से प्रकाशित हो रहा है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।

उस सबके परम प्रकाशक को ये भौतिक प्रकाश प्रकाशित नहीं कर पाते बल्कि उससे ही सब प्रकाशित होते हैं। वही व्यष्टि रूप में आपके कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों को भी प्रकाशित कर रहा है। ये आपके शरीर सावयव हैं, इनमें विकास और संकोच की क्रिया होती रहती है। ये क्षरणशील हैं, इनमें चेतना का प्रवाह स्नायुजालों के द्वारा ही प्रवाहित होता है किन्तु उस परमतत्त्व आत्मा में इस प्रकार की कोई गतिविधि नहीं है। आत्मस्वरूप निरवयव है, स्थूल-सूक्ष्म-कारण आदि उपाधियों से रहित है। उसमें कोई रोग, दोष नहीं, स्नायुजाल नहीं, पाप-पुण्य नहीं, वह शुद्ध प्रकाशस्वरूप है। साधना की अन्तिम अवस्था में सत्यधर्मा साधक उस परम प्रकाशस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम् अस्नाविरम्, अपापविद्धम्, शुद्धम्, इन शब्दों में श्रुति उसी अवस्था विशेष का निर्देश कर रही है। यह याद रखना है, जहाँ पाप नहीं होता वहाँ पुण्य भी नहीं होता क्योंकि पाप और पुण्य, ये दोनों ही सापेक्ष शब्द हैं, एक दूसरे के सहारे ही रहते हैं। जैसे ईंधन के समाप्त होने पर अग्नि स्वयं शान्त हो जाता है, ऐसे ही पाप का नाश होने पर पुण्य भी शेष नहीं रहता। मुण्डक० की श्रुति इसी सत्य का अवबोधन कराती हुई कहती है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।।

(मुण्डक० 3/1/3)

स्वर्ण के समान चमकने वाले जगत् का कर्त्ता परम चैतन्य इस चराचर विस्तार का मूल हेतु जो वह परमात्मा है, विद्वान् जब उस परमात्मा का

साक्षात्कार कर लेता है, तब वह पाप और पुण्य, दोनों से रहित दोषरूपी, मायारूपी अंजन से परे हो कर परम साम्यता को प्राप्त हो जाता है। शुद्धं, अपापविद्धं आदि शब्दों से इस मंत्र में उसी अवस्था का निर्देश किया कि सुवर्ण के समान चमकने वाले जगत् का कर्त्ता चैतन्य इस चराचर विस्तार का मूल हेतु जो वह परमात्मा है, विद्वान् जब उस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह पाप और पुण्य, दोनों से रहित दोषरूपी, मायारूपी अंजन से परे होकर परम साम्यता को प्राप्त हो जाता है।

अब आगे सुनिए इस सिद्ध योगी के लिए श्रुति और क्या कहती है। **"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"** वह क्रान्तद्रष्टा, त्रिकालदर्शी, मन का स्वामी, सर्वव्यापी और सर्वतन्त्र स्वतंत्र हो जाता है। कवि का अर्थ होता है क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी, त्रिकालदर्शी। हमारे यहाँ कहावत है– **"जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि"**, सूर्य के प्रकाश की जहाँ गंध नहीं है, वहाँ भी कवि की अन्तःदृष्टि पहुँच जाती है। वैदिक साहित्य में परमेश्वर को भी कवि कहा गया है और इस समस्त सृष्टि प्रपंच को उसके द्वारा रचा गया महाकाव्य। परमात्मा को प्राप्त हुआ साधक भी क्रान्तदर्शी कवि हो जाता है। मनीषी शब्द का अर्थ होता है मन का ईशन करने वाला वा मननशील। मन क्या है, यह हम पहले बता चुके हैं। वह मननशील मन का स्वामी हो जाता है। 'परिभूः' शब्द का अर्थ होता है चारों तरफ व्याप्त। आत्मा में स्थित होते ही वह सर्वत्र, सर्वरूप में स्वयं को ही अनुभव करता है, इसलिए उसे यहाँ 'परिभूः' कहा है। स्वयंभू का अर्थ होता है, स्वयं में सत्तावान वा स्वयं आविर्भूत होने वाला। उस स्थिति में साधक यह अनुभव करता है कि वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, वह स्वयंभू है। वह स्वयं ही सर्वरूप मेंउन्पन्न हुआ है,उसका कोई जनयिता नहीं,विधाता नहीं।यह याद रहे कि चेतन को जन्म देने वाला कोई दूसरा नहीं है। उसमें कार्य-कारण भेद की संभावना भी नहीं की जा सकती। यह सजातीय और विजातीय भेदों से सर्वथा रहित है। श्रुति में जो आत्मा और परमात्मा में पिता और पुत्र का भेद बताया गया है, वह चित्तगत चेतन की स्थिति को समझने मात्र के लिए है, यथार्थतः वहाँ कोई भेद नहीं। वह अजन्मा होते हुए भी स्वयं अनन्त रूपों में जन्मा हुआ– **"अजायमानो बहुधाभिजायते"** यह श्रुति वाक्य इसी रहस्य का उद्घाटन कर रहा है। वह स्वयंभू है, उसे अन्य कोई उत्पन्न करने वाला नहीं। **"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू"** इन शब्दों से श्रुति ने उस आत्मनिष्ठ योगी की उसी अवस्था का निर्देश किया है। यहां पर यह बात भी याद रखनी है कि यह उस आत्मस्थ योगी की स्थिति की व्याख्या की जा रही है, जो अभी भौतिक

शरीर में ही रह रहा है। जिसे शास्त्र जीवनमुक्त कहता है, जिसने अपने जीवन के प्रयोजन को पूर्ण कर लिया है, जिसे वह अलभ्य लाभ हो गया है,जो शाश्वत और सनातन काल तक रहने वाला है, इस मंत्र का अंतिम वाक्य उसकी प्रशंसा करता हुआ उसके उसी अलभ्य लाभ की ओर निर्देश कर रहा है 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।" श्रुति का कथन है कि वह साधक "शाश्वतीभ्यः समाभ्यः" अनन्तकाल तक रहने वाले अर्थों को"याथा तथ्यतः व्यदधात्"यथावत् रूप से धारण कर लिया है। अभिप्राय यह है कि वह शाश्वत पद को प्राप्त कर लिया है, शाश्वत तत्त्व को प्राप्त कर लिया है। अब उसके जीवन में अभाव के लिए, कमी के लिए स्थान नहीं है, वह स्वयं में पूर्ण तृप्त, आप्त-काम हो गया है।

मंत्र के इस भाग का एक अन्य प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है। उच्चतम अवस्था को प्राप्त हुआ साधक उस परमात्मा को सब ओर से प्राप्त हो जाता है जो अनन्तकाल से इस सृष्टि के समस्त अर्थों अथवा तत्त्वों को याथातथ्यतः यथावत् रूप से धारण किए हुए है। कुछ विद्वानों ने व्यदधात् का अर्थ निर्माण एवं व्यवस्था किया है। उनके अनुसार मंत्र के इस भाग का अर्थ होता है, जो परमात्मा शाश्वतकाल से इस सृष्टि के समस्त अर्थों का सृजन कर उसे सभी जीवों के कल्याण के लिए उनकी आवश्यकतानुसार यथावत् रूप से व्यवस्था कर रहा है, उस परमात्मा को वह प्राप्त हो जाता है।मेरे विचार से शब्द कामधेनु है। विद्वान् अपनी सूझ और समझ के अनुसार इच्छित अर्थ का दोहन कर लेता है और सभी अर्थ अपनी दृष्टि अनुसार उचित ही जान पड़ते हैं। मेरे विचार से "स पर्यगात्" शब्द उस साधक की उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने का निर्देश कर रहा है। जिस उच्चतम स्वरूप को वह प्राप्त करता है, वह उसका अपना स्वरूप है वा परमात्मा का स्वरूप, व्याख्याकारों की व्याख्या में यही भिन्न अर्थों को व्यक्त करने में कारण बना है। मेरे विचार से तत्त्वतः आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं। श्रुति जिस अवस्था का वर्णन कर रही है, वहाँ द्वैत भाव नहीं है, वह चित्तातीत अवस्था है, वहां पर नानात्व की दृष्टि समाप्त हो गई है। इसलिए जिन अवस्थाओं का इस मंत्र में वर्णन किया गया है, वे चाहे आत्मा के अर्थ में लगाए जाएं, चाहे परमात्मा के, इसमें कोई अन्तर नहीं। हां, इस मंत्र का यह अन्तिम भाग हमें एक और सत्य से परिचित कराता है। वह यह है कि यह सृष्टि और इसके संपूर्ण अर्थ मिथ्या नहीं, भ्रम नहीं, शाश्वत एवं अविनाशी हैं। सृष्टि प्रवाह रूप से नित्य है, शाश्वत है। सृष्टि के लिए जो नाश शब्द का प्रयोग होता है, उसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि

वह अपने कारण में लय हुआ करती है और पुनः उसी से आविर्भूत होती है। नाश शब्द का अर्थ होता है कार्य का कारण में लय होना। "**नाशो कारण लयः**" यह सांख्य का सिद्धांत है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार भी 'नश्' धातु का अर्थ होता है अदर्शन-"**नश् अदर्शने**" और अदर्शन शब्द का अर्थ होता है लोप, "**अदर्शने लोपः**"। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु का नाश हो गया तो उसका केवल इतना ही अभिप्राय होता है कि अब वह वस्तु अपने कारण में लीन हो गई है अर्थात् कार्य रूप में देखी नहीं जा सकती। इस सृष्टि का नाश भी केवल उसके अदर्शन का ही अवबोधक है।

अब तो वैज्ञानिकों ने सृष्ट पदार्थों की नित्यता को अनेकों परीक्षणों द्वारा सिद्ध करके बताया है। यह सृष्ट जगत् और कुछ नहीं केवल सूक्ष्म परमाणुओं का संघात मात्र है, और ये परमाणु सूक्ष्मतम एनर्जी के परिणाम हैं। वह एनर्जी नित्य है, शाश्वत है। परमाणुओं के संघात से सृष्टि का आविर्भाव और उनके बिखराव से इसका लोप हुआ करता है। यह संघात और बिखराव, जिस परमात्मा की इच्छा-शक्ति पर अवलम्बित है, उसी का वर्णन करते हुए श्रुति कहती है- "**याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्।**" ऋग्वेद का कथन है "**सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वम कल्पयत्**" जिस प्रकार से पूर्व सृष्टि कल्प में सूर्य-चन्द्र आदि सृष्टि के अनन्त पदार्थों की कल्पना उस रचयिता ने की थी, ठीक उसी प्रकार से इस कल्प में भी की है। भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है–

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।

(गीता 9/7)

कल्प के अन्त में यह सारी सृष्टि क्षय को प्राप्त हो जाती है और कल्प के आदि में पुनः इसका सृजन करता हूँ, यह क्षय और सृजन किस में हुआ करता है? इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए प्रभु कहते हैं–"**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**"। मेरी अध्यक्षता में, मेरे प्रकाश में ही यह प्रकृति चराचर विश्व को उत्पन्न करती है। यह उत्पत्ति और विनाश का क्रम शाश्वत है, सनातन है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए गीता के आठवें अध्याय में प्रभु ने बताया है--

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।

(गीता 8/18)

यह याद रहे कि सृष्टि के प्रारम्भ को दिन और सृष्टि के प्रलय को गीता में रात्रि कहा गया है। यह रात्रि और दिन का क्रम सनातन है, शाश्वत है और अविनाशी है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि मूलतः इस सृष्टि में किसी भी पदार्थ का अभाव नहीं होता। यहां न कुछ भ्रम है, न मिथ्या, न काल्पनिक ही।

यह सृष्टि और प्रलय की नित्य क्रीड़ा इस परमात्मा के प्रकाश में चलती ही रहती है। आप उसे आत्मा कहें, परमात्मा कहें, ब्रह्म कहें, इसमें कोई भेद नहीं, कोई अन्तर नहीं। यह समस्त सृष्टि उसकी नित्य लीला विलास मात्र है। जिस प्रकार एक बीज अंकुरित हो पौधा और पुनः वृक्ष रूप में परिणत हो पुष्पित तथा फलित होकर अनन्त बीजों को उत्पन्न करता है, बीज का यह क्रीड़ाविलास अनादि काल से समान रूप से ही चला आ रहा है, उसी प्रकार से चेतन के प्रकाश में अथवा उस परमात्मा के द्वारा शाश्वत काल से इस सृष्टि के समस्त पदार्थों का सृजन एवं धारण होता चला आ रहा है। उसकी इस क्रीड़ा का क्या प्रयोजन है? इस संबंध में भगवान् वेदव्यास ने केवल इतना ही कहा है– "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" यह प्रभु की लीला वा क्रीड़ामात्र है। जो साधक इस सृष्टि के कार्य-कारण संबंधों का अनुसंधान करता हुआ शनैः-शनैः उस परमकारण की ओर अग्रसर होता है और धीरे-धीरे सर्वत्र, सर्वरूप में परमात्मा की सत्ता का अनुभव करते हुए अपने उस नित्य परम प्रकाश रूप चैतन्यघन को प्राप्त हो जाता है, उस अवस्था में वह समस्त शरीरों, शरीरगत दोषों, छिद्रों तथा शरीरगत धर्मों, पापों और पुण्यों से विमुक्त हो शुद्ध-बुद्ध भाव को प्राप्त कर लेता है। उस अवस्था में वह क्रान्तदर्शी त्रिकालज्ञ समस्त संकल्पों का स्वामी, सर्वव्यापी तथा सर्वतन्त्र स्वतंत्र हो जाता है। वह कृतकृत्य हुआ साधक उन सर्वोत्तम अर्थों वा दिव्य गुणों को यथावत् रूप से धारण कर लेता है, जो शाश्वत काल तक रहने वाले अविनाशी हैं अथवा वह साधक उस परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है, परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। वैष्णव सम्प्रदाय की भाषा में वह उस परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, जो सृष्टि के इन अनन्त पदार्थों का सृजन कर उसे यथावत् रूप से शाश्वत काल से धारण किए हुए है। इस आठवें मंत्र का यही अभिप्राय है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए श्रुति कहती है–

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

इस मंत्र का चिन्तन करते हुए आज के प्रवचन का यहीं विश्राम होता है। अगले मंत्र पर कल विचार किया जाएगा।

हरि ॐ तत्सत्
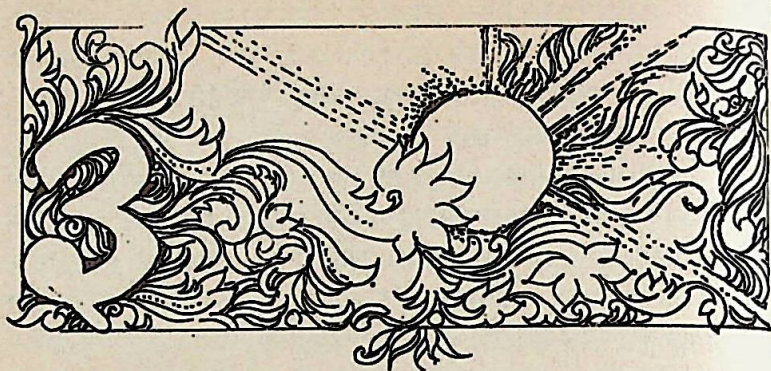
मेरा प्रिय आत्माओ!

परम तत्त्व को प्राप्त हुआ साधक जिस आत्मस्वरूप की अनुभूति करता है, उसका विवेचन कल के प्रवचन में किया गया था। ईशोपनिषद् का यह आठवां मंत्र साध्य के स्वरूप की ही व्याख्या करता है, उसके सम्बंध में कुछ बातें और भी बतानी हैं। आज पहले आप लोग अवधानपूर्वक उसे समझ लें, फिर उससे अगले मंत्र की व्याख्या की जाएगी। कल वृह्द रूप से यह बात समझाई गई थी कि साधक जब स्वयं को प्रकृति से परे परम चैतन्य रूप में अनुभव करता है, तो वह प्रकृति के समस्त कार्यों, करणों एवं गुण-दोषों से विमुक्त हो स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। वही स्थिति नित्य, निजानंद वा परमानंद की अनुभूति की होती है। यहां पर एक बात और समझ लें कि व्यवहार में जो आत्मा और परमात्मा, इन दो शब्दों का हम प्रयोग करते हैं, यह भेद तभी तक रहता है जब तक चेतन का प्रकाश चित्त के साथ युक्त रहता है, उसमें आसक्त रहता है। ज्योंहि चेतन स्वस्वरूप की अनुभूति कर स्वयं को चित्त से परे, उसके गुण-धर्म-स्वभाव से परे अनुभव करता हुआ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, त्योंही यह भेद समाप्त हो जाता है। उस अवस्था में वह चैतन्यघन परिभूः स्वयंभू, स्वयं को सर्वव्याप्त और स्वयं का स्वामी अनुभव करने लगता है। उसे स्वराज्य की प्राप्ति हो जाती है। यथार्थतः वही स्वराज्यी है क्योंकि उस समय उसका कोई स्वामी नहीं होता। यह जीवात्मा शब्द का प्रयोग चित्त में स्फुरित होने वाली चेतना के लिए ही किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीव इस चेतन की एक अवस्था विशेष है, उससे भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं। यहाँ यह भी याद रखना है कि विशुद्ध चेतन की संज्ञा जीव नहीं है। विशुद्ध चेतन तो परम अक्षर ब्रह्म है। चित्त में उस ब्रह्म की जो छाया पड़ रही है वा चित्त में जो चेतन प्रतिबिम्बित होकर स्फुरित हो रहा है, उसी को जीव कहते हैं। अंग्रेजी में

विशुद्ध चेतन को स्पिरिट और चित्त में स्फुरित होने वाले चेतन को सोल शब्द से भी संबोधित किया जाता है। उपनिषदों में जीवात्मा और परमात्मा दोनों के स्वरूप एवं इनकी यथार्थ स्थिति का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। कठोपनिषद् के एक मंत्र में इस ब्रह्म और जीव के भेद को बहुत ही सुन्दर उदाहरण के साथ समझाया गया है और वह मन्त्र इस प्रकार है–

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति।पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।

(कठ० 1/3/1)

"परमात्मा की सुन्दर कृति इस मनुष्य शरीर के ऊर्ध्व भाग में परम स्थान रूप हृदय गुहा है। यौगिक भाषा में इसे ही ब्रह्म चक्र कहते हैं। यह स्थान मूर्द्धा में प्रतिष्ठित है, यही बुद्धि का भी स्थान है, इसे बुद्धि गुहा भी कहते हैं। उसी में ऋत का पान करने वाले परमात्मा और जीवात्मा, दोनों प्रविष्ट होकर विराजित हैं। वे दोनों छाया और धूप के समान परस्पर विलक्षण हैं, ऐसा ब्रह्मवेत्ता, परम तत्त्व को जानने वाले कहते हैं और पंचाग्नि की त्रिकाल उपासना करने वाले भी ऐसा ही कहते हैं।" इस मंत्र में जीवात्मा और परमात्मा के सम्बंध को धूप और छाया के रूप में वर्णन किया है। परमात्मा धूप है और जीवात्मा उसकी छाया। यह आप सभी जानते हैं कि छाया केवल धूप का ही परिणाम नहीं, छाया की अभिव्यक्ति के लिए धूप के समक्ष किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। छाया के दो पहलू हैं- उसकी आकृति और स्थिति। स्थिति वा सत्ता तो धूप से ही होती है किन्तु उसकी आकृति धूप से नहीं अपितु उस माध्यम से होती है, धूप के प्रकाश में जिस से उस छाया का जन्म होता है। इस मंत्र की व्याख्या करते हुए पूर्वचार्यों ने अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किए हैं किन्तु मेरे विचार से यह इतना उलझनपूर्ण एवं रहस्यमय नहीं है, जिसके यथार्थ अभिप्राय को सुगमता से न समझा जा सकता हो। यह भी सत्य है कि शब्दार्थ का ज्ञान रखने वाले पुस्तकीय पांडित्य से यह बात समझ में आने वाली नहीं है।

इस मंत्र में जीव को छाया कहा गया है और परमात्मा को आतप वा धूप। परमात्मा रूप धूप से जीवरूपी छाया की अभिव्यक्ति बिना किसी माध्यम के हो ही नहीं सकती, यह सभी का जाना हुआ सत्य है। जो लोग केवल विशुद्ध चैतन्य को ही इस सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं, उन्हें इस मंत्र पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। वह माध्यम कौन सा है, जिससे छाया रूपी जीव का जन्म होता है? इसका समाधान भगवान् ने गीता के 14 वें अध्याय में

किया है। प्रभु कहते है :

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।
(गीता 14/3)

"यह मेरी महद्ब्रह्म प्रकृति वह योनि है जिसमें मैं अपने चेतनांश रूपी गर्भ को प्रतिष्ठित करता हूँ, उसी से इस सृष्टि में समस्त प्राणियों की उत्पत्ति हुआ करती है।" इससे अगले श्लोक में प्रभु ने यह बात स्पष्ट की है कि समस्त जीवों की आकृति-प्रकृति को उत्पन्न करने वाली वह प्रकृति जीवों की मां और उसमें चेतनांश प्रदान करने वाला में जीवों का पिता हूँ। इससे यह ज्ञात होता है कि जीव रूपी छाया की उत्पत्ति का माध्यम वह प्रकृति है।जीव की जो आकृति प्रकृति है, वह उस प्रकृति का ही परिणाम है और उसमें जो चेतनांश है, आत्म सत्ता है, वह उस परमेश्वर का ही प्रकाश है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि जिस प्रकार धूप के बिना छाया का अस्तित्त्व नहीं, उसी प्रकार परमेश्वर से भिन्न जीव की कोई सत्ता नहीं है। जो लोग प्रकृत्याद्वैत के विश्वासी हैं, उन्हें भी यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि इस परिवर्तनशील गुणात्मिका जड़ प्रकृति से नित्य ज्ञान स्वरूप चेतना का जन्म नहीं हो सकता। आज भी वैज्ञानिकों ने अनुसंधान के द्वारा इस रहस्य को उजागर कर दिया है कि पुरुष के वीर्य के संयोग के बिना नारी के रज से कभी भी चेतन सन्तान की उत्पत्ति नही हो सकती। सन्तान की आत्मा पिता के वीर्य से ही गर्भ रूप में आती है, माता का रज उसके स्थूल शरीर के निर्माण में हेतु बनता है। सांख्य, वेदान्त एवं भगवद्गीता में जिस पुरुष-प्रकृति के संयोग से इस सृष्टि के आविर्भाव का विवेचन किया गया, वह सर्वथा वैज्ञानिक एवं सभी के लिए ग्राह्य है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि इस छाया रूपी जीव की प्रकृति मां एवं वह परमात्मा पिता है और यह संबंध भी सोपाधिक है तत्त्वतः नहीं। जिस प्रकार के माध्यम से चेतन युक्त होता है, उसी प्रकार की उसे संज्ञा प्राप्त हो जाती है। इसी रहस्य को स्पष्ट करते हुए श्रुति कहती है—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।।
(श्वेता० 5/10)

"यह चेतनांश जीवात्मा यथार्थतः न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक ही, वह जिस-जिस शरीर को प्राप्त होता है उसी से जुड़ जाता है।" किन्तु जब साधक अध्यात्मयोग के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे स्वयं को शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि

प्राकृत माध्यमों से ऊपर उठा लेता है और विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में अपने स्वरूप को अनुभव कर उसमें प्रतिष्ठत हो जाता है, उस समय जीवात्मा, परमात्मा का भेद समाप्त हो जाता है और वह प्रकृति तथा तद्‌जन्य विकारों से मुक्त हो आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मतुष्ट हो सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। आत्मा के उस स्वरूप की व्याख्या करते हुए प्रभु कहते हैं-

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।

(गीता 5/15)

यह विभु आत्मा की संज्ञा है। वह न तो किसी के पापकर्म को न किसी के पुण्यकर्म को ही ग्रहण करता है, स्वभावतः वह शुद्ध अपापविद्ध है।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि स्वभावतः चैतन्य आत्मा यदि प्रकृति से परे है तो वह प्रकृति के माध्यम से स्फुरित क्यों होता है और वह उसमें आसक्त कैसे हो जाता है? इस का उत्तर सांख्यशास्त्र देता है। प्रकृति में स्वभावतः चेतन के प्रकाश को ग्रहण करने की क्षमता है। चेतन से युक्त होते ही प्रकृति उसके गुण-स्वभाव को ग्रहण कर लेती है और उसी में चेतना और उससे फिर अहं का स्फुरण होता है। समष्टि प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाला वह चेतन ही नारायण कहा जाता है और आगे उसी की त्रिविध स्फुरणायें-विष्णु, ब्रह्मा और शिव के रूप में वर्णित होती हैं। वैष्णव सम्प्रदाय में उसे ही चतुर्व्यूह कहते हैं। जो स्थिति समष्टि प्रकृति में है, वही स्थिति अनन्त व्यष्टि रूपों में प्रकट हुए प्रकृति के अंशरूप चित्तों में भी हुआ करती है। व्यष्टि चित्तगत चेतन अल्पज्ञतावश मोहित हो बन्धन वा आसक्ति में पड़ जाता है, यही उसके अनेक योनियों में जन्मने और मृत्यु को प्राप्त होने का कारण बनता है। मनुष्य शरीर को प्राप्त होने के पश्चात व्यष्टि चित्त में उन सभी तत्त्वों का पूर्णरूपेण विकास हो जाता है जो समष्टि चित्त में निहित हैं, इसीलिए मनुष्य को परमात्मा की अनुकृति कहते हैं। मनुष्य के शरीर को ही सुकृत लोक कहा गया है क्योंकि इसी शरीर के द्वारा वह चेतनांश जीवात्मा अपने कारणस्वरूप परमात्मा को यथार्थतः जान पाता है, अनुभव कर पाता है। यह याद रखना चाहिए कि वह परम चैतन्य स्वयंभू है, स्वयं अपने संकल्प से वह प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। उसकी अभिव्यक्ति में कर्मविपाक कारण नहीं होते। वेद कहता है- "**अजायमानो बहुधा अभिजायते**" वह अजन्मा स्वयं अनेक रूपों में जन्म लेता है। जन्म कैसे लेता है? इसका समाधान करते हुए प्रभु गीता में कहते हैं—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। (गीता 4/6)

अपनी प्रकृति को माध्यम बनाकर अपनी आत्ममाया वा आत्मशक्ति से ही उत्पन्न होता है। उसकी उत्पत्ति में अन्य कोई हेतु वा कारण नहीं है, इसलिए वेद उसे स्वयंभू कहता है। एक बात और याद रखना है, जब हम कहते हैं कि आत्मा प्रकृति से परे है तो वहाँ आत्मा, परमात्मा आदि का भेद नहीं है, वहाँ सच्चिदानन्द हैं।उस समय हम उस अवस्था की बात करते हैं जो सृष्टि से परे है। इसकी अनुभूति योगी को उस अवस्था में होती है जब सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है। वह कैवल्य अवस्था है, कृतार्थ पुरुष की अवस्था है, गीता में उसे ब्राह्मी स्थिति कहा है। इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि उस स्थिति में जगत् जीव नहीं रहते, उनका समूल अभाव हो जाता है। कृतार्थ की अवस्था को प्राप्त हुए योगी की दृष्टि में द्वैत नहीं रहता, जगत् प्रपंच नहीं रहता, किन्तु अनन्तानन्त जीवों के लिए तो उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है। आप लोगों ने सुना होगा परमात्मा का एक नाम यम है, जिसका अर्थ होता है विश्व का नियन्ता। उसे ईश्वर कहते हैं जिसका अर्थ होता है शासक। यदि जगत् नहीं है तो वह किसका नियन्ता होगा? यदि सृष्टि नहीं है तो वह किसका शासक होगा? यथार्थतः वह ईश्वर है प्रकृति का अनुशासक होने के नाते, वह यम है सृष्टि का नियमन करने के नाते। जहाँ सृष्टि नहीं है, जगत् और जीव की स्थिति नहीं है, वहां पूषन्, यम, सूर्य, प्रजापति आदि जो परमात्मा के सम्बोधक नाम हैं, वे सब निरर्थक सिद्ध हो जाएंगे। इसलिए योगदर्शन का यह कथन –

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

(योग सू० 2/22)

जो कृतार्थ हो गए हैं केवल उनके लिए यह सम्पूर्ण कार्यजगत् अपने कारण रूप अव्यक्त प्रकृति में विलीन हो जाता है किन्तु अन्य साधारण के लिए उसकी स्थिति यथावत बनी रहती है। जैसे परमात्मा इस सृष्टि का ईश्वर है, यम है, प्रजापति है, उसी प्रकार से यह जीवात्मा अपने चित्त तथा उससे आविर्भूत सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर,बाह्य तथा अन्तःकरण का ईश्वर नियामक एवं प्रजापति है। सृष्टि की अवस्था में ईश्वर और जीव की स्थिति में केवल इतना ही अन्तर होता है कि ईश्वर स्वयंभू तथा स्ववश होता है और जीव वासनानुसार विविध योनियों में जन्म लेने वाला परतन्त्र होता है। इस भेद को स्पष्ट करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है :–

परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।।

जीव परवश है, ईश्वर स्ववश है, जीव अनेक हैं, ईश्वर एक है और इस भेद में कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में गोस्वामी जी कहते हैं-

ग्यान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर।।
जो सबके रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस।।

सीतावर अर्थात् प्रकृति का स्वामी वह परमेश्वर सर्वज्ञ है,इसलिए उसका ज्ञान अखंड रूप में बना रहता है किन्तु अनेक होने के नाते जीव अल्पज्ञ है, इसलिए उसका ज्ञान एक रस नहीं रह पाता। प्रकृति का वैविध्य और वैचित्र्य, उसे मुग्ध कर भ्रमित कर देता है। यथार्थतः यदि जीव का ज्ञान भी एक रस हो जाये तो उसमें और ईश्वर में भेद ही कहां रह जायेगा?

यहाँ एक और प्रश्न हो सकता है कि जब परमात्मा वा ईश्वर राम, कृष्ण आदि रूपों में व्यक्तिभाव को प्राप्त होते हैं,क्या उस अवस्था में भी उनका ज्ञान अखंड रहता है? इसके समाधान में वैदिक साहित्य कहता है कि राम, कृष्ण आदि रूपों में जो प्रभु का अवतरण होता है, उसमें किसी प्रकार का कर्म-जन्य संस्कार हेतु नहीं होता, केवल उनकी करुणा ही कारण हुआ करती है। प्रकृति के जिस अंश को प्रभु अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं, वह वासना युक्त नहीं होता, वह कर्म-संस्कारों से अभिभूत नहीं होता, वह तो उनके संकल्प वा इच्छा मात्र से ही अभिभूत हुआ करता है। श्रीरामचरितमानस में प्रभु स्वयं मनु-शतरूपा से कहते हैं—

इच्छामय नरवेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे।।

"अपनी इच्छानुसार नरवेष धारण करके मैं तुम्हारे गृह में प्रकट हो जाऊंगा।" अकेले ही नहीं बल्कि-"**अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करहंउ चरित भगत सुखदाता।।**" जब प्रभु प्रकट होते हैं, तो गोस्वामी जी लिखते हैं—

भय प्रगट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी।

इससे यह ज्ञात होता है कि राम, कृष्ण आदि रूपों में भी प्रभु की सर्वज्ञता में कोई अन्तर नहीं आता, उनका ज्ञान अखंड और एकरस ही हुआ करता है। इसलिए तो गोस्वामी जी कहते हैं :-

सहज प्रकास रूप भगवाना। नहि तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।।

भगवान् सच्चिदानन्दमय सहज प्रकाशस्वरूप हैं, उनमें विज्ञान का विहान नहीं होता अर्थात् उनमें ज्ञान का प्रभात नहीं होता। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जीव कर्मानुसार जन्म लेता है किन्तु प्रभु अपनी इच्छा से ही प्रकट होते हैं। मेरे विचार से जन्म शब्द का अर्थ भी प्राकट्य ही होता है, "जनी प्रादुर्भावे"। जनी धातु से ही जन्म शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है प्रादुर्भूत होना, अव्यक्त का व्यक्त हो जाना। तत्त्वतः ईश्वर और जीव के आविर्भूत होने में कोई अन्तर

नहीं है। जीव का ज्ञान अल्प है और ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए जीव प्राकृत गुणों में आसक्त हो जाता है और ईश्वर सदैव उसका नियन्ता होते हुए भी अनासक्त रहता है। पूर्णज्ञान की अभिव्यक्ति होने पर जीव और ईश्वर का भेद मिट जाता है और वह सच्चिदानन्दस्वरूप में स्थित हो निजानन्द में निमग्न रहता है। अवतार एवं सामान्य जीव में अन्तर यह होता है कि अवतारी पुरुष का स्वरूप दिव्य, चिन्मय एवं अभौतिक होता है और सामान्य जीव का शरीर अस्थि, मांस, मज्जा, स्नायु युक्त, छिद्रमय, दोष युक्त तथा भौतिक क्योंकि जीव का शरीर माता-पिता के रजवीर्य से उत्पन्न होता है, किन्तु अवतारी पुरुष किसी माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न नहीं होते। श्रीमद्‌भागवत में भगवान् कृष्ण के अवतार का इसी रूप में वर्णन है। वे वसुदेव-देवकी के समक्ष शंख, चक्र, गदा, पदम युक्त चतुर्भुज रूप में प्रकट हो जाते हैं और बाद में अपने अवतार का हेतु बताकर वसुदेव को आदेश देते हैं कि उनके शिशुरूप को गोकुल में नन्द के यहाँ पहुँचा दे। भगवान् राम भी माता कौशल्या के समक्ष चतुर्भुज रूप में ही प्रकट होते हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं:-

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुजचारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी।।

बाद में माता कौशल्या ने यह प्रार्थना की कि प्रभो! इस स्वरूप का त्याग कर मुझे परितृप्त करने के लिए **"कीजे सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।"** अनुपम सुख प्रदान करने वाली शिशु लीला कीजिए जो भक्तों के लिए अत्यन्त प्रिय है। माँ की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु स्वयं शिशु रूप में प्रकट होकर मधुर स्वर में रुदन करने लगते हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं :-

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होई बालक सुरभूपा।

इससे आप लोग समझ गए होंगे कि प्रभु का स्वरूप दिव्य और चिन्मय हुआ करता है, क्योंकि वह किसी रजवीर्य का परिणाम नहीं होता। श्रुति कहती है- **"न तस्य कार्यं करणंच विद्यते।"** कार्य माने स्थूल शरीर और करण माने इन्द्रियाँ, ये दोनों ही उसके नहीं होते, किन्तु जीव का शरीर कार्य और करण युक्त हुआ करता है। इसीलिए अवताररूप में भी ईश्वर की सर्वज्ञता बनी रहती है किन्तु तत्त्वतः उसी का स्वरूप होते हुए भी जीव ज्ञान की अखंडता एवं एक-रसता को खो देता है। यही कारण है कि वह प्राकृत गुणों के साथ तादात्म्य को प्राप्त हो उसके प्रवाह में भटकते हुए विविध भाँति के दुःखों का भाजन बन जाता है। ईश्वर सदैव प्रकृति का स्वामी बना रहता है, जबकि जीव भ्रान्तिवश उसकी आधीनता स्वीकार कर परतंत्रता को प्राप्त हो जाता है।

ईशोपनिषद् के आठवें मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए श्रुति कहती है कि जब साधक अपनी साधना एवं प्रभु के अनुग्रह से प्रकृति से परे हो अपने कारणस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाता है, तो वह इस सत्य का अनुभव करता है कि जिस प्रकृति के अधीन हो उसके गुण-दोषों से स्वयं को सम्बन्धित मानता हुआ, विविध योनियों में भटकता रहा है.यथार्थतः वह उस प्रकृति का नियन्ता है, उसका प्रकाशक एवं सृजक है, जिसके विषय में श्रुति कहती है :-

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।

(श्वेता० 6/12)

"वह अकेला ही अनन्त निष्क्रियों (जीवों) पर अनुशासन करता है और एक अव्यक्त बीज को अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर देता है।" उस परमात्मा से उसका अभिन्न सम्बंध है, जो परमात्मा है वही वह है। इसलिए :-

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

जैसे कि मैंने पहले बताया है जो गुण, धर्म, स्वभाव, स्वरूप समष्टिगत चेतना ईश्वर का है, वही व्यष्टिगत जीव का भी। जैसे वह चेतन अपने प्रकाश में उद्भूत हुए समष्टि चित्त, समष्टि बुद्धि, समष्टि अहंरूप विष्णु, ब्रह्मा और शिव का विधाता कहा जाता है, उसी प्रकार से इस व्यष्टि चित्त के अधिपति प्राज्ञ, बुद्धि के अधिपति तैजस और अहं के अधिपति विश्व का वह व्यवधायक है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी विनयपत्रिका में लिखते हैं :-

हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जो दई।
सोई जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगल मई।।

(विनय प० 135/3)

एक बात यहाँ याद रखनी है कि समष्टि और व्यष्टि के त्रिदेवों में तो अन्तर है किन्तु उनके प्रकाशक वा जनक परब्रह्म परमात्मा में कोई भेद नहीं है। व्यष्टि और समष्टि, दोनों का प्रकाशक वही एक राम है। इसी सत्य को समझाते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :-

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता।।
सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।

विषय, इन्द्रियाँ, उनके देवता और जीव, क्रमशः ये सभी एक दूसरे से प्रकाशित होते हैं किन्तु इन सबका जो परम प्रकाशक है, वह अनादि अवधपति श्री राम एक हैं। वही इस अनन्त सृष्टि का सृजक, धारक तथा यथावत् व्यवस्थापक भी है। ज़रा, अपनी शरीर रचना की तरफ देखिए, आपके

अंग-प्रत्यंग की रचना कितने सुव्यवस्थित रूप में हुई है। यदि आपकी पांचों उंगलियाँ एक ही लाईन में, एक ही समान लम्बी होती तो क्या आप इसी प्रकार से कर्मों का सम्पादन कर सकते? उसी प्रकार से आपके आँख, कान, नाक और मुखादि की स्थिति कितनी सुन्दर और सुव्यवस्थित है? यदि एक आँख आगे और एक पीछे कर दी होती तो कैसा स्वरूप होता? यदि खाने के लिए मुँह सर के साथ न जोड़ कर पेट के साथ बना देता तो क्या होता? और ये दाँत मुहँ में न लगाकर आंतों में लगा देता तो? ये सभी कुछ कितना सुव्यवस्थित एवं सुन्दर बनाया है! गंभीरता से विचार करते ही उसकी सर्वज्ञता एवं कार्यकुशलता को देख श्रद्धा से सर झुक जाता है। इस युग का महान वैज्ञानिक आईनस्टाइन कहता है कि सुव्यवस्थित सृष्टि को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल जड़ प्रकृति का ही परिणाम है, इसके पीछे अवश्य ही कोई परम ज्ञानमय सत्ता कार्य कर रही है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है।

कभी-कभी कुछ अबुद्ध लोग उस सर्वज्ञ परमेश्वर की महत्ता को न समझ कर इस सृष्टि को अव्यवस्थित एवं दोषमय सिद्ध करने का दुस्साहस करते हैं किन्तु उनका यह कार्य केवल उनकी अनभिज्ञता को ही प्रकट करता है। एक व्यक्ति ने रास्ते में चलते हुए देखा कि एक खेत में लम्बी बेल के साथ बड़े-बड़े कुषमाण्ड लगे हुए थे, जिसे पंजाबी में काशीफल कहते हैं, उसे देख कर वह सोचने लगा कि सृष्टि का रचयिता कितना नासमझ है, इतनी पतली सी बेल में इतना बड़ा फल लगा दिया? कुछ दूर आगे गया तो एक वट वृक्ष दिखाई दिया और उसके नीचे लेटकर विश्राम करने लगा। देखा, वट में बहुत छोटे-छोटे फल लगे हुए थे। विचार करने लगा कि देखो उस रचयिता की नासमझी, इतने बड़े वृक्ष में कितने छोटे फल लगा दिये हैं। यदि वह बड़ा फल इसमें लगा देता और छोटे फल उस बेल में लगा देता तो कितना अच्छा होता ! अभी वह विचार ही कर रहा था कि इतने में बरगद का एक फल टूटा और उसकी नाक पर आकर गिर गया। ऊपर से गिरे हुए उस छोटे फल से भी उसके नाक पर थोड़ी चोट लगी और वह उठकर बैठ गया। उस छोटी सी घटना ने उसके विचारों में तुरन्त एक परिवर्तन ला दिया और वह विचार करने लगा कि कहीं वह बड़ा सा फल उस वृक्ष में लगा होता और टूट कर मेरे ऊपर गिरा होता तो मेरी क्या गति होती? निश्चय ही इस सृष्टि का रचयिता अवश्य ही कोई दूरदर्शी और सर्वज्ञ होगा, जिसने सब कुछ समझकर यथावत रूप से इसको व्यवस्थित किया है। मैं आप लोगों को बता रहा था कि अल्पज्ञतावश कभी-कभी परमात्मा की इस सुव्यवस्थित रचना में भी अव्यवस्था एवं दोष देखने की हम भूल कर बैठते हैं

लेकिन श्रुति का कथन है कि वह अनादि काल से इस सृष्टि के समस्त पदार्थों को यथावत समुचित रूप से सृजन एवं धारण करता आ रहा है-"यथार्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।" वही सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता तत्त्वतः आपका अपना आप है। इस परम सत्य का अनुभव कर आप स्वयं में कृतकृत्य हो जायेंगे, फिर आपके लिए कुछ जानना, कुछ पाना, कुछ करना शेष नहीं रह जायेगा।

भला, आप लोग सोचिये, जिस ब्राह्मी स्थिति की व्याख्या सुनने और समझने में इतना आनन्द आ रहा है, जो लोग उसे प्राप्त करते होंगे, उनके आनन्द, उनकी स्थिति, उनकी मस्ती का अनुमान कौन लगा सकता है? ऐसे महात्माजन इस शरीर में रहते हुए जीवनमुक्त कहे जाते हैं। चित्त से मुक्त होने के नाते, वे इस समस्त सुव्यवस्थित सृष्टि को अपने कारणस्वरूप परमेश्वर की कुशलता के रूप में देखते हुए सदैव आनंदित होते रहते हैं। उनकी दृष्टि में न तो सृष्टि मिथ्या है, न नरक और न वहां दुःख है न दारिद्रय। सर्वत्र सर्वरूप में सच्चिदानन्द की क्रीड़ा हो रही है, उसी की सृष्टि है, उसी का कौशल है, उसके सिवा कुछ नहीं। उसी ने अपने कौशल से सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्र आदि को एक दूसरे के आकर्षण पर व्यवस्थित कर रखा है। सम्पूर्ण अर्थों को व्यवस्थित रूप से धारण करना, यह उसकी सर्वज्ञता एवं सर्वसमर्थता का ही परिचायक है। जो आत्मज्ञ अपने प्रभु के कौशल को सर्वत्र सर्वरूप में देखता है, उसके आनन्द की सीमा नहीं।

एक महात्मा चले जा रहे थे, एक राजमहल के निकट से होकर गुजरे। राजमहल के ऊपर कमरे में राजकुमारी खड़ी थी, उसके अद्भुत सौंदर्य को देख वे विमुग्ध हो खड़े हो गए और एकटक उसे देखने लगे। अचानक राजकुमारी की दृष्टि भी उस ओर चली गई, उसने महात्मा को विमुग्धावस्था में अपनी ओर निहारता हुआ देख अपनी दासी के हाथ कागज़ पर यह लिख कर भेज दिया -

जाने वाले राही तू राह ले अपनी।
जो इधर देखते हैं सर कलम देखते हैं।।

"ए राही! तू अपनी राह पर चला जा, मेरी ओर देखना तुम्हें बहुत महंगा पड़ जायेगा, क्योंकि मैं राजकुमारी हूँ। यदि किसी राजपुरुष ने देख लिया तो इन आँखों के सहित तुम्हारा सर तुम्हारे इस धड़ पर नहीं रह पायेगा। यह था आशय उस वाक्य का जो राजकुमारी ने लिख कर भेजा था। दासी ने वह कागज़ ले जाकर महात्मा को दिया। राजकुमारी के लिखे हुए उस शेयर को पढ़ कर वे मुस्कराये और उसी कागज़ पर उसके नीचे ये शब्द लिख कर उस दासी को

पकड़ा दिया और आप चल पड़े। शब्द थे-

तुम से गरज है न सूरत से तेरी।
मुसव्विर की हम तो कलम देखते हैं।।

ए भोली राजकुमारी! न तो हमें तुम से ही कुछ मतलब है और न तुम्हारे सौंदर्य से ही, मैं तो उस रचयिता की कारीगरी को देख रहा था, जिसने इतना सुन्दर चित्र बनाया है। जिसकी कला ऐसी है, वह कलाकार कितना महान् होगा! आप लोग भी उस कलाकार की महानता को देखें, कितनी सुन्दर कारीगरी है उसकी! एक माँ से उत्पन्न होने वाली जितनी सन्ताने हैं, वे सभी अपने में अद्वितीय एवं अनुपम हैं, केवल शक्ल-सूरत से ही नहीं, गुण, स्वभाव, समझ से भी कहीं आपको समानता नहीं मिलेगी। मनुष्य यदि किसी वस्तु विशेष का उत्पादन करता है, तो उसके बनाए हुए सांचे के अनुसार बहुत सी मात्रा में एक ही सांचे में ढली हुई समान रूप वाली वस्तुएं ही मिलेंगी किन्तु उस रचयिता की महिमा देखिये! उसकी इस विशाल रचना में कहीं भी आपको पुनरावृति वा रेपिटीशन देखने को नहीं मिलेगा। वह अनन्त है, उसकी महिमा अनन्त है, उसका ज्ञान अनन्त है और उसकी यह सृष्टि भी अनन्त है। वह इस अनन्त सृष्टि का अनन्त रूपों में सृजन करता आ रहा है और उसकी यथोचित व्यवस्था करता आ रहा है। यह सृजन और सम्वरण की उसकी क्रीड़ा भी अनादि और अनन्त काल से यथावत चली आ रही है। आठवें मन्त्र का अन्तिम वाक्य इसी रहस्य का उद्घाटन कर रहा है—

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

मेरे विचार से ईशोपनिषद् के इस आठवें मंत्र पर विभिन्न दृष्टिकोणों से इसके रहस्यमय भावों का विवेचन कर दिया गया है। विश्वास है, इसे आप लोग आत्मा वा परमात्मा के यथार्थ स्वरूप, सम्बन्ध और उससे आविर्भूत होने वाली इस सृष्टि के सनातन स्वरूप को भली-भाँति समझ गए होंगे। अब आगे परमात्मा के स्वरूप, स्वभाव और उसकी महिमा, उसमें अनास्था रखने वाले नास्तिकों के अन्तिम परिणाम, साधना द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुए सिद्ध की अनुभूति और उसकी अन्तिम स्थिति तथा सृष्टि के मूल कारण और उसके शाश्वत स्वरूप परमेश्वर की सर्वज्ञता, सर्वसमर्थता एवं उसकी अद्भुत रचना आदि से सम्बन्धित उसकी कुशलता का वर्णन किया गया है। विशेषकर प्रथम मन्त्र में ईश्वर की सत्ता और महत्ता तथा साधक के लिए समुचित जीवन जीने का उपदेश, दूसरे मन्त्र में साधक के लिए कर्म की अनिवार्यता और उसकी उपयोगिता, तीसरे मन्त्र में ईश्वर में अनास्था रखने वाले तमप्रधान व्यक्तियों

के जीवन का परिणाम, चौथे और पांचवें मन्त्र में आत्मा के स्वरूप का विवेचन, छटे और सातवें मन्त्र मे साधना की उच्चतम अवस्था में पहुंचने वाले साधकों की अनुभूति और उसके प्रतिफल, आठवें मन्त्र में उस सिद्ध के प्राप्तव्य सच्चिदानन्द स्वरूप तथा उससे उद्भूत होने वाली सृष्टि की अनन्तता तथा उसकी यथार्थता का अवबोधन कराया गया है। संक्षेप में अब तक जो बातें आप लोगों को समझाई गई हैं उनका यही सार है। प्रथम मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र तक का क्रम एक दूसरे से सम्बन्धित रहा है और यह प्रसंग अब यहीं तक पूर्ण हो जाता है। आगे का प्रसंग साधक के लिए तीन-तीन मन्त्रों में दो प्रकार के तत्त्वों की उपासना और अनुरक्ति के रहस्य का उद्घाटन करते हुए, उसकी यथार्थता एवं उपयोगिता का अवबोधन कराता है। मुझे विश्वास है कि आप लोग अपने चित्त, मति और मन को एकाग्र कर उसे सुनने, समझने और धारण करने का प्रयत्न करेंगे।

हरि ॐ तत्सत्
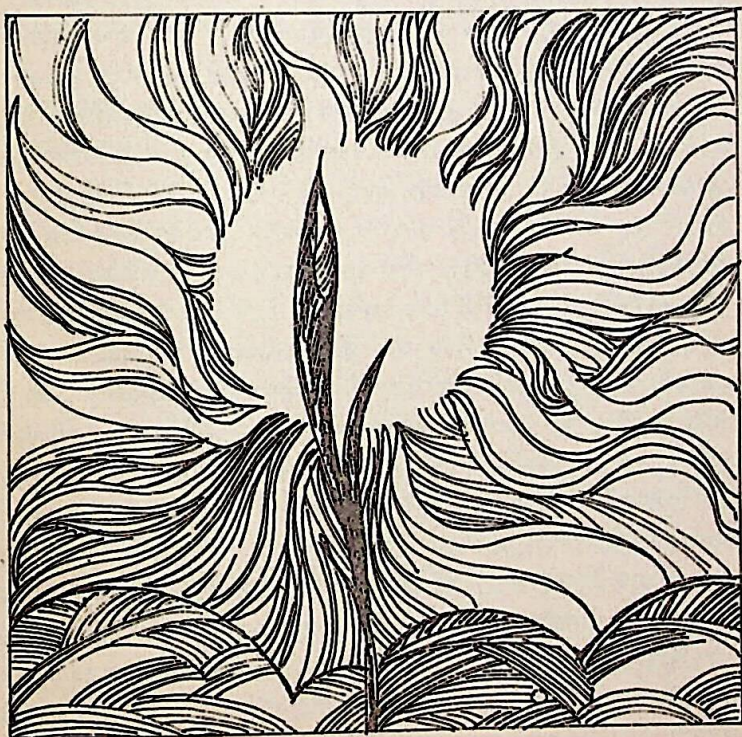
मेरी प्रिय आत्माओ !

मनुष्य की आन्तरिक चाह है मृत्यु से मुक्त हो अमृतत्व को प्राप्त करना। उसे सबसे अधिक खतरा है अपने अस्तित्व का। मृत्यु एक ऐसा प्रबलतम शत्रु है जिसका भय उसे अपने अस्तित्व के प्रति संदेह उत्पन्न कर देता है। मनुष्य के समाने यह एक बहुत बड़ी समस्या है कि वह सृष्ट जगत् में सर्वत्र महाकाल के द्वारा अनवरत सम्पन्न होने वाली महाविनाश की लीला को देख रहा है। दृश्य जगत् में कुछ भी स्थाई नहीं दीख रहा। यदि एक दिन अपना अस्तित्व भी मिट जाने वाला है तो इस सृष्टि का समस्त वैभव अपने किस काम का? जिस मृत्यु की कल्पना ही अन्तर को प्रकम्पित कर देती है, यदि वह घटित हो गई तब क्या होगा? उस भयावह दुःखद घटना से बचने के लिए ही रातों-दिन वह प्रयत्नशील रहता है। जीवन का सारा संघर्ष मृत्यु से बचने और अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए ही किया जा रहा है। आप लोग गंभीरता से विचार करेंगे तो यह ज्ञात होगा कि जीवित रहने की चाह ही मनुष्य को अनवरत कर्मों में प्रवृत्त किये हुए है। उसके संपूर्ण प्रयत्नों का केवल एक ही प्रयोजन है— अपने अस्तित्व की सुरक्षा। यह एक ऐसी विकट समस्या है, जिसके समुचित समाधान के बिना न तो मनुष्य को कभी शान्ति ही मिल पायेगी और न सुख ही। एक दिन यहाँ टेलीविज़न पर एक ईसाई पादरी अपने सिद्धांत की व्याख्या करते हुए बता रहा था कि हम शरीर, मन और आत्मा को भिन्न-२ नहीं मानते। शरीर की मृत्यु के साथ ही माइन्ड और सोल की भी मृत्यु हो जाती है और आखिरी न्याय के दिन परमात्मा की आवाज़ सुनकर पुनः उस कबर से शरीर के सथ ही मन और जीवात्मा भी उठ खड़े हो जायेंगे। जीसस क्राइस्ट में विश्वास रखने वाले प्रभु की कृपा के भाजन बन जायेंगे और वे उनकी कृपा से ही परमात्मा के ईश्वरीय राज्य में स्थान प्राप्त कर लेंगे, किन्तु जो लोग प्रभु यीशु में विश्वास

नहीं करते, वे कुछ दिन अवश्य ही पश्चाताप करेंगे और सदा के लिए उस जलते हुए नरक में फेंक दिये जायेंगे। पादरी का कहना था कि मनुष्य को चाहिए कि वह उस न्याय के दिन से डरे और नरक की घोर यातना से बचने के लिए प्रभु यीशु में विश्वास करे, अन्यथा उस न्याय के दिन उसके पास पश्चाताप के सिवाय कुछ नहीं होगा। संक्षेप में यही ईसाई मत की मान्यता है और केवल ईसाई ही नहीं, यहूदी और इस्लाम मज़हब का भी यही मूल विश्वास है। उनमें केवल अन्तर इतना ही है कि जहाँ पर ईसाई प्रचारक प्रभु यीशु में विश्वास करने वालों के लिए न्याय के दिन के पश्चात् स्वर्गीय साम्राज्य मिलने का आश्वासन देते हैं, वहाँ पर यहूदी प्रचारक प्रभु मोसेस में तथा इस्लाम के प्रचारक हज़रत मुहम्मद में विश्वास व ईमान लाने की सीख देते हैं।

मेरे विचार से मनुष्य के जीवन की भयावह समस्या इन विश्वासों और न्याय के पश्चात् मिलने वाले स्वर्गीय सुखों के आश्वासनों से सुलझने वाली नहीं। भला, आप सोचिये, इन विश्वासों के अनुसार क्या मनुष्य अपनी सत्ता मृत्यु से बच सकता है? मृत्यु के पश्चात् उसी अवस्था में अनिश्चित काल तक मिट्टी में दफ्ने रहने और न जाने कब आने वाले न्याय के दिन की इन्तज़ार करते रहने का आश्वासन वर्तमान के मनुष्य को उस महाभय से कैसे मुक्त कर सकेगा? न्याय का दिन कब आयेगा, इसकी निश्चित अवधि अब तक उसमें विश्वास रखने वाले किसी भी विद्वान् ने बताने का साहस नहीं किया है। यदि यह मान लिया जाये कि जिस सौर्यमण्डल में हम लोग रह रहे हैं, जब उसकी अवधि पूर्ण हो जायेगी, वह विनष्ट हो जायेगा, तभी न्याय का दिन आयेगा तो यह दुःखद स्थिति और भी अधीर बना देगी, क्योंकि सम्पूर्ण सौर्यमण्डल के विनाश की बात तो कल्पना से परे है। वैज्ञानिकों ने जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसी की आयु सहस्रों, लाखों, करोड़ों नहीं बल्कि अरबों वर्ष और अधिक बताई है। भला; मृत्यु के पश्चात् मिट्टी के नीचे कोफीन में अरबों वर्ष तक पड़े रहना कौन चाहेगा? थोड़ी देर के लिए यदि किसी विश्वास के अनुसार, उसके पश्चात् स्वर्गीय सुख प्राप्त होने की बात सत्य भी मान ली जाये तो इससे वर्तमान जीवन के अस्तित्व की तो सुरक्षा नहीं हो जाती? उस भयावह मृत्यु से तो छुटकारा नहीं मिल जाता? आइये, वैदिक विज्ञान के प्रकाश में पहले मृत्यु और उसके यथार्थ स्वरूप को समझ लें, फिर उससे बचने के उपाय पर विचार करेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु से डरता है, मरना नहीं चाहता क्योंकि वह देखता है कि मरने वाले अपने सभी सगे-सम्बन्धियों, प्रियजनों एवं प्रिय पदार्थों को सदा के लिए छोड़ कर चले जाते हैं और फिर वे कभी उनसे मिलने, उन्हें देखने तथा उन

पदार्थों को भोगने के लिए वापिस नहीं आते। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मृत्यु के द्वारा प्रियजनों और प्रिय पदार्थों से सदा के लिए हो जाने वाला वियोग ही उसके भयभीत होने में कारण बनता है। कुछ लोग मृत्यु का अर्थ परिवर्तन मानते हैं किन्तु यह परिवर्तन सदैव भयदायक नहीं होता, क्योंकि उसमें प्रियजनों एवं प्रियपदार्थों से वियोग की संभावना नहीं होती। शिशुकाल से लेकर वृद्धावस्था तक प्रतिपल परिवर्तन में ही मनुष्य जीता है किन्तु उससे अपने प्रियजनों तथा प्रियपदार्थों से वियुक्त नहीं हो जाता और न तो उसके लिए दु:खी एवं भयभीत होता है। इससे यह निश्चित होता है कि केवल परिवर्तन का नाम ही मृत्यु नहीं, मृत्यु इससे सर्वथा भिन्न घटना है। इसीलिए तों प्रतिपल परिवर्तन में जीने वाला व्यक्ति भी मृत्यु की सम्भावना मात्र से भयभीत हो कांपने लग जाता है। यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ कि इस सृष्टि में अब तक हमने कोई अमर व्यक्ति नहीं देखा, फिर भी हम मृत्यु से मुक्ति पाकर अमर होने की चाह रखते हैं और यह चाह ऐसी नहीं है कि किसी देश, काल, परिस्थिति में इसका त्याग हो सके। यहाँ एक प्रश्न और भी उत्पन्न होता है कि क्या कभी नाशवान पदार्थों में अविनाशी होने की चाह वा कामना उत्पन्न हो सकती है? हम देखते हैं कि केवल मनुष्य ही नहीं इस सृष्ट जगत् का कोई भी जीव मरना पसन्द नहीं करता। सभी जीवों में मृत्यु से बचे रहने वा अमर रहने की चाह स्वाभाविक है, सहज है। सत्कार्यवाद का यह सिद्धान्त है कि जो तत्त्व कारण में नहीं है, उसकी अभिव्यक्ति कभी भी कार्य रूप में नहीं हो सकती। यदि मृत्यु सृष्टि का स्वाभाविक धर्म है तो उससे बचा नहीं जा सकता। मृत्यु यदि जीवों की स्वाभाविक नियति है तो वे कभी भी उससे बच नहीं सकते। इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि मृत्यु यदि जीवन का अंत है, उसका सहज धर्म है तो उसके विपरीत जीव में कभी भी अमर होने की चाह उत्पन्न नहीं हो सकती किन्तु यह सभी का अपना अनुभूत सत्य है कि वह सदैव जीवित रहने के लिए, अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए प्रतिपल प्रयत्नशील रहता है, सदैव उससे बचने का उपाय करता रहता है।

जो लोग ऐसा मानते हैं कि शरीर के साथ ही मन और आत्मा की भी मृत्यु हो जाती है और करोड़ों वर्ष बाद वह पुन: जीवित हो जाता है तो भला उनके पास ऐसा कौन सा यंत्र है, ऐसी कौन सी विधि है, जिससे वे यह निश्चित कर लेते हैं कि करोड़ों वर्ष पूर्व में मृत्यु का ग्रास बना हुआ वह शरीर, वह मन वा आत्मा ही पुन: उस रूप में उठ खड़ी हो गई है? इस वैज्ञानिक युग में तो मेरे विचार से इस प्रकार के विचार के लिए कोई स्थान नहीं हैं। यह सभी जानते हैं कि हमारा

शरीर परमाणुओं का संघात मात्र हैं। मृत्यु के पश्चात् कुछ काल में ही वे परमाणु बिखर कर अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। रही बात मन और आत्मा की, तो इस प्रकार से उन मज़हबों में विश्वास रखने वाले लोग उससे भिन्न, उसके होने की कल्पना ही नहीं करते। यदि मन और आत्मा शरीर से भिन्न हैं तो मृत्यु के पश्चात् शरीर के बिखर जाने पर उन्हें अवश्य ही कहीं अन्यत्र आश्रय लेना होगा और यदि वे शरीर के ही भाग हैं तो मृत्यु के पश्चात् शरीर के साथ ही उनका अस्तित्व भी सदा के लिए समाप्त हो जायेगा। यही विवेकसंगत तथा तर्कसंगत सत्य है। यदि कोई विवेक, तर्क अथवा युक्तियुक्त निर्धारित सत्य को स्वीकार नहीं करना चाहता, तो बात अलग है किन्तु यदि कोई विवेक का प्रयोग करते हुए सत्य को समझना चाहे तो उसे इस सम्बन्ध में केवल एक ही बात निश्चित करनी होगी-- या तो वह शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता स्वीकार कर शरीरान्त के पश्चात्, उसकी स्थिति को माने वा शरीर को ही आत्मा रूप में स्वीकार कर उसके नाश के साथ ही आत्म नाश को निश्चित मान ले। प्रबुद्ध मानव समाज में इन दोनों प्रकार की मान्यताओं का अस्तित्व अनादि काल से चला आ रहा है। प्राचीनतम साहित्य में इन दोनों प्रकार की मान्यताओं का दर्शन होता है। शरीर से भिन्न आत्मा को स्वीकार करने वाले, उसकी नित्य सत्ता में विश्वास करते हैं और शरीर के संघात को चेतन का हेतु मानने वाले शरीर को ही आत्मा मान उसके विनाश के साथ ही आत्म विनाश की कल्पना करते हैं। दार्शनिक भाषा में एक को अस्तिक और दूसरे को नास्तिक कहा जाता है।

वर्तमान में भौतिकवाद एवं साम्यवाद के जन्मदाता कार्लमार्क्स आदि भौतिकवाद के ही समर्थक हैं। भारत में भी आचार्य बृहस्पति तथा उनके आनुयायी चार्वाक आदि बौद्ध सम्प्रदाय में--"सर्वंशून्यं सर्वं क्षणिकं" मत को मानने वाले बहुत कुछ सीमा तक भौतिकवाद के ही अनुयायी रहे हैं, किन्तु उससे भिन्न वैदिक ब्रह्मविद्या विज्ञान के कोष विपुल उपनिषद् साहित्य, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त,शैव, वैष्णव, शाक्त, पाशुपत्य मत के प्रतिपादक सम्पूर्ण आगमशास्त्र तथा जैन एवं महायान सम्प्रदाय के अनुयायी बौद्ध, ये सभी शरीर से भिन्न आत्मा की नित्य सत्ता स्वीकार करने वाले आस्तिक मत कहे गये हैं। चींन के ताओ, कन्फूशियस, परशिया के जरथ्रुस, प्राचीन युनान के सुकरात, प्लेटो, अरस्तु तथा पश्चिम के भी कई अन्य दार्शनिक इस आस्तिकवाद के समर्थक एवं प्रचारक रहे हैं। यह याद रहे कि यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम मज़हबों के द्वारा जिस सिद्धांत को स्वीकार किया गया

है, दार्शनिक दृष्टि से वे न तो भौतिकवाद की श्रेणी में आते हैं और न अध्यात्मवाद की। यद्यपि इन मान्यताओं में युक्ति और तर्क आदि के लिए कोई स्थान नहीं है, फिर भी ये उनके विश्वास हैं, उनमें तर्क करना निरर्थक है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से आप लोग समझ गये होंगे कि मृत्यु किसी को प्रिय नहीं है क्योंकि वह आत्मा के सहज स्वभाव वा धर्म के विपरीत है, इसीलिए सभी को मृत्यु शब्द ही अप्रिय लगता है। आप लोग जानते हैं कि किसी के लिए भी इस शब्द का प्रयोग करना गाली समझा जाता है, पर इतने मात्र से ही मृत्यु की समस्या हल नहीं हो जाती। यद्यपि कोई मरना नहीं चाहता किन्तु मृत्यु अनिवार्य है, प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में इस जीव की नित्य आन्तरिक अमरत्व की मांग, नित्यत्व की चाह, कैसे पूर्ण की जा सकती है? यह एक गंभीर समस्या है, इसी समस्या के समाधान में ईशोपनिषद् के आगे के तीन-तीन करके छः मंत्रों का प्रयोग है। इसका पहला मंत्र है-

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः।।

(ईशा० 9)

इसका सरल अर्थ है कि जो अविद्या की उपासना करते हैं,वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में रत हैं, वे तो उनसे भी अधिक अंधकार में जाते हैं। इस मंत्र में अविद्या और विद्या, ये दोनों शब्द किस तत्त्व का अवबोधन करा रहे हैं, इस विषय में आचार्यों के भिन्न-2 मत हैं। किसी ने अविद्या को कर्म और विद्या को शास्त्रज्ञान मान कर अर्थ किया, किसी ने अविद्या को कर्म और विद्या को हिरण्यगर्भ आदि देवों की उपासना मान कर अर्थ किया है। किसी ने अविद्या को अज्ञान और विद्या को ज्ञान मान कर अर्थ किया है। यह अविद्या और विद्या शब्द वैदिक साहित्य में किन-2 अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, इसे भी आप लोग ध्यान में रख लें। मेरे विचार से तभी इस उपनिषद् में इन शब्दों का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है, यह बात समझ आ सकेगी। विद् धातु से विद्या शब्द निष्पन्न होता है और यह धातु भिन्न-2 तीन गणों में पाई जाती है। इसके तीन अर्थ होते हैं—विद् सत्तायाम्, विद् ज्ञाने, विद् प्रापने अर्थात् सत्ता, ज्ञान और प्राप्ति। आगे इसके शब्द बनते हैं—विद्यते, वेद और विद्या तथा विन्दते। यहाँ पर , इस मंत्र में विद्या और अविद्या शब्द एक दूसरे के विपरीत भाव प्रकट करते हैं। विद्या का अर्थ विद्यमान अथवा स्थाई रहने वाला तथा ज्ञान है और अविद्या का अर्थ अविद्यमान, स्थाई न रहने वाला तथा अज्ञान है। संस्कृत साहित्य में अविद्या

शब्द भिन्न-2 अर्थों में प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। विष्णुपुराण के छटे अंश के सातवें अध्याय में अविद्या शब्द भिन्न-2 अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, वहाँ पर कहा गया है-

तदिदं ते मनो दिष्ट्या विवेकैश्वर्यतां गतम्।
तच्छ्रूयतामविद्यायास्स्वरूपं कुलनन्दन।।
अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या मतिः।
संसारतरुसम्भूतिबीजमेतद्द्विधा स्थितम्।।

महाराज केशिध्वज खाँडिक्य को समझाते हुए कहते हैं, "हे कुलनंदन! यह बड़ी ही प्रसन्नता की बात है कि तुम्हारा मन विवेक रूप ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ है, अतः तुम अविद्या का स्वरूप सुनो। संसार वृक्ष को उत्पन्न करने वाली बीज- रूपा यह अविद्या दो प्रकार की है-अनात्मा में आत्म बुद्धि और जो अपना नहीं है उसे अपना मानना।" इसी अध्याय में आगे राजा केशिध्वज कहते हैं-

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ।।

परमात्मा विष्णु की शक्ति परा कही जाती है। क्षेत्रज्ञ नाम उसकी अपराशक्ति का है और उसकी कर्म नाम की तीसरी शक्ति अविद्या कहलाती है। विष्णुपुराण के अनुसार अविद्या शब्द के तीन अर्थ होते हैं-प्रथम अनात्मा में आत्म बुद्धि, द्वितीय जो अपना नहीं है उसे अपना मानना और तीसरा कर्म। विष्णुपुराण के आधार पर ही आचार्यों ने इस मंत्र में अविद्या शब्द का अर्थ कर्म और विद्या शब्द का अर्थ ज्ञान किया है। सांख्य दर्शन में अविद्या को पंचपर्वा कहा गया है- 'पंचपर्वा अविद्या', वह अविद्या पाँच पोरों वाली है। पोर कहते हैं गांठ को अर्थात् यह अविद्या पाँच गांठों वाली है। ये पोर कौन-2 से हैं, इसकी व्याख्या करते हुए बताया है तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र। इनमें तमस् कारण है, उससे ही मोह आदि चार अन्य विकार उत्पन्न होते हैं। सांख्यशास्त्र में तमस् को ही अविद्या कहा गया है और उसके आठ भेद बताये गये हैं। प्रकृति, महत्, अहंकार तथा पंच महाभूत, इन आठ अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि ही अविद्या के आठ भेद हैं। योगदर्शन में पंच क्लेशों का वर्णन है और उसमें अविद्या का प्रथम स्थान है। महर्षि पतंजलि के अनुसार-

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनु विच्छिन्नोदाराणाम्।

(योग सू० 2/4)

अविद्या से ही अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूपी क्लेशों का जन्म होता

है। ये चार अन्य क्लेश प्रसुत, सूक्ष्म वा प्रबल रूप से अविद्या में ही निवास करते हैं। योगदर्शन में जड़-चेतन के संयोग में भी अविद्या ही हेतु बन रहा है। यहाँ अविद्या का अर्थ है विपरीत ज्ञान वा आत्मा का अनात्म पदार्थों में तादात्म्य भाव। अन्य उपनिषदों में भी अविद्या और विद्या शब्द का प्रयोग हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही हमें इन शब्दों का दर्शन होता है। उपनिषद् कहती है--

तेन उभौ कुरुतो यश्च एतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खलु एतस्यैव अक्षरस्य उपव्याख्यानं भवति।। (छांदो० 1/10)

"जो ऐसा जानता है और जो ऐसा नहीं जानता, वे दोनों ही उस उद्गीत् के आधार से ही कर्मानुष्ठान करते हैं। विद्या और अविद्या, ये दोनों ही अभिन्न हैं। जो ज्ञानपूर्वक और श्रद्धापूर्वक कर्मानुष्ठान किया जाता है, वह अधिक वीर्यशाली, तेजशाली होता है, ये इस अक्षर का ही थोड़े में व्याख्यान है।" यहाँ पर जो पहले-"**एतत एवं वेद यश्च न वेद**", ऐसा कहा गया है, उसी को आगे स्पष्ट किया है--"**नाना तु विद्या च अविद्या च**"। अभिप्राय यह है कि यहाँ पर विद्या और अविद्या दोनों शब्दों का अर्थ है जानना और न जानना, ज्ञान और अज्ञान क्योंकि आगे इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है--"**यत् एव विद्यया करोति, तत् एव वीर्यवत्तरं भवति**", जो विद्या द्वारा किया जाता है, वह वीर्यशाली होता है। यहाँ पर ज्ञानयुक्त किया गया कर्म और अज्ञान युक्त किये गये कर्मों के परिणाम में अन्तर बताया है। ज्ञान द्वारा किये गये कर्म प्रभावशाली, शक्तिशाली होते हैं और अज्ञान में किया गया कर्म निर्बल वा सामर्थ्य हीन हुआ करता है। यहाँ पर मैं एक बात और बता देना चाहता हूँ कि यदि कर्म स्वयं में अविद्यास्वरूप होता तो विद्या के प्रकाश में उसका अनुष्ठान होना संभव न होता। यहाँ इस मंत्र में अविद्या शब्द अज्ञान और विद्या शब्द ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आगे भी इसी अर्थ में विद्या शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे--"देवा वै मृत्योर्विभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्रविशन्"--"देवता लोग मृत्यु से भयभीत होकर त्रैविद्या में प्रवेश कर गये"। इसी प्रकार आगे विविध प्रकार की विद्याओं में प्रयुक्त हुआ विद्या शब्द उनसे सम्बन्धित ज्ञान का ही अवबोधन कराता है। जैसे देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, शस्त्रविद्या, नक्षत्रविद्या, देवजनविद्या आदि। विद्या शब्द के साथ लगा हुआ 'अ' उपसर्ग निषेधात्मक

होने से उस विषय का ज्ञान न होने का ही संकेत करता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी विद्या और अविद्या शब्द का प्रयोग हुआ है, वह प्रायः इन्हीं अर्थों का अवबोधन कराता है, किन्तु एक स्थान पर विद्या और अविद्या शब्द का प्रयोग इससे भिन्न अर्थ में भी देखा जाता है। वहाँ पर आत्मा के उत्क्रमण की बात समझाई गई है और उसमें बताया गया है कि अन्तिम समय में यह आत्मा इस शरीर को छोड़ कर नेत्र से, मूर्धा से अर्थात् शरीर के किसी अंग भाग से बाहर निकलता है और उसके उत्क्रमण समय पर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है। उस समय यह आत्मा विशेष ज्ञानवान होता है। श्रुति कहती है—

स विज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।

(बृहदा० 4/4/2)

उस समय वह आत्मा विज्ञानवान् होकर विज्ञानयुक्त प्रदेश को ही प्राप्त होता है। उसके साथ विद्या, कर्म और पूर्व प्रज्ञा भी जाती है। यह प्रज्ञा शब्द अनुभूत ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और विद्या शब्द ज्ञान के अर्थ में। इसी प्रसंग में आगे कहा है कि जिस प्रकार से जोंक एक तृण के अन्त में पहुँचकर दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़कर अपने को सिकोड़ लेती है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को मारकर अविद्या को प्राप्त कराकर दूसरे आधार का आश्रय ले अपना उपसंहार कर लेता है। दूसरा उदाहरण दिया है—जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण का भाग लेकर दूसरे नवीन और अधिक सुन्दर आभूषण की रचना करता है उसी प्रकार यह आत्मा—

इवँ शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वाऽन्यंन्नवतरं कल्याणतरँ रूपं कुरुते।

(बृहद० 4 4/4)

इस शरीर को नष्ट कर अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे नवीनतर, कल्याणकारी रूप की रचना करता है। इस मंत्र में "अविद्या गमयित्वा" का अर्थ विद्वानों ने शरीर का अचेतनावस्था को प्राप्त कराना ही किया है। कहने का अभिप्राय कि इस मंत्र में अविद्या माने विपरीत ज्ञान नहीं है। यहाँ पर उसका अर्थ चेतनशून्य वा अचेतन अवस्था है। इसी उपनिषद् में आगे एक प्रसंग और आता है जिसमें यह बताया गया है कि—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततरल भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रतः।।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाँसोऽबुधो जनाः।।

(बृहदा० 4/4, 10/11)

इसमें प्रथम मंत्र तो ईशोपनिषद् का ही है और दूसरा बृहदारण्यंक का अपना। आप लोगों को यह भी बता दूँ कि यह बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण का एक भाग है और शतपथ ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेद का ब्राह्मण अर्थात् उसका भाष्य है। आप लोगों को पहले ही बता चुका हूँ कि वेद के मंत्र भाग को संहिता कहते हैं और उस पर जो ऋषियों के द्वारा लिखित भाष्य वा उसकी व्याख्या है, उसे ब्राह्मण कहते हैं। सनातन धर्म में मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद शब्द से अभिहित किया जाता है किन्तु कई संप्रदाय केवल मंत्र भाग को ही वेद मानते हैं, ब्राह्मण भाग को नहीं। यह ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद काण्वशाखा का 40 वां अध्याय है। शतपथ ब्राह्मण का अंश होने से बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की ही उपनिषद् है। वह ईशोपनिषद् के रहस्यमय भावों को विस्तार रूप से उद्घाटित करती है। बृहदारण्यक में प्रयुक्त ये दो मंत्र विद्या और अविद्या के भावों को स्पष्ट करने में बहुत ही उपयोगी हैं। इसमें पहले मंत्र का अर्थ तो वही है जो पहले बताया जा चुका है, किन्तु दूसरे मंत्र में उसको स्पष्ट करते हुए श्रुति कहती है, अनंद नाम की निकृष्ट योनि वा नरक रूप लोक जो अज्ञान रूप अंधकार से आच्छादित हैं, वे अविद्वान् और अबुद्ध लोग मृत्यु के पश्चात् उन्हीं को प्राप्त होते हैं। इस मंत्र में अविद्या के अर्थ में ही अविद्वान् और अबुद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है और इसके विपरीत आत्मज्ञान के लिए कहा गया है—"ये तद्विदूरमृतास्ते भवन्ति," जो उसे जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में विद्या और अविद्या, इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है। उसमें कहा गया है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या; ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।।

(श्वेता० 4/5/1)

कई विद्वानों ने ब्रह्मपरे की जगह ब्रह्मपुरे पाठ माना है। मेरे विचार से ब्रह्म-पुरे वा ब्रह्मपरे, इन दोनों पाठों में जिस विषय का मैं प्रतिपादन करने जा रहा हूँ, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ने का। आचार्य शंकर इस मंत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं, ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ से परे अविनाशी और अनन्त ब्रह्म में जहाँ विद्या और अविद्या दोनों गूढ़ यानि अव्यक्त भाव से स्थित हैं, उन विद्या और अविद्या को

अलग-2 करके दिखाते हैं और कहते हैं—क्षरण हेतुः संसृति कारणं," यानि क्षरणधर्मा संसार की कारण तो अविद्या है और "अमृतं तुविद्या मोक्ष हेतुः", अमृत यानि मोक्ष की हेतु विद्या है और जो विद्या एवं अविद्या का शासन करता है, वह उनका साक्षी होने से उन दोनों से भिन्न है। किन्तु जिन आचार्यों ने इस मंत्र में ब्रह्मपरे की जगह ब्रह्मपुरे पाठ माना है, उन्होंने इसका अर्थ किया है अनन्त, अविनाशी ब्रह्मपुर में विद्या और अविद्या दोनों गुप्त रूप से निहित हैं। उसमें क्षर जो है वह अविद्या है और अमृत विद्या। विद्या, अविद्या दोनों का ईशन करने वाला परमेश्वर उनसे अन्य है। इसी उपनिषद् के एक दूसरे मंत्र में क्षर और अक्षर की व्याख्या करते हुए श्रुति कहती है—

क्षर प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद् योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।।

(श्वेता० 1/10)

क्षरधर्मा विनाशशील प्रधान है और अविनाशी अक्षर को हर कहते हैं। उस क्षर और आत्मा दोनों का नियमन करने वाला एक ही देव है। अभिप्राय यह है कि विनाशशीला प्रकृति और अमृतधर्मा अविनाशी जीवात्मा, इन दोनों का नियमन करने वाला एक ही देव है। उस देव के चिन्तन से, उसमें मन को लगाने से और उसके उस परमतत्त्व की भावना करने से प्रारब्ध की समाप्ति होने पर विश्व रूप माया की निवृत्ति हो जाती है। इस मंत्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि क्षर का अर्थ प्रधान वा प्रकृति है और अक्षर का अर्थ अविनाशी, अमृतपुरुष। प्रकृति और पुरुष दोनों का नियामक वह पुरुषोत्तम परमेश्वर है। क्षर वा प्रकृति को ही इस उपनिषद् में अविद्या कहा गया है और अमृत अक्षर पुरुष को ही विद्या। इस विद्या-अविद्या की विस्तार से व्याख्या करने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि इससे आप लोग ईशोपनिषद् के 9-10-11 मंत्रों में प्रयुक्त हुए विद्या और अविद्या के यथार्थ भाव को अच्छी प्रकार से समझ सकें। हाँ, इस मंत्र में दो शब्द और भी बड़े महत्त्व के हैं—उपासते और रताः। इनमें अविद्या के साथ उपासते का प्रयोग है ओर विद्या के साथ रताः का। जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे अंधकारमय घोर तम में प्रवेश करते हैं और उससे भी मानो अधिकतर अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं जो विद्या में रत हैं। वेद के मतानुसार अविद्या और विद्या, ये उपासना और अनुरक्ति के विषय नहीं। इनका यथार्थ प्रयोजन, इनकी यथार्थ उपयोगिता किसमें है, इसका उपदेश ग्यारहवें मंत्र में दिया गया है। यथार्थ रूप से तो विद्या और अविद्या के स्वरूप और प्रयोजन को जानने और समझने के लिए उनसे

सम्बन्धित तीनों मंत्रों का साथ-२ चिन्तन वा मनन करना होगा, क्योंकि दसवें मंत्र में ऋषि कहते हैं—

'अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इतिशुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।।

'विद्ययाअन्यतएवआहुः', विद्या से अन्य ही कहा गया है, 'अविद्या अन्यत् आहुः'— अविद्या से भी वह अन्य कहा गया है 'इति धीराणाम् शुश्रुम'—ऐसा धीर पुरुषों से मैंने सुना है—'ये नः तत् विचचक्षिरे',जिन्होंने हमें उस परम तत्त्व का भली-भाँति अवबोधन कराया है। यहाँ पर जिस तत् पदार्थ की व्याख्या मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने अपने प्रत्यक्षधर्मा गुरुजनों के द्वारा सुनी है तथा उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर जिस परमतत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव किया है, वह परमतत्त्व विद्या और अविद्या, इन दोनों से ही विलक्षण है। उस परमतत्त्व को जानने, पाने वा प्रत्यक्ष करने के लिए अविद्या की उपासना और विद्या में रति, ये दोनों ही महाबाधक हैं। अविद्या की उपासना तथा विद्या में रति तो साधक को घोर तथा घोरतर अन्धकार में ही ले जाता है।

आठवें मंत्र में जिस परम प्रकाशस्वरूप को प्राप्त हुए योगी की उच्चतम अवस्था का वर्णन है, उसे प्राप्त करने और मृत्यु के महाभय से विमुक्त हो अमृतत्त्व का उपभोग करने के लिए कौन सी साधना, कौन सी उपासना उपयुक्त है, किसका अवलम्बन लिया जाये, कौन सा उपाय श्रेष्ठ है, साधक के हृदय में यह जिज्ञासा सहज में ही उत्पन्न होती है। इस सृष्टि में उपलब्ध होने वाले दो ही तत्त्व हैं, इन दोनों में से किसी एक का ही आश्रय लेकर साधक अपने गन्तव्य तक पहुँचने की कोशिश करता है? श्रुति साधक को सावधान करते हुए बताती है कि इस दृश्य तथा अनुभूत जगत् कें जो पदार्थ हैं, वे क्षर और अक्षर तथा अविद्या और विद्या हैं। इनमें से किसी का भी अवलम्बन लेकर किसी की भी उपासना करके, किसी में भी अनुरक्त होकर, मनुष्य अपने परम प्राप्तव्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि वह परम तत्त्व क्षर और अक्षर, अविद्या और विद्या से परे है। इतना ही नहीं वह इनसे परे रहते हुए भी इन दोनों का नियामक है, वह एक अद्वैत सत्य है। यदि यथार्थ विधि से उसका अनुसंधान न किया गया, उसका चिन्तन न किया गया तो कभी भी इस जगत् जाल से विमुक्ति नहीं मिल सकती, कभी भी मृत्यु का अतिक्रमण नहीं हो सकता और कभी भी अमृतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यहाँ अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं क्योंकि दुनिया में कोई भी व्यक्ति अज्ञान की उपासना नहीं करता और न ही इसकी उपासना की आकांक्षा ही करता है। उपासना शब्द का अर्थ होता है अभीष्ट के पास स्थिति किन्तु किसी भी मनुष्य का अभीष्ट अज्ञान वा विपरीत ज्ञान नहीं। भला, कोई उसके सन्निकट स्थित होना क्यों चाहेगा? आचार्यों ने उपासना का एक अर्थ अनुवर्त्तन वा अनुगमन भी किया है किन्तु यह भी अर्थ अज्ञान के साथ नहीं जुड़ता क्योंकि कोई भी अज्ञान का वा विपरीत ज्ञान का अनुवर्त्तन करना नहीं चाहता। इसीलिए कई आचार्यों ने विष्णुपुराण के अनुसार इस अविद्या का अर्थ कर्म किया है और उनका कथन है कि जो लोग कर्म का अनुगमन करते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उस में आस्था रखकर उसका अनुष्ठान करते हैं, वे घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं। किन्तु जो विद्या अर्थात् त्रयी विद्या रूप वैदिक ज्ञान में रत रहते हैं, वे उससे भी घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं। यहाँ विद्या का अर्थ कर्मकाण्ड की प्रतिपादिका त्रयी विद्या से है, ऐसा उन आचार्यों का मत है। वेद के यथार्थ अभिप्राय को न जान केवल उसके विधि-निषेधात्मक वाक्यों में विश्वास रखना और तदनुसार स्वर्गादि की कामना से सकाम कर्मों में ही निरत रहना विद्या में रत होना है। ऐसे "वेद वादरताः" व्यक्तियों को भगवान् ने गीता में अचेतसा' अर्थात् हरि हुई बुद्धि वाला कहा है। जिसको गीता के दूसरे अध्याय में 'वेद वादरताः' कहा है, उसी को यहाँ श्रुति ने 'विद्यायां रताः' कहा है। ऐसा वेदवाद में आसक्त व्यक्ति अवश्य ही उस सकाम कर्मानुष्ठान करने वाले व्यक्ति से अधिक मोहांधकार में पड़ा हुआ है, यह एक निश्चित् सत्य है। सकाम कर्मानुष्ठान करने वाले अवश्य ही अबुद्ध हैं, तुच्छ हैं, कृपण हैं। भगवान् ने गीता में उन्हें "कृपणाः फल हेत्वः" फल की कामना वाले अत्यंत दीन हैं, ऐसा कहा है। किन्तु उनसे भी अधिक विमोहित बुद्धि वाले वे लोग हैं जो केवल वेदवाद में ही निरत रहते हैं, शास्त्र ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानकर उसी में संतुष्ट रहते हैं, इसीलिए श्रुति ने उन्हें कर्म के उपासकों से भी अधिक घोरतर अंधकार में प्रवेश करने वाला बताया है–"ततो भूय इवतेतमो य उ विद्यायां रताः।" क्योंकि कर्मासक्त व्यक्ति तो कभी अपनी यथार्थता को समझ, उसकी तुच्छता को अनुभव कर उससे विमुक्त होने के लिए प्रयत्नशील हो उचित मार्ग की खोज भी कर सकता है परन्तु ज्ञानाभिमानी अपने शास्त्रज्ञान के कारण कभी भी सत्यानुभूति के लिए प्रयत्नशील नहीं होता। गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में कहा है–

वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई।

निसि गृहमध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहीं होई।।

वाक्य ज्ञान में कोई कितना भी निपुण क्यों न हो, उससे पार नहीं जा सकता। जैसे अंधेरी कोठरी में बैठकर दीपक की कथा कहने मात्र से उजाला नहीं होता, वैसे ही शास्त्र ज्ञान की व्याख्या करने मात्र से आत्म प्रकाश की उपलब्धि नहीं होती। विद्युत् की व्याख्या मात्र से, उसके उत्पादन की थयूरी की व्याख्या मात्र से लाइट की प्राप्ति संभव नहीं होती। ऋग्वेद का एक मंत्र है, जिसमें कहा है–

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते।

(ऋक् 1-164-39)

जिसमें समस्त देवगण अधिष्ठित हैं, उस अविनाशी परम व्योम में ही समस्त ऋचाऐं स्थित हैं। उस परमात्मा को जो नहीं जानता, वह इन वेद की ऋचाओं से क्या कर लेगा? जो उसे जानते हैं वे सम्यक् प्रकार से उसी में स्थित हो जाते हैं। सारांश यह कि वेद की इन ऋचाओं का पाठ वा स्मरण मात्र ही आत्म प्रकाश मे हेतु नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद् में देवर्षि नारद ने सनतकुमार के समक्ष स्वयं इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहा है–

सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मवित। श्रुतं ह्येव मे भगवद् दृशेभ्यः। तरति शोकं आत्मवित।।

हे भगवन्: मैं मंत्रवेत्ता ही हूँ, आत्मेवत्ता नहीं और भगवन्, मैंने ऋषियों से सुना है कि आत्मवेत्ता ही शोक से तर जाता है, मंत्रवेत्ता नहीं।"

इससे आपलोग समझ गये होंगे कि यदि कोई महात्मा नारद की तरह चारों वेदों, छः शास्त्रों, इतिहासपुराणादि सहित समस्त विद्याओं का भी ज्ञाता हो जाये, फिर भी वह उस परमतत्त्व परमात्मा की अनुभूति के अभाव में कभी भी शोक-मोह से विमुक्त नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र का कथन है–"पठन्ति सकला वेदाश्चेतिहासपुराणका आत्मानम् नैव जानन्ति दर्वीपाक रसं यथा।" सम्पूर्ण वेदों, इतिहासों, पुराणों को पढ़ लेने पर भी यदि कोई आतमतत्त्व का बोध प्राप्त नहीं किया, तो उसका शास्त्र ज्ञान ठीक उसी प्रकार का है जैसे कड़छी का विविध प्रकार के व्यंजन के विषय में होता है। अभिप्राय यह है कि जैसे षट्रस भोजन के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली कड़छी उनके रसों के ज्ञान से सर्वथा वंचित रहती है, उसी प्रकार से अनेकों शास्त्रों के पन्ने पलटने वाला तथा उनके मंत्रों, श्लोकों और वाक्यों को बार-बार दुहराने वाला व्यक्ति तत्त्व बोध के अभाव में उसके यथार्थ लाभ से वंचित ही रह जाता है।

तत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि वह परम तत्त्व अनुभूति का विषय है, वाणी का विषय नहीं। "यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सः। आनंदं ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन।।" मन के सहित वाणी उसे न पाकर जहाँ से लौट आती है, उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जानने वाला पुरुष कभी भी भयभीत नहीं होता। निर्भय पद को प्राप्त करने के लिए शास्त्र ज्ञान की नहीं, आत्मज्ञान की आवश्यकता होती है। इसीलिये ऋग्वेद कहता है—"यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति," जिसने उस परम तत्त्व को नहीं जाना वह ऋचाओं से क्या करेगा? मंत्र ज्ञान से क्या करेगा? ऐसे विद्यारत पंडितों के लिए ही मुंडक की श्रुति कहती है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

(मुण्डक० 1/2/8)

अविद्या में स्थित होकर भी अपने आपको बुद्धिमान और पंडित मानने वाले मूढ़ लोग बार-२ कष्ट सहन करते हुए सदैव भटकते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे अंधे के द्वारा ले जाये जाने वाला अन्धा भटकता रहता है। यहाँ पर भी कुछ आचार्यों ने "अविद्या यामन्तरे वर्तमानाः" का अर्थ सदैव कर्मों में वर्तने वाला किया है। किन्तु मेरे विचार से यहाँ अविद्या का अर्थ अज्ञान वा कर्म नहीं है क्योंकि इस मंत्र में उस शास्त्राभिमानी के विषय में श्रुति उपदेश कर रही है, जो स्वयं को धीर और पंडित समझता है और सदैव अविद्या में ही वर्तता रहता है, उसी को सत्य मानकर उसी में लगा रहता है। यहाँ अविद्या का अर्थ है अचेतन प्रकृति। मुंडक उपनिषद् में हमें विद्या के दो स्वरूपों का दर्शन होता है। आचार्य शिष्य को समझाते हुए कहता है कि—.

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।।

(मुण्डक० 1/1/4)

ब्रह्म को जानने वाले इस प्रकार निश्चय पूर्वक कहते आये हैं कि दो विद्यायें ही जानने योग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा। उनमें चारों वेद और छओं वेदान्त, ये सब तो अपरा विद्या हैं और "**अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते**" जिससे वह अक्षर, अविनाशी ब्रह्म तत्त्वतः जाना जाता है, वह परा विद्या है। यहाँ अपरा और परा, ये विद्या के ही दो भेद हैं। इनमें शास्त्र ज्ञान वा वैदिक ज्ञान को अपरा विद्या शब्द से ही संवोधित किया गया है। अपरा का अभिप्राय होता है इस कार्य ब्रह्म से सम्बन्धित, सृष्ट जगत् से संबंधित, त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सम्बन्धित विद्या। वर्तमान में जो कुछ भी विज्ञान के नाम से प्रचलित है, समस्त प्राकृतिक पदार्थों तथा प्राणियों से संबंधित जो कुछ भी जानने योग्य है, वह सब उसी अपरा विद्या का अंग है,

सब कुछ उसी में समाहित है। वेदविद्या के विषय में गीता में प्रभु का कथन है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

(गीता 2/45)

हे अर्जुन! सम्पूर्ण वेद तीनों गुणों को ही विषय करने वाले हैं अर्थात् त्रिगुणात्मक समग्र सृष्टि तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं, इसलिए तू निस्त्रैगुण्य हो जा, तीनों गुणों से परे हो जा। जो तीनों गुणों से परे हो जाते हैं वे ही परा विद्या के अधिकारी होते हैं अन्यथा जो अपरा विद्या में वा वेदवाद में ही रत रहते हैं, वे तो घोरतर अंधकार में ही प्रवेश पाते हैं।

जैसा कि पहले आप लोगों को छांदोग्य में वर्णित देवर्षि नारद और सनत्कुमार के संवाद में बताया जा चुका है कि महात्मा नारद कहते हैं, मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, कल्प, गणित, नक्षत्र विद्या, भूगर्भ विद्या, तर्क शास्त्र, नीति शास्त्र, प्रकाशमय तत्त्वों का ज्ञान, शिक्षण शास्त्र, भूत विद्या, राजनीति, ज्योतिष, सर्प विद्या, देव विद्या, जन विद्या आदि सभी विद्याओं का अध्ययन किया है। मैं मंत्रविद् हूँ किन्तु आत्मविद् नहीं। वे सभी ज्ञेय तत्त्वों के ज्ञाता तो थे, दृश्य तत्त्वों का ज्ञान तो था किन्तु द्रष्टा का ज्ञान नहीं था, ज्ञाता का ज्ञान नहीं था। जो कुछ जाना जा सकता है उन सबको तो वे जान चुके थे किन्तु उन सबको जानने वाला कौन है, इसका ज्ञान उन्हें नहीं था और बिना उस जानने वाले का ज्ञान हुए ज्ञाता कभी भी अमृतत्त्व का भोक्ता नहीं हो सकता और न वह मृत्यु से ही मुक्त हो सकता है। इसीलिए तो बृहदारण्यक् में याज्ञवल्क्य कहते हैं-

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः।

आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने योग्य है। इसके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं, जो सुनने, देखने, मनन करने और निदिध्यासन करने योग्य हो। उसी श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है, जो उस परम तत्त्व को जानने का प्रयत्न न कर इस त्रयीविद्या में ही रत हैं, वे उनसे भी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो अविद्या के उपासक हैं। भगवान् शंकराचार्य विवेक चूड़ामणि में कहते हैं—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये।।

(वि०चू० ६०)

विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों का धारा प्रवाह प्रयोग, शास्त्र व्याख्यान की कला और विद्वता भोग ही का कारण हो सकती है मोक्ष का नहीं। मोक्ष तो केवल आत्मज्ञान वा ब्रह्मज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। भारत में ऐसे बहुत से तत्त्वद्रष्टा महापुरुष ब्रह्मज्ञ संत हुए हैं जिन्हें शास्त्र ज्ञान का किंचित् भी बोध नहीं था। संत कबीर, गुरुनानक, संतरविदास, नामदेव ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता ओं के उदाहरण हैं। भारत के एक महान् संत जिन्होंने अभी कुछ वर्ष पूर्व ही शरीर छोड़ा है उनका नाम था श्री स्वामी शरणानंद जी महाराज। वे प्रज्ञाचक्षु थे। जब उनसे कोई शास्त्र की बात पूछता तो कहते—भई ! मैं अंधा हूं, मैंने शास्त्र नहीं पढ़े हैं, शास्त्र की बात नहीं, तुम अपनी बात करो, अपने जीवन की बात करो और उस विषय में जो कुछ भी जानना चाहते हो उससे सम्बन्धित प्रश्न करो। मैं उन महापुरुष के बहुत ही निकट रहा हूँ, मुझ पर उनका अगाध वात्सल्य था। यथार्थतः वे हमारे प्राचीन परम्परा के ऋषियों के प्रत्यक्ष उदाहरण थे। गूढ़तम विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों का इतना युक्तियुक्त सटीक उत्तर देते थे कि किसी शास्त्रज्ञ के लिए भी सुगम न था। मैं कई बार उनसे इस विषय में चर्चा किया करता था। जब वे किसी सिद्धान्त की बात करते हुए कहते—ये शास्त्र की बात नहीं है, मेरी अपनी बात है तो मैं उनसे कहा करता था—आपकी बातें जो हैं बिल्कुल ठीक हैं। आपने शास्त्र भले न पढ़ा हो किन्तु आप कोई बात ऐसी नहीं कहते जो पहले से ही शास्त्र में न हो। जैसे आप अपने अनुभव की बात कहते हैं ऐसे शास्त्र भी तत्त्ववेत्ता महर्षियों की अनुभूति का ही संकलन है और दुनिया में कोई भी ऐसी अनुभूति नहीं हो सकती जिसके लिए कहा जाये कि यह बिल्कुल नई है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि शास्त्रीय ज्ञान से रहित व्यक्ति भी साधन एवं गुरुप्रदत्त विधि से अनुसंधान द्वारा आत्मवेत्ता, तत्त्ववेत्ता हो सकता है किन्तु शास्त्रज्ञ तत्त्वज्ञ भी होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसलिए विद्या और अविद्या के अर्थ में कर्म और शास्त्रज्ञान की बात कही गई है। कर्म की उपासना और शास्त्र ज्ञान में रति दोनों को परिणामतः घोर अंधकार और घोरतर अंधकार में प्रवेश करने में हेतु बताया गया है। मेरे विचार से इसे आप लोग अब अच्छी प्रकार समझ गये होंगे। मैंने इस विवेचन में अविद्या का अर्थ अज्ञान, विपरीतज्ञान, कर्म, अचेतन और क्षर प्रकृति बताया है और विद्या का अर्थ ज्ञान, शास्त्र ज्ञान, देवोपासना, अक्षर और चेतन बताया है। वैदिक साहित्य में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थों में इन दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। ईशोपनिषद् के नवें मंत्र में जो विद्या और अविद्या शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे यहाँ किस अर्थ का अवबोधन कराते हैं, इस विषय में भी आचार्यों एवं विद्वानों का जो

मन्तव्य है वह आप लोगों को बता दिया है। इस सम्बन्ध में मेरी राय है कि इन दोनों शब्दों का अर्थ करते हुए इनसे सम्बन्धित हमें इन तीनों मंत्रों पर गंभीरता से विचार करना चाहिए, तभी इनके यथार्थ अभिप्राय को समझा जा सकता है अन्यथा नहीं।

वैदिक अर्थ के ज्ञाता ऋषियों का कथन है कि वेदमंत्रों का अर्थ करते समय उनके शब्दों के प्रकृति एवं प्रत्यय पर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि वैदिक शब्द रूढ़ नहीं, यौगिक हैं, इसलिए उनके यौगिक अर्थ करने पर ही उनमें निहित रहस्यों का बोध हो सकेगा अन्यथा नहीं। विद्या और अविद्या शब्दों पर जब हम विचार करते हैं तो उनके धातुज अर्थ का हमें दो रूपों में बोध होता है। विद्या शब्द का प्राकृत अर्थ बोधात्मक और सत्तात्मक है। विद्या वह तत्त्व है जिसकी नित्य सत्ता है और जिसमें सहज बोध है। अविद्या वह तत्त्व है जिसमें स्वभावतः ये दोनों वैशिष्ट्य नहीं हैं। न तो उसकी नित्य स्वतंत्र सत्ता ही है और न उसमें स्वभावतः बोध ही। जैसा कि मैंने आप लोगों को पहले ही बताया है कि श्वेताश्वतर की श्रुति अविद्या को क्षर और विद्या को अमृत बताती है और उसीकी दूसरी श्रुति क्षर को प्रधान और अक्षर को अमृतहर कहती है। इससे यही ज्ञात होता है कि अविद्या का अर्थ यहाँ कर्म नहीं, विपरीत ज्ञान नहीं, अनात्मा में आत्मा की भ्रान्ति नहीं बल्कि अचेतन, क्षरणशीला,प्रधान वा प्रकृति है और उसी प्रकार से विद्या का अर्थ यहाँ शास्त्र ज्ञान वा हिरण्यगर्भ आदि देवताओं की उपासना वा विविध विषयों से सम्बन्धित विद्या नहीं, उसका अर्थ यहाँ नित्य, शाश्वत, अक्षर, अमृतमय चेतन है। इन दोनों शब्दों का स्पष्ट अर्थ जब हमें वैदिक मंत्रों में ही प्राप्त हो जाता है तो उसके विषय में अन्य ग्रंथों में प्रयुक्त हुए अर्थों को स्वीकार करना मेरे विचार से अनावश्यक एवं असंगत भी है। यह सर्वमान्य सत्य है कि मनुष्य का प्राप्तव्य न तो क्षर प्रधान अविद्या ही है और न अक्षर अमृत विद्या ही। यथार्थतः मनुष्य जिसे जानकर, प्राप्त कर सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाता है वह एक अन्य तत्त्व है, जो अविद्या और विद्या दोनों का परम आश्रय और अनुशासक है, उसी का संकेत करते हुए श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है"**विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः**"—विद्या और अविद्या इन दोनों को अनुशासित करने वाला वह अन्य है और उसीके लिए दूसरी श्रुति कहती है—"**क्षरात्मानावीशते देव एकः।**"क्षर और आत्मा, प्रकृति और पुरुष दोनों का ही ईशन करने वाला वह देव एक है, अद्वय है। उसकी प्राप्ति न तो अविद्या प्रकृति की उपासना से ही हो सकती है और न ही विद्या-जीवात्मा में अनुरक्ति से ही। ईशोपनिषद् की यह श्रुति इन दोनों का ही निषेध कर रही है और बता रही

है कि जो अविद्या की उपासना करते हैं, प्रकृति का सान्निध्य चाहते हैं, प्रतिपल परिवर्तनशील प्राकृतिक पदार्थों के साथ रहना चाहते हैं, उनमें स्थित हो उनका उपभोग करना चाहते हैं, वे अवश्य ही घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं, इसमें संदेह नहीं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे समक्ष पश्चिमी जगत् है। हम आँख खोलकर इसे देख सकते हैं। प्रकृति के सान्निध्य की कामना से प्रेरित हो आज भौतिकवादी जगत् किस दुर्दशा को प्राप्त हुआ है, यह किसी से छिपा नहीं। आज मनुष्य के समस्त दैवी गुण, स्वभाव, धर्म, प्रकृति की उपासना में ही बलिदान किये जा रहे हैं। व्यक्तिवाद, पूंजीवाद का सर्वत्र नग्न तांडव हो रहा है और इससे भी आश्चर्य की बात तो यह है कि ये सब कुछ वहाँ अधिक हो रहा है जहाँ साम्यवाद, समाजवाद वा समतावाद की दुहाई दी जाती है। यह सब कुछ सभी के लिए प्रत्यक्ष है, इस सम्बन्ध में अधिक कहना समय नष्ट करना है। आप लोग इसे गंभीरता से देखें तो वेद का यह कथन आपको अक्षरशः सत्य अनुभव होगा कि—**"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते"**, अविद्या माने जो सदा एक रस विद्यमान नहीं—**"न विद्यते इति अविद्या"** अर्थात् यह परिवर्तनशील प्राकृतिक जगत्। इसकी जो उपासना करते हैं, जो इसका सान्निध्य चाहते हैं, जो इसके साथ रहना चाहते हैं, जो इसके लिए अपने जीवन को समर्पित किये हुये हैं, जिनका इनमें अनुराग है,जो इन्हें मूल्यवान समझते हैं,आदर देते हैं, वे अवश्य ही अज्ञानान्धकार में प्रवेश पाते हैं, इसमें संदेह नहीं।

यहाँ अविद्या के प्रेमियों के लिए जो कुछ मैंने कहा है, उपासते शब्द के अर्थ में सभी भाव समाहित हैं। नाशवान प्रकृति के उपासकों की अधोगति अनिवार्य है क्योंकि प्रकृति की उपासना में कारण सदैव अल्पज्ञान एवं विपरीत ज्ञान ही हुआ करता है और इस विपरीत ज्ञान का और उससे विमुग्ध हो क्षर प्रकृति की प्राप्ति के लिए अपने जीवन सर्वस्व को समर्पित करने का फल कभी भी मनुष्य का आत्मोत्थान नहीं हो सकता, इसलिए **"अन्धं तमः प्रविशन्ति"** यह वाक्य सर्वथा सार्थक है। इसी प्रकार से इस मंत्र का अगला चरण जो यह कहता है कि उनसे भी घोरतम अंधकार में वे प्रवेश करते हैं जो विद्या में रत रहते हैं, यह भी सर्वथा सत्य है। यहाँ विद्या शब्द का अर्थ इस जीवन में एक रस रहने वाले चेतन तत्त्व जीवात्मा से है। आप सभी जानते हैं कि इस जगत् में सत्ता का बोध हमें अपने अहं रूप में ही हुआ करता है। **'विद्यते इति विद्या'** जो सर्वथा रहे वह विद्या है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अपने होने का भाव एक रस सदा बना रहता है। शरीर शिशु, बाल, युवा, प्रौढ़, वृद्ध आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है किन्तु इन समस्त परिवर्तनों के ज्ञाता और द्रष्टा अहं में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता। यहाँ तक कि वह घोर सुषुप्ति में भी विद्यमान रहता है।

तभी तो वह आनंद की नींद सोने का अनुभव करता है। यही द्रष्टा, ज्ञाता, अनुभव कर्त्ता अहं तथा मैं के रूप में सदैव जीवित रहने वाला अक्षर तत्त्व ही विद्या शब्द से सम्बोधित किया गया है। श्रुति कहती है कि जो इस विद्या तत्त्व के यथार्थ रूप को नहीं जान पाए हैं केवल इस सीमित अहं में अनुरक्त हैं, वे उन प्रकृति के उपासकों से भी अधिक गहरे अंधकार में प्रवेश करते हैं।

मेरे विचार से इस शरीरासक्त अवस्था में रहते हुए भी जीवात्मा वा विद्या में रत रहने का भारत के तथाकथित आत्मवादी, अध्यात्मवादी होने के अभिमानी लोगों से उत्तम और अविद्या के उपासकों के लिए कोई उदाहरण नहीं हो सकता। यह कौन नहीं जानता कि आत्मा के गीत गाने वाले भारतीय उन प्रकृति उपासकों से भी अधिक गहरे अंधकार में नहीं डूबे हुए हैं। श्रुति का यह वाक्य सर्वथा सत्य है और गंभीरता से विचार करने पर इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। यहाँ यह बात याद रहे कि जो प्रकृति उपासक हैं उन्हें पूंजीवादी कहा जा सकता है और जो व्यष्टि भावापन्न चेतन में रत रहते हैं, इन्हें ही व्यक्तिवादी कहा जाता है। ऐसे व्यक्तिवादियों के लिए श्रुति कहती है—**"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"**, वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है। जो यहाँ नानात्व को, अनेकत्व को देखता है-ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी भी सुख और शान्ति का भाजन नहीं बन पाता। व्यक्तिभाव में रत हुआ मानव सर्वत्र नानात्व का, अनेकता का ही दर्शन करता है और जहाँ अनेकता है जहाँ भूमा नहीं सीमा है, अल्प है; वहाँ सुख नहीं दुःख का ही साम्राज्य रहता है। श्रुति की घोषणा है **"भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति"**, भूमा में सुख है ; अल्प में सुख नहीं होता क्योंकि **"यो वै भूमा तदमृतम्"**, जो भूमा है वही अमृत है—**"यद् अल्पं तद् मर्त्यम्"**, जो अल्प है वही मृत्यु है। इससे आप लोग समझ गये होंगे कि व्यष्टि भावापन्न अपने सीमित अहं में रत व्यक्ति कभी भी परम प्रकाश को प्राप्त नहीं कर पाता और न तो वह आनंद वा सुख का ही भाजन बन पाता है। वह अहंजन्य घोरतम अज्ञानांधकार में प्रविष्ट हो यातनाओं का ही भाजन बना रहता है। श्रुति का यह कथन है कि न तो इस सतत परिवर्तनशील क्षरणधर्मा, अविद्या स्वरूपा प्राकृतिक पदार्थों की ही उपासना करनी चाहिए और न नित्य चेतन विद्या रूप इस जीवात्म भाव में ही रत रहना चाहिए, क्योंकि इन दोनों का ही परिणाम अपने अभीष्ट से सर्वथा विपरीत ही हुआ करता है। फिर, प्रश्न यह होता है कि कल्याणाभिलाषी साधक के लिए किस में अनुरक्ति कल्याण प्रद होती है; हितप्रद होती है? दूसरे शब्दों में साधक को किस की उपासना करनी चाहिए, उसे किसमें अनुरक्त होना चाहिए ? इसके उत्तर में इस उपनिषद् का यह 10वां मंत्र निर्देश

देता है-

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।

साधक का वह परम प्राप्तव्य तत्त्व विद्या से अन्य ही कहा गया है और अविद्या से भी अन्य है, ऐसा हमने धीर पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमें परम तत्त्व का अवबोधन कराया है। विद्या अथवा जीवात्मा से वह तत् पदार्थ सर्वथा भिन्न है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाला होने से अनीश है, इसीलिए यह नाना प्रकार के दु:खों एवं व्याधियों का मूल है। इसलिए इस जीव भाव का उपासक व्यष्टि भाव में रत रहने वाला कभी भी उस परमतत्त्व को प्राप्त नहीं हो सकता। वह तत्त्व सर्वथा इससे अन्य ही है और इसी प्रकार से वह इस अविद्या रूप प्रकृति से भी अन्य है। गीता में भी भगवान् ने यही बात कही है—

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। गीता 15/18)

क्योंकि "मैं नाशवान्, जड़, क्षर तत्त्व से सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर, अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में ओर वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।" जिन तत्त्वों को यहाँ अविद्या और विद्या कह कर सम्बोधित किया गया है, गीता के 15वें अध्याय में उन्हीं को क्षर और अक्षर कहा है। जैसे अविद्या और विद्या से वह परमतत्त्व अन्य है वैसे ही गीता में भी क्षर और अक्षर दोनों से अन्य पुरुषोत्तम तत्त्व का वर्णन है। उन आचार्यों ने जिनके मत से अविद्या का अर्थ कर्म और विद्या का अर्थ ज्ञान वा हिरण्यगर्भ आदि की उपासना है उन्होंने 'अन्यदाहु' शब्द का अभिप्राय अन्यफल प्रदान करनेवाला किया है। उनका कथन है कि विद्या में रत होने का अन्य फल है और अविद्या कीं उपासना का दूसरा ही फल है। ऐसा हमने उन महापुरुषों से सुना है जिन्होंने हमें उसका उपदेश किया है। मेरे विचार से इस मंत्र का यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। इस मंत्र में एक वाक्य विशेष ध्यान देने का है, वह है—"ये नस्तद्विचचक्षिरे' जिन्होंने हमें उसका दर्शन कराया है। यहाँ तत् शब्द किसका अवबोधन कराता है, किसका संकेत कर रहा है? जिसका उस मंत्र द्रष्टा को उन धीर पुरुषों ने अवबोधन कराया, दर्शन कराया। यदि यह तत् शब्द यथार्थतः उस परम तत्त्व का अवबोधन करा रहा है तो इस मंत्र का अर्थ जो मैंने किया है वही सार्थक है, समीचीन है। आज इतना ही पर्याप्त है। जो कुछ आप लोगों ने सुना है उसी का चिन्तन करते हुए उसे आत्मसात् करने का प्रयत्न करें। प्रभु की करुणा आप सभी को इसकी सामर्थ्य प्रदान करे, इसी शुभकामना के साथ आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है।

हरि ॐ तत्सत्
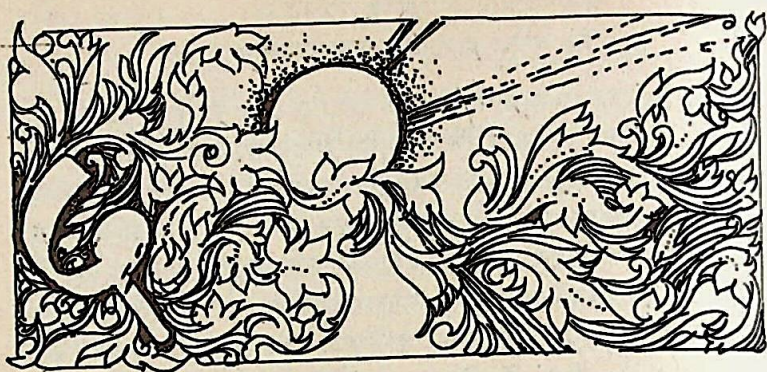
मेरी प्रिय आत्माओं !

मैं आप लोगों को ईशोपनिषद् के दार्शनिक सिद्धान्तों को कुछ दिन से समझा रहा हूँ। कल के प्रसंग में आप सबको विद्या और अविद्या से सम्बन्धित कुछ बातें बताई गई थी, आज भी हम उसी पर विचार करेंगे। विद्या और अविद्या, ये दोनों शब्द वैदिक साहित्य, दार्शनिक ग्रन्थों, इतिहास, पुराणों और स्मृतियों में भी अनेकों बार प्रयोग किए गए हैं और विचार करने पर यह ज्ञात हुआ है कि इन शब्दों का प्रयोग सर्वत्र एक ही अर्थ में नहीं हुआ है। ये प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न अर्थों को, भावों को अभिव्यक्त करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने रामचरितमानस में माया तत्त्व की व्याख्या करते हुए विद्या और अविद्या शब्द का प्रयोग किया है। अरण्यकांड की कथा है, एक दिन प्रभु श्री राम को एकान्त और शान्त मुद्रा में विराजित देख कर महात्मा लक्ष्मण उनके श्रीचरणों में उपस्थित हो, प्रणाम कर, प्रभु की आज्ञा पा उनसे विनम्रता पूर्वक शब्दों में जीवन तथा उसकी यथार्थता को जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय श्रीरामानुज अर्थात् श्री राम के छोटे भाई लक्ष्मण को जीवों का आचार्य मानता है। लक्ष्मण के द्वारा पूछे गए प्रश्न अर्थपंचक से सम्बन्धित हैं। अर्थपंचक का अभिप्राय है– स्वस्वरूप, परस्वरूप, विरोध-स्वरूप, उपायस्वरूप और फलस्वरूप, इन पांचों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही अर्थ पंचक बोध कहा जाता है। स्वस्वरूप का अर्थ है जीव का स्वरूप, परस्वरूप का अर्थ है ईश्वर वा ब्रह्म का स्वरूप, विरोध स्वरूप का अर्थ है ईश्वर और जीव के मध्य में भेद वा आवरण उत्पन्न करने वाली माया का स्वरूप, उपायस्वरूप का अभिप्राय है योग, ज्ञान, वैराग्य आदि का स्वरूप और फलस्वरूप का अभिप्राय है मोक्ष तथा पराभक्ति का स्वरूप। वैष्णव सिद्धान्त को समझने के लिए अर्थपंचक के यथार्थ स्वरूप को समझना अति आवश्यक माना गया है।

इनमें स्वस्वरूप, पर स्वरूप और विरोध स्वरूप, जीव, ईश्वर और माया के यथार्थ स्वरूप को समझ लेने पर उपाय और फल इन दोनों का बोध स्वयं ही हो जाता है।

प्रभु श्री राम के चरणों में उपस्थित हो महात्मा लक्ष्मण इन पांचों के यथार्थ स्वरूप को समझाने की प्रार्थना कर रहे हैं–

कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।।
ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाई।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाई।।

इन प्रश्नों में ज्ञान, वैराग्य, माया, ईश्वर, जीव और भक्ति के संबंध में जिज्ञासा है और वह इसलिए कि उससे शोक, मोह, भ्रम से निवृत्ति हो जाएगी। उपनिषद् विज्ञान का प्रयोजन भी शोक, मोह से विमुक्ति है। उसमें भी इन्हीं तत्त्वों की विविध युक्तियों, उदाहरणों के साथ विवेचना की गई है। शोक, मोह, भ्रम की निवृत्ति होने पर ही परात्पर प्रभु के पावन चरणार्विन्दों में अनन्य अनुरक्ति संभव है अन्यथा नहीं। वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार प्रभु में अनन्य अनुरक्ति ही जीव की अंतिम गति है, वही उसका परम प्राप्तव्य है लेकिन यह उसे तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह शोक, मोह और भ्रम से विमुक्त हो जाए। इनसे विमुक्ति का साधन है ज्ञान-वैराग्य युक्त प्रभु की भक्ति। गोस्वामी जी कहते हैं–

श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिवेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।।

ज्ञान-वैराग्य युक्त भगवद् भक्ति, भगवदाराधना ही वेद सम्मत सद्धर्म का मार्ग है। इस मार्ग पर चल करके ही जीव अपने प्राप्तव्य को, लक्ष्य को पा सकता है। किन्तु मोहान्धकार में डूबे हुए लोग ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्ति का अवलम्बन न ले विविध प्रकार के पंथों की कल्पना करते हैं।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जिन तत्त्वों को जानने की जिज्ञासा महात्मा लक्ष्मण प्रभु के सम्मुख प्रकट कर रहे हैं, वह ब्रह्मविद्या का प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषद्, गीता एवं दर्शनशास्त्र विविध प्रकार से उन्हीं तत्त्वों की व्याख्या करते हैं। लक्ष्मण के प्रश्न में उचित क्रम नहीं है। ये प्रश्न क्रमबद्ध नहीं हैं किन्तु प्रभु का उत्तर क्रमबद्ध है। लक्ष्मण पूछते हैं–"कहहु ग्यान बिराग अरु माया"। ज्ञान, वैराग्य और माया का स्वरूप कहिए और उस भक्ति का स्वरूप भी समझाइए जिससे आप द्रवित हो जीवों पर कृपा करते हैं। बाद में पूछते हैं –हे प्रभो! ईश्वर और जीव का भेद भी समझा कर कहिए, जिससे शोक, मोह, भ्रम

दूर हो जाए और आपके चरणों में अनन्य अनुरक्ति प्राप्त हो सके। लक्ष्मण का यह प्रश्न छलहीन है। गोस्वामी जी ने लिखा है—"**लछमन बचन कहे छलहीना।**" प्रश्न में छल क्या होता है? इसे भी आप लोग समझ लें। जहाँ पर किसी की योग्यता को समझने के लिए प्रश्न किया जाता है वा अपनी योग्यता को बताने के लिए प्रश्न किया जाता है, इसे छल युक्त प्रश्न कहते हैं, किन्तु जो आत्मकल्याण के लिए जिज्ञासायुक्त हो प्रश्न किया जाता है, वह छलरहित होता है। महात्मा लक्ष्मण के प्रश्न को सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गए हैं। उन्होंने उत्तर देते हुए कहा—

थोरेहि महुँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित्त लाई।।

मति, मन और चित्त को एकाग्र करके ही किसी गंभीर विषय को समझा जा सकता है। अन्तःकरण चतुष्टय में अहं जीव के अस्ति भाव का अवबोधक है तथा वही विविध प्रकार के कर्मों का कर्त्ता भी। साँख्य शास्त्र का सिद्धान्त है—'अहंकार कर्त्ता न पूरुषः'। मन, मति और चित्त ये उसके साधन हैं। इन्हीं के द्वारा वह विविध कार्यों को सम्पन्न करता है। जिस क्रिया में ये तीनों एक साथ लग जाते हैं, उसी को वह सफलता पूर्वक कर पाता है। श्रवण भी एक क्रिया है, उसकी सिद्धि भी मति, मन और चित्त की एकाग्रता से ही होती है। फिर यदि किसी सूक्ष्मतम रहस्यमय तत्त्व को समझने की जिज्ञासा से सद्गुरु के चरणों में बैठकर प्रार्थना की जाए; तो उस समय इन तीनों की एकाग्रता और भी आवश्यक हो जाती है। जीवों के परमगुरु प्रभु श्रीराम अपने जिज्ञासु शिष्य को सावधान करते हुए इस गंभीर विषय को समझाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं और उसे मति, मन और चित्त लगा कर ग्रहण करने का निर्देश देते हैं। गोस्वामी जी का कथन है—"**श्रोता बक्ता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़**"। राम की गूढ़ कथा को सुनने और सुनाने वाले श्रोता और वक्ता दोनों ही ज्ञाननिधि होने चाहिए। रहस्य को श्रवण करने के अभिलाषी श्रोता में पांच लक्षणों का होना आवश्यक है—

श्रोता सुमति सुशील सुचि कथा रसिक हरि दास।
पाई उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास।।

श्रोता शीलवान, सुमतियुक्त, पवित्र, भगवत् तत्त्व श्रवण का प्रेमी और प्रभु का अनन्य भक्त होना चाहिए। ऐसे श्रोता को प्राप्त करके ही साधुजन गूढ़तम रहस्यों को भी प्रकाशित कर देते हैं। अभिप्राय यह है कि गूढ़तम तत्त्वों के विवेचन और श्रवण में वक्ता और श्रोता दोनों को पूर्णतया सजग होना चाहिए। महात्मा लक्ष्मण को थोड़े ही शब्दों में सभी जानने योग्य तत्त्वों को विशेष रूप से

समझाने की प्रभु प्रतिज्ञा करते हैं और उसे श्रवण करने के लिए उन्हें सावधान करते हैं। यहाँ पर अपने उपदेश में प्रभु ने सर्वप्रथम विरोधस्वरूप जो माया है, उसी की व्याख्या की है। उसका स्वरूप बताते हुए कहा है—

मै अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।।

जिस माया ने अनन्त जीवों को अपने वश में कर रखा है, उसका यथार्थ स्वरूप मैं और मेरा तथा तैं और तेरा है। 'मै और मोर' की स्वीकृति से ही 'तैं और तोर' का जन्म होता है। जहाँ व्यक्ति ने यह 'मैं हूँ' और यह 'मेरा है' ऐसा निश्चय किया, उसके साथ ही यह तुम और वह तुम्हारा है, यह मान्यता उत्पन्न हो जाती है, नानात्व का जन्म हो जाता है और उपनिषद् के शब्दों में मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करने की यात्रा शुरू हो जाती है। आगे प्रभु ने इस माया के दो भेद बताए हैं और उसे विद्या और अविद्या कह कर सम्बोधित किया है। प्रभु कहते हैं—

तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।।

उस माया के दो भेद हैं, उसको भी तुम सावधान होकर सुनो, उनमें एक विद्या है और दूसरी अविद्या। विद्या और अविद्या का परिणाम क्या है, कार्य क्या है, इसको समझाते हुए कहते हैं—

एक दुष्ट अतिसय दुःख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।।
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।।

अविद्या माया तो दोषयुक्त तथा दुःखस्वरूप है। दुष्ट शब्द का अर्थ होता है दोषयुक्त वा दोषमय स्थिति। वह अविद्या दोषरूपा, विकृति स्वरूपा, दुःखमयी है। इसी के बस हो कर, इसी से विमोहित होकर जीव जन्म-मरण रूप इस संसार रूप कुएँ में पड़ा हुआ है। यहाँ पर अविद्या का अर्थ प्रकृति नहीं, विकृति है। यह कार्यरूपा, संसार रूपा है। इस विकृति में ही जीव आत्मबुद्धि कर नाना प्रकार के दुःखों का भाजन बना हुआ है। महतत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त यह सब कुछ विकार ही तो हैं। यह विकार त्रिगुणात्मक होने से दोषयुक्त एवं आसक्ति में कारण होने से दुःखस्वरूप कहा जाता है, यह अविद्या है। सदा एक रूप, एक रस न होने से ही इसे अविद्या कहते हैं। दूसरी विद्या माया है जो इस जगत् की कारणभूता है, वही इस जगत् की कर्तृ है। ये त्रिगुण जो प्रकाश, क्रिया, स्थिति रूप हैं, उसी के अधीन रहते हैं, उसी के वश में रहते हैं। वह इन तीनों गुणों के द्वारा ही इस अनन्त सृष्टि की रचना करती है, लेकिन उसमें अपना निज का कोई बल नहीं है केवल परमेश्वर के प्रकाश में, उसकी अध्यक्षता में, उसकी प्रेरणामात्र से वह इस अगम कार्य को भी सुगमता से सम्पन्न किया करती है।

गीता के सातवें अध्याय में प्रभु ने जिसे अपनी अपरा और परा प्रकृति के रूप में वर्णन किया है, उसी को यहाँ अविद्या और विद्या नाम से सम्बोधित किया गया है। प्रभु की वह परा प्रकृति ही जीवभूता है, वही अक्षर तत्त्व है, उसे ही चेतना शक्ति कह कर सम्बोधित किया जाता है। वह सदैव नित्य, एक रस विद्यमान रहने से ही विद्या शब्द से सम्बोधित की जाती है। त्रिगुणात्मिका परिवर्तनशील स्वभाव वाली क्षर प्रकृति ही अविद्या कही गई है। यह यथार्थतः प्रभु की उस चेतना शक्ति के ही अधीन हुआ करती है, वही तीनों गुणों की अधिष्ठात्री है। वह अपने प्रभु की प्रेरणा से क्षणमात्र में ही अनन्त ब्रह्माण्डों का सृजन कर देती है। अविद्या मोहात्मिका शक्ति है और विद्या ज्ञानात्मिका। गीता के 13वें अध्याय में इन्हीं द्विविध शक्तियों को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा गया है, 15वें अध्याय में इन्हें ही क्षर और अक्षर बताया गया है। ये दोनों शक्तियाँ जिसके आश्रित रहती हैं, वे क्षर और अक्षर, दोनों का परम आश्रय अव्यय ब्रह्म है। प्रश्नोपनिषद् में वर्णित सृष्टिक्रम में उस अव्ययब्रह्म से ही इस क्षर और अक्षर रूप रयि और प्राण का आविर्भाव होता है। वह इन दोनों का अनुशासक और आश्रय भी है। गोस्वामी जी ने यहाँ पर विद्या और अविद्या के स्वरूप की व्याख्या करते हुए, उन्हीं द्विविध तत्त्वों का वर्णन किया है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि वेद, उपनिषद्, दर्शन शास्त्र, इतिहास, पुराण ही नहीं श्रीरामचरितमानस में भी उस विद्या और अविद्या के स्वरूप की विवेचना की गई है।

मैं आप लोगों को वैष्णव सम्प्रदाय के अर्थपंचक की व्याख्या नहीं सुना रहा, उस विषय में तो प्रसंगानुसार थोड़ी सी बातें बताई गई हैं। मेरे विवेचन का विषय अर्थपंचक में वर्णित विरोध स्वरूप है, जो विद्या और अविद्या, इन दोनों रूपों में हम सभी के अनुभव में आता है। यह याद रखना है कि वह परम प्राप्तव्य तत्त्व इन दोनों से भिन्न है, इनसे परे है। श्रुति के कथनानुसार इनकी उपासना, इनमें अनुरक्ति. साधक के लिए पतन में ही कारण होती है, इसलिए साधक को सावधान करते हुए श्रुति कहती है—

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।।

परमतत्त्व विद्या से अन्य है और अविद्या से भी अन्य है, यह तत्त्वद्रष्टा धीर पुरुषों का कथन है। दार्शनिक भाषा में इस विद्या और अविद्या को परमात्मा की ज्ञानात्मिका और गुणात्मिका शक्ति कहा जाता है,वह इन दोनों शक्तियों का नियन्ता, स्वामी, अधिपति है। वही परम ज्ञेय है, वही परम प्राप्तव्य है। पूर्व के आचार्यों ने जो अविद्या का अर्थ कर्म किया है, वह उसका धातुज अर्थ नहीं है,

वह अविद्या से नहीं लक्षणा से किया हुआ अर्थ है। वैदिक शब्दों के अर्थ धातुज हैं, इनका प्रकृति, प्रत्यय के अनुसार ही अनुसंधान करने से इनके यथार्थ अर्थ का बोध हो सकता है, अन्यथा नहीं। सांख्यशास्त्र में कार्य प्रकृति को क्षर तथा कारण प्रकृति को अक्षर कहा गया है और इन दोनों से परे चैतन्यघन पुरुष तत्त्व की स्थिति बताई गई है। कुछ विद्वानों ने अविद्या और विद्या को क्षर और अक्षर प्रकृति का अवबोधक माना है, किन्तु यहाँ पर इन मन्त्रों में यह अभिप्रेत नहीं है। मेरे विचार से श्वेताश्वतरोपनिषद् में निश्चित किया हुआ अर्थ ही यहाँ प्रसंगानुसार ग्राह्य और समाचीन है, क्योंकि यदि यहाँ पर इसके अतिरिक्त कोई अर्थ माना जाये तो इस क्रम के तीसरे मन्त्र की संगति नहीं बैठती। कुछ विद्वानों का कथन है कि विद्या और अविद्या का धातुज अर्थ है— जो सदा रहे वह विद्या और जो न हो वह अविद्या है। गीता में भगवान् ने कहा —

नासतो विद्यते भाव नाभावो विद्यते सतः।

(गीता 2/16)

"असतः भावः न विद्यते" असत् का अस्तित्व नहीं है इसलिए वह अविद्या है, और **"सतः अभावः न विद्यते"** सत् का कभी भी अभाव नहीं है इसलिए वह विद्या है। इस मत के अनुयायी असत् का अर्थ मिथ्या, भ्रान्ति, शून्य मानते हैं, इसलिए इनकी दृष्टि से यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, भ्रान्ति है, शून्य है, असत् है और अविद्या है। इसकी उपासना करने वाला घोर अन्धकार में जाता है। यहाँ तक तो ठीक है, कुछ मात्रा में विचार के योग्य भी कहा जा सकता है किन्तु इस मन्त्र के दूसरे भाग का अर्थ जो विद्या में रति को उससे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश का हेतु बताता है, उसकी संगति कैसे बिठाई जा सकेगी? यदि यह विद्या तत्त्व नित्य, अविनाशी और शाश्वत है, तो उसमें अनुरक्ति घोर अन्धकार में प्रवेश का कारण कैसे हो सकती है? मेरे विचार से गीता में सत् और असत् की व्याख्या करते हुए 'न विद्यते' और 'विद्यते' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ पर भी उपनिषद् के उसी अर्थ को व्यक्त किया है, जिसे व्याख्यान में प्रतिपादन किया क्योंकि उपनिषदों में कहीं भी असत् शब्द का अर्थ मिथ्या, भ्रम और शून्य नहीं मिलता। वहाँ पर प्रायः परिवर्तनशील प्रकृति के अर्थ में ही उसका प्रयोग मिलता है और सत् शब्द का प्रयोग भी कई स्थानों पर व्यष्टिभाव को प्राप्त हुए जीवात्मा के अर्थ में ही किया गया है। गीता में भी कई स्थानों पर इन्हीं अर्थों में इन दोनों शब्दों का प्रयोग है। प्रभु कहते हैं—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन

(गीता 9/19)

"हे अर्जुन ! मृत्यु और अमृत,सत् और असत् दोनों मैं ही हूँ।" किन्तु 13 वें अध्याय में उस परमज्ञेय तत्त्व की व्याख्या करते हुए प्रभु कहते हैं–

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।

(गीता 3/12)

"जो परम ज्ञेय तत्त्व है,जिसको जान कर साधक अमृतत्त्व का उपभोग करता है, उसके विषय में मैं तुम्हें बताता हूँ। वह परम ज्ञेय तत्त्व आदि अंत से रहित परब्रह्म है, जिसे न सत् और न असत् ही कहा जाता है।" अभिप्राय यह कि वह सत् और असत् दोनों का ही आश्रय होता हुआ भी उन दोनों से सर्वथा परे है, भिन्न है, अन्य है। उसको जानने से ही साधक मृत्यु से मुक्त हो अमृत तत्त्व का उपभोक्ता होता है। यजुर्वेद की श्रुति भी यही कहती है कि–"**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति**" उसको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है "**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः**", उस परमदेव को जानकर मनुष्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इतना ही नहीं–"**ते तन्मया अमृता वभूवुः,**" उससे तन्मयता प्राप्त कर अवश्य ही वे अमृत-स्वरूप हो गए। "**एवं विदुरमृतास्तेभवन्ति**" इस प्रकार जो उसे जानते हैं, वे अमृतस्वरूप हो जाते हैं। ऐसे वेद के अनेकों वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं जिनकी यह घोषणा है कि उस परमतत्त्व का वेत्ता, ज्ञाता ही नित्य शाश्वत, अमृतानन्द का भोक्ता होता है। किन्तु इसके साथ भी एक शर्त है जिसकी उद्घोषणा ईशोपनिषद् का यह ग्यारहवां मन्त्र कर रहा है –

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

विद्या और अविद्या, इन दोनों के साथ जो उस परमात्म तत्त्व को जानता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा अमृत-तत्त्व का उपभोग करता है। यहाँ शर्त यह है कि–"**विद्यां चाविद्यां च उभयं य ह्र तद वेद**", विद्या और अविद्या इन दोनों के साथ जो इनके आश्रयभूत उस परमतत्त्व को जानता है, वही अविद्या के ज्ञान से मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा अमृतत्त्व का उपभोग करता है।

जैसा कि पहले मैं आप लोगों को बता रहा था कि उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र में भी उस परब्रह्म तत्त्व को समग्र रूप से जानने के लिए सत् और असत्, विद्या और अविद्या, अक्षर और क्षर, अविनाशी और नाशवान इनका यथार्थ ज्ञान होना भी परमावश्यक है। बिना इनका ज्ञान हुए इनके परमाश्रय

रूप परमेश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। उस परम कारण तक पहुँचने के लिए इस सृष्टि के कार्य-कारण स्वरूप को जानना अति आवश्यक है। यह नाम-रूपात्मक जगत् जो कुछ भी दीख रहा है, यह एक दिन अवश्य ही विनाश को प्राप्त होगा, यह सभी का जाना हुआ सत्य है, क्योंकि कार्य सदैव स्थाई नहीं हो सकता, परिवर्तन उसका स्वाभाविक धर्म है। इसीलिए उस कार्य को असत् कहते हैं। कार्य जिस कारण की अभिव्यक्ति है वह नित्य है, शाश्वत है, इसलिए उसे सत् कहते हैं। कार्य का कारण में लय होना ही उसका नाश है। यदि आप कार्य का अनुसंधान करें तो एक दिन अवश्य ही उस कारण तक पहुँच जाएँगे। जैसे नदी के किनारे बैठा हुआ व्यक्ति नदी के प्रवाह को देखकर यह जान जाता है कि नदी की सत्ता प्रवाह रूप से स्थाई प्रतीत होते हुए भी तत्वतः स्थाई नहीं है। नाम रूपात्मक जगत् प्रतिपल प्रतिवर्तित होते हुए भी प्रवाह रूप में सत्य सा प्रतीत होता है किन्तु इसके पीछे उसके कारण रूप में स्थित जो तत्त्व है, जिससे इसकी स्थिति है, वह एक रस अपरिवर्तनीय है। हमारी दृष्टि में कार्यरूप जगत् ही आता है, इसका कारण नहीं और जिस कारण की हम चर्चा कर रहे हैं, उससे भी परे वह परम तत्त्व है जिसको जानने के लिए श्रुति सकेंत कर रही है। जैसा कि मैंने पहले ही बताया है कि सृष्टि त्रिगुणात्मिका है क्योंकि वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्य है। गुण स्वयं में कारण नहीं, वे सदैव गुणी के अधीन हुआ करते हैं। वह गुणी नित्य ज्ञानस्वरूप है। वेद कहता है—"**ज्ञः काल कालो गुणी सर्वविद्यः**" वह गुण का स्वामी, ज्ञान-स्वरूप, काल का भी काल और सर्व का ज्ञाता है, वही जानने योग्य है और वही प्राप्त करने योग्य है। यहाँ पर गुण और उसके सम्पूर्ण कार्य और गुण का आश्रय, इन तीनों को साथ-साथ जानने का निर्देश किया गया है। "**विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं स ह**", अविद्या का इतना बड़ा साम्राज्य है, उस को ही जान पाना असंभव सा प्रतीत होता है तो उसके कारणरूप विद्या और उससे भी परे, उसका भी जो आश्रय है, उसको जान पाना इतना सुगम कहाँ? फिर भी हताश होने की आवश्यकता नहीं है, तुम अमृत के पुत्र स्वयं अमृतस्वरूप हो। यदि अपने आपको अच्छी प्रकार से संभाल कर उपनिषद् प्रतिपादित यथार्थ दृष्टि का अवलम्बन लेते हो तो अवश्य ही एक दिन उस परम तत्त्व का समग्र बोध प्राप्त कर लोगे, इसमें सन्देह नहीं। पहले अवधानपूर्वक अविद्या के स्वरूप को जानो, फिर विद्या के स्वरूप को जानो, तत्पश्चात् इनके साथ ही इनके परम आश्रय के स्वरूप का यथार्थ बोध प्राप्त कर लोगे। इस 11वें मंत्र के प्रथम भाग में जिस विद्या और अविद्या के सहित उस परमतत्त्व को जानने का उपदेश दिया गया है, उसके

परिणाम का अवबोधन कराते हुए इस मंत्र का दूसरा भाग उद्घोषित करता है—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।" जिसका शाब्दिक अर्थ होता है अविद्या के ज्ञान से, अविद्या को जान कर साधक मृत्यु को पार कर विद्या के ज्ञान से अमृत का उपभोग करता है। मंत्र के पूर्व भाग में—'उभयं स ह वेद' यह वाक्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

यहाँ एक बात और मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जो लोग अविद्या का अर्थ कर्म वा अज्ञान करते हैं, उनके लिए "वेद के इस कथन का कि अविद्या के ज्ञान से मृत्यु से तरा जाता है" संगति नहीं बैठ सकती। कर्म के ज्ञान से मृत्यु से तरने का कहीं भी उल्लेख नहीं और अज्ञान कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसके साथ परमात्मा को जाना जा सके और जिसके जानने से मृत्यु से तरा जा सके। जिस मृत्यु से भयभीत हो यह जीव सदैव आतंकित एवं अशान्त रहता है, शोकाकुल रहता है, वह मृत्यु क्या है, किसमें है,इसका अनुसंधान करने से यह ज्ञात होता है कि अविद्या वा क्षर तत्त्व ही मृत्युधर्मा है। वैदिक साहित्य में सर्वत्र उसे मर्त्य कह कर ही सम्बोधित किया है। यह मर्त्य तत्त्व उस परमात्मा का ही एक अंश है। वेद में जहाँ ब्रह्म तत्त्व की व्याख्या की गई है, वहाँ पर उसके एक अंश को मर्त्य और तीन अंश को अमृत कहा गया है और इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि इस मर्त्य तत्त्व का यथार्थ ज्ञान होने पर ही साधक स्वयं को मृत्यु के भय से परे ले जा सकेगा। इसलिए अविद्या की व्याख्या करते हुए जिस अर्थ का मैंने प्रतिपादन किया है, वही शास्त्रसम्मत है और उसी अर्थ से अविद्या के ज्ञान से मृत्यु से पार होने की संगति बैठती है, अन्य अर्थों से नहीं।

इस मंत्र का चौथा चरण है— "विद्यया मृतमश्नुते," विद्या द्वारा अमृत को प्राप्त करता है। जैसा कि मैंने पहले बताया है कि अविद्या का अर्थ क्षर प्रकृति है और विद्या का अर्थ अक्षर जीवात्मा है। क्षर प्रकृति का ज्ञान ही विज्ञान कहा जाता है,इस ज्ञान के द्वारा ही साधक मृत्यु से पार होता है। अक्षर आत्मा ही विद्या तत्त्व है, विद्या के ज्ञान के द्वारा वह अमृत तत्त्व को प्राप्त होता है। प्रकृति मृतधर्मा है, परिवर्तनशीला है, उसके-कार्य कारण स्वरूप को जान करके वह स्वयं को उससे परे अनुभव करता है। मृत्यु के स्वरूप को भलीभाँति जान कर साधक उससे पार हो जाता है; अभिप्राय यह है कि उससे परे स्वयं को अनुभव करता है। अक्षर जीवात्मा जिसे विद्या शब्द से सम्बोधित किया गया है, जो नित्य ज्ञानस्वरूप है, उसके यथार्थ बोध से वह अमृत को प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा परमात्मा की अभिव्यक्ति है। यह मैं पहले बता चुका हूँ कि चित्त में पड़ने वाला चेतन का प्रकाश ही उसे चेतना युक्त बनाता है और यही चेतना

अहं के स्फुरण का कारण होती है, इसी को यहाँ विद्या शब्द से सम्बोधित किया गया है। इसके यथार्थ स्वरूप को जान कर साधक इसके कारणरूप उस परम प्रकाशक परात्पर प्रभु से एकत्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। इसी सत्य को व्यक्त करते हुए श्रुति कहती है-वह उसको जान कर अमृत हो जाता है। यजुर्वेद की श्रुति कहती है, "तद्अपश्यत तद् अभवत तदासीत्," उसको देखा, वही हो गया क्योंकि तत्त्वतः वही था।आत्मज्ञान के द्वारा ही अर्थात् चेतना शक्ति के कारणरूप उस परम चैतन्य के ज्ञान के द्वारा साधक उस परम तत्त्व को प्राप्त कर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है, यही इस मन्त्र का संदेश है।लेकिन यह विद्या और अविद्या, इन दोनों के साथ इन दोनों के परम आश्रय रूप उस परम तत्त्व का बोध होने पर ही यह घटित होता है। इसलिए वेद कहता है—विद्यां चाविद्या च यस्तद् वेद उभयं स ह। अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते॥यहाँ पर एक बार फिर स्पष्ट करते हुए यह स्मरण दिला दूँ कि विष्णु पुराण में अविद्या को कर्म और विद्या को ज्ञान कहा है। सांख्यशास्त्र में अविद्या को क्षर कार्य प्रकृति और विद्या को अक्षर कारण प्रकृति कहा है। योगदर्शन में अविद्या को विपरीत ज्ञान और विद्या को यथार्थ ज्ञान माना है। कई उपनिषदों में भी इसी प्रकार की व्याख्या मिलती है। गोस्वामी जी ने अविद्या को कार्य प्रकृति और विद्या को प्रभु की शक्ति माना है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में अविद्या को क्षरणशीला होने से प्रकृति और विद्या को अक्षर जीवात्मा कहा गया है। मैंने ईशोपनिषद् के 9, 10, 11 मन्त्रों में प्रयुक्त हुए अविद्या और विद्या को श्वेताश्तरोपनिषद् के अनुसार ही युक्तिसंगत और समीचीन माना है, उसी के अनुसार इसकी व्याख्या की है। मेरे विचार से प्रथम मन्त्र में प्रयुक्त उपासना और रति शब्द उसी अवस्था में वहाँ अहितकर सिद्ध किये जा सकते हैं, यदि उनका सम्बन्ध क्षर प्रकृति और अक्षर जीवात्मा से हो। प्रकृति की उपासना अज्ञान रूपी अन्धकार में ले जाती है और सीमित भाव को प्राप्त हुए जीवात्मा में रति अर्थात् अपने में अहं भाव को सुरक्षित रखने की चाह उससे भी घोर अन्धकार में ले जाती है, यही उसका तात्पर्य है। वह परमात्मा इन दोनों से अन्य है। ये दोनों ही परमात्मा की दिव्य शक्तियाँ हैं, इन दोनों शक्तियों के साथ जो उस परमात्मा को जानता है, वह मृत्यु से पार हो जाता है और अमृत का भोक्ता बनता है।

यहाँ पर एक बात और समझ लेनी है कि यह विद्या तत्त्व परमेश्वर की चिदात्मिका शक्ति है, उसी से अहं का स्फुरण होता है, वह अहं ही यथार्थतः जीव का स्वरूप है। परमेश्वर और अहं, इन दोनों के मध्य में विराजित वह

चिदात्मिका शक्ति शोभित होती है। गोस्वामी जी ने रामायण में इस रहस्य का उद्‌घाटन किया है। भगवान् श्रीराम आगे जा रहे हैं और महात्मा लक्ष्मण उनके पीछे हैं, उन दोनों के मध्य में भगवती सीता हैं। गोस्वामी जी कहते हैं–

आगें राम अनुज पुनि पाछें। मुनि बर बेष बने अति काछें।
उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।।

(रा० 3-7-3/4)

आगे श्री राम हैं, उनके पीछे छोटे भाई लक्ष्मण हैं, वे दोनों ही मुनियों का वेश बनाये अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं। उन दोनों के बीच में श्री जी कैसी सुशोभित हो रही हैं? जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया हो। यहाँ पर श्री जी परमात्मा की चिदात्मिका शक्ति है, यथार्थतः वही जीव की जननी है और वह परमचैतन्यघन जीव का जनक। जैसे पिता और पुत्र के मध्य में माँ शोभित होती है, वैसे ही ब्रह्म और जीव के मध्य में वह चिदात्मिका शक्ति शोभित होती है। इस मन्त्र में यह बात समझाई गई है कि उस विद्या के ज्ञान से ही, उस अक्षर चिदात्मिका शक्ति के बोध से ही साधक अमृत का भोक्ता बनता है। आचार्य शंकर ने अपने तात्त्विक विवेचन में माया को अनिर्वचनीय कहा है। स्वामी विद्यारण्य माया के दो भेद मानते हैं और उसे विद्या और अविद्या कहते हैं। उनका कथन है कि सच्चिदानंदघन ब्रह्म का प्रकाश जब विद्या माया में पड़ता है, तो उससे समष्टि अहं रूप ईश्वर का आविर्भाव होता है और जब अविद्या माया में उस चेतन का प्रकाश पड़ता है, तो उससे व्यष्टि अहंरूप जीव की उत्पत्ति होती है। इनके मतानुसार भी कारण प्रकृति विद्या है और कार्य प्रकृति अविद्या। यह प्रकृति ही अनिर्वचनीय माया है। आचार्य शंकर ने भी उसे गीता के 15 वें अध्याय के भाष्य में अक्षर कहा है। विशिष्टाद्वैत के व्याख्याकार आचार्य रामानुज ने गीता के सिद्धान्तानुसार अपरा प्रकृति को जड़ और परा प्रकृति को चेतन शक्ति के रूप में स्वीकार किया है और इन दोनों को उस परमेश्वर का अभिन्न अंग बताया है, परमेश्वर इनका अंगी है। श्रुति ने यहाँ अविद्या और विद्या के साथ उस परमेश्वर के जानने की बात कही है और उसी को परमपद की प्राप्ति का साधन बताया है।

वैष्णव सम्प्रदाय में माया को विरोधस्वरूपा माना है। विरोधस्वरूपा होने से वह माया जीव को मोहती है किन्तु गोस्वामी जी ने ब्रह्म और जीव के बीच में माया को सोहती बताया है। अब यह प्रश्न होता है कि यथार्थतः माया मोहती है वा सोहती है? अभी मैंने इसका विवेचन करते हुए आप लोगों को बताया है कि विद्या माया अथवा परा प्रकृति ब्रह्म और जीव के मध्य में सोहती है किन्तु

अविद्यामाया जीव को मोहती है। विद्यामाया जीव की माँ है, वह उसे परमेश्वर का सान्निध्य प्रदान कराती है, वह मोहरूपा नहीं, बोधरूपा है इसलिए वह सोहती है और अविद्या जड़ प्रकृति है, वह भोगरूपा होने से मोह में ही कारण बनती है। इसलिए अविद्या के ज्ञान से साधक मृत्यु से तर जाता है और विद्या के ज्ञान से वह अमृत तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। उपनिषदों में ब्रह्म को दो प्रकार की शक्तियों से युक्त कहा है। वे दो प्रकार की शक्तियाँ श्री और लक्ष्मी नाम से वेद में वर्णित हैं। ये दोनों ब्रह्म की अभिन्न शक्तियाँ हैं,उसी से आविर्भूत होती हैं, उसी के सहारे स्थित रहती हैं और फिर उसी में आश्रय ग्रहण कर लेती हैं। इन द्विविध शक्तियों के द्वारा ही वह परमेश्वर इस जड़ चेतनात्मक सृष्टि का विस्तार करता है। जो इन द्विविध शक्तियों के साथ परमेश्वर के स्वरूप को जानता है, वही मृत्यु से मुक्त हो अमृत तत्त्व को प्राप्त होता है। आप लोगों को याद होगा, इस प्रसंग के प्रारम्भ में ही जीवन के विपरीत घटित होने वाली मृत्यु की भयावह घटना और उससे बचने के उपाय की खोज की बात कही थी। मृत्यु से भयभीत प्राणी उससे बचने के लिए दृश्य प्रकृति का ही दामन पकड़ता है। किन्तु वह प्रकृति तो स्वयं क्षरणशीला है, मृतधर्मा है, उसका सहारा ले कर कोई मृत्यु से नहीं बच सकता। हाँ, उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर ही मृत्यु से बचा जा सकता है क्योंकि यह मृत्यु उस प्रकृति के कार्यरूप शरीर में घटित होती है, आत्मा में नहीं। आत्मा सर्वथा प्रकृति से परे है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति प्रकृति से उत्पन्न सीमित चित्त में हुई है। वह चित्त के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त हो कर ही मृत्यु आदि प्रकृति के धर्मों को स्वयं के साथ जोड़े हुए है। यदि वह अपने सीमित रूप में ही अनुरक्त रहता है तो मृत्यु और भय से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकेगा। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि न तो क्षररूप अविद्या की उपासना करने से और न अक्षररूप अपने जीवरूप में रत रहने से ही वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकेगा। अभीष्ट की सिद्धि तो इन दोनों के साथ ही, दोनों के परम आश्रयस्वरूप परमेश्वर को जान कर ही हो सकती है और दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी सत्य का अवबोधन कराना ईशोपनिषद् की श्रुति का प्रयोजन है।

यहाँ एक प्रश्न और उत्पन्न होता है जो इस प्रसंग के पहले मंत्र में विद्या में रत को अविद्या के उपासकों से भी घोर अन्धकार में प्रवेश करने की बात कही है, वह कहाँ तक तर्कसंगत है? इसका उत्तर मैंने पहले भी दिया है और इसे फिर आप लोगों को समझा दूँ। जो अविद्या की उपासना करते हैं, उन्हें अमृत की प्राप्ति तो नहीं हो सकती, वे मृत्यु से तो नहीं बच सकते किन्तु इस दुनिया में

रहते हुए भौतिक पदार्थों से मिलने वाले सुख-सुविधा से वंचित नहीं रहेंगे। मैंने इस विषय में पश्चिमी जगत् का उदाहरण देकर आप लोगों को समझाया था, किन्तु जो अपने अहं में रत हैं, सीमित अहंगत चेतन में ही अनुरक्त हैं,उसके कारण और स्वरूप को बिना समझे 'अहं ब्रह्म' की मिथ्या भावना से ग्रसित हैं और अविद्या और उसके कार्यों को मिथ्या, भ्रम मात्र और विनाशधर्मा घोषित करते हैं, ऐसे लोग न तो संसार के सुख-सुविधा को ही प्राप्त कर पाते हैं, और न यथार्थतः आत्मा के उस परम कारणस्वरूप परब्रह्म को ही, इसलिए इनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात।।

ऐसे व्यक्तियों के लिए ही गोस्वामी जी ने कहा है कि वे कल्पों तक नर्क में निवास करते हैं।

जो अस हिसिषा करहिं नर जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ जीव कि ईस समान।।

यहाँ पर यह बात याद रखने की है कि जो जीवभाव में रहते हुए स्वयं को अहंकारवश ईश्वर घोषित करते हैं, उन्हें ही कल्पपर्यन्त नारकीय यातना भोगनी पड़ती है। मेरे विचार से भारत में हिंदू समाज की दुर्गति में यही विद्या में रति कारण रही है। जीवत्व की स्थिति में रहते हुए भी सोऽहम्,अहं ब्रह्मास्मि आदि का गीत गाने वाले और जगत् को मिथ्या बताने वाले ही इस समाज में पूज्य और आदर की दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। इन्हीं का अन्धानुकरण कर भारतीय हिन्दू समाज इस दीनता और दरिद्रता का भाजन बना है। उपनिषद् की इस श्रुति ने ऐसे लोगों के लिए ही कहा है कि जो सीमित चेतन, जीवभाव अर्थात् विद्या में रत रहते हैं, वे उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेश पाते हैं। किन्तु जिसने विद्या का अनुसंधान किया है, उसके यथार्थ रूप को समझा है जाना है, वह तो अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, इसमें संदेह नहीं। इस मंत्र में ब्रह्म को समग्र रूप से जानने का निर्देश दिया गया है और उस की समग्रता, अविद्या और विद्या,इन दोनों के सहित है। इसीलिए श्रुति उन दोनों के सहित ही उस तत् पदार्थ को जानने का आदेश देती है।

यहाँ एक गंभीर प्रश्न उत्पन्न हो जाता है, हमें अब उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। वह गंभीर प्रश्न यह है कि अक्षर, अविनाशी विद्यातत्त्व को उस परमात्मा का अंश, अंग वा अभिव्यक्ति भले ही स्वीकार कर लिया जाए किन्तु क्षरतत्त्व विनाशशील, मृत्युधर्मा,अविद्या को उसका अंश, अंग वा अभिव्यक्ति

कैसे कहा जा सकता है? यह बड़ा ही गंभीर विषय है। इसके उत्तर से बचने के लिए ही कई आचार्यों ने इस क्षरधर्मा जगत् की यथार्थ सत्ता को स्वीकार करने से ही इन्कार कर दिया है और इसे केवल मृग-मरीचिका, गंधर्व-नगर तथा सीपि में रजत और सर्प में रज्जू के समान ही भ्रान्ति वा अज्ञानवश ब्रह्म में प्रतीत होने वाला मिथ्या घोषित किया है। किन्तु यहाँ इसको स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि वैदिक साहित्य में कहीं भी इस जगत् को मिथ्या नहीं कहा है और न तो इसे भ्रान्ति के कारण गन्धर्वनगरवत् विशुद्ध चेतन ब्रह्म में आरोपित ही बताया है। गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र नामक प्रस्थानत्रयी से कोई ऐसा वाक्य प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता हैं, जिससे यह सिद्ध होता हो कि यह परिवर्तनशील जगत् मिथ्या और भ्रान्तिमात्र है। यह बिल्कुल वेद विरुद्ध मान्यता है। वैदिक साहित्य में इस मान्यता का कहीं भी समर्थन नहीं मिलता। मुझे यह कहने में ज़रा भी संकोच नहीं है कि जिन विद्वानों ने इस जगत् को भ्रान्ति, मिथ्या बताते हुए उसे वैदिक् सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है, यह उनका दुस्साहस मात्र है। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार का हमें एक भी वाक्य नहीं मिला है, जिससे इस जगत् मिथ्यावाद का समर्थन होता हो। समस्या यह है कि फिर उस अमृत-अविनाशी परमेश्वर के साथ इस विनाशशील दृश्य जगत् की संगति कैसे बैठाई जा सकती है? मेरी राय है कि जिस समय आचार्यों ने इस जगत् मिथ्यावाद का उद्घोष किया था, उस समय वर्तमान के समान वैज्ञानिक दृष्टि से भौतिक जगत् के अनुसंधान और उससे उपलब्ध यथार्थ बोध की जानकारी नहीं मिली थी, किन्तु वर्तमान में वैज्ञानिक अनुसंधान ने इस गंभीर समस्या के समाधान में बहुत कुछ सहयोग प्रदान किया है। वैदिक ऋषि इस परम सत्य से सर्वथा सुपरिचित थे। उपनिषदों में बड़ी ही कुशलता के साथ इसका विवेचन प्राप्त होता है, उसी औपनिषदिक सिद्धान्त की व्याख्या के लिए ही परमर्षि भगवान् कपिल ने सांख्यशास्त्र को प्रकट किया है। भगवान् वादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में विविध युक्तियों के द्वारा उसका विवेचन किया है। क्षर और अक्षर को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूप में वर्णित करते हुए भगवान् ने स्वयं गीता के 13वें अध्याय में कहा है कि—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।

(गीता 13/4)

ऋषियों द्वारा विविध प्रकार से इस विषय को समझाया गया है और अनेक प्रकार से वेदमंत्रों में भी विभाग पूर्वक इसका वर्णन किया गया है तथा अच्छी प्रकार से

सुनिश्चित् की हुई युक्तियों के द्वारा ब्रह्मसूत्र के पदों में इस रहस्य का विवेचन किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि तथा नवीन वेदान्तवाद के उदय होने से पूर्व के आचार्यगण परमात्मा के इस क्षर और अक्षर अंशों के यथार्थ स्वरूप से सर्वथा सुपरिचित थे। उन्हें इस विषय में न तो कहीं असंगति दीखती थी और न ही इस विषय में उन्हें भ्रान्ति थी। महानारायणोपनिषद् में ब्रह्म के चतुष्पाद की व्याख्या की गई है और वहाँ पर उसके स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि वह परमात्मा चतुष्पाद है। अविद्या, विद्या, आनन्द और तुरीय, ये ही उसके चारों चरणों के नाम हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में भी विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय के रूप में ब्रह्म के समग्ररूप की व्याख्या की गई है। यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि यह सम्पूर्ण विश्व क्षर प्रकृति का ही कार्य है। ऋग्वेद में भी—"**पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।**" ये सम्पूर्ण भूत समुदाय जो विश्व रूप में प्रकट है, वह उस का एक भाग है और इसके तीन भाग दिव्य अमृतमय हैं। त्रिपाद को अमृत कहने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका एक पाद जो विश्वरूप में प्रकट है, वह मृतधर्मा है। यह मृतधर्मा विश्व अमृत, अविनाशी का अंश कैसे ? इस रहस्य को समझने के लिए इस विश्व के स्वरूप को समझना अति आवश्यक है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के कई मंत्रों में उस परमेश्वर को मृत और अमृत से युक्त बताया गया है, मृत और अमृत में व्याप्त बताया गया है। उसी उपनिषद् की एक श्रुति कहती है-

एक हँसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विवित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। — (श्वेता०6/15)

इस ब्रह्माण्ड के बीच में एक प्रकाशस्वरूप परमात्मा परिपूर्ण है, वही जल में निहित अग्नि के समान इसमें सर्वत्र परिव्याप्त है। उसे जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जाता है। इसके अतिरिक्त उससे बचने के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

इस मंत्र के अर्थ पर गंभीरता से विचार कीजिए, इससे यह ज्ञात हो जाएगा कि इस क्षर पदार्थ में वह अविनाशी परमात्मा किस प्रकार से व्याप्त है? ऋषि उदाहरण के द्वारा इस गुह्यतम रहस्य को समझा रहे हैं। जैसे जल में अग्नि व्याप्त है, उसी प्रकार से वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा इस विश्व में व्याप्त है। इस उपनिषद् के ऋषि श्वेताश्वतर केवल आत्मज्ञ ज्ञानी ही नहीं, वे पूर्ण ब्रह्मज्ञ विज्ञानी भी हैं। इस उपनिषद् के मनन से ज्ञात होता है कि यह पूर्णतया

वैज्ञानिक उपनिषद् है। ब्रह्म तत्त्व की विवेचना में उसके प्रमाण, उसकी युक्तियाँ, उसके उदाहरण पूर्ण वैज्ञानिक हैं। ऋषि कहते हैं, जैसे जल में अग्नि व्याप्त है वैसे ही इस ब्रह्माण्ड में परमात्मा व्याप्त है। वर्तमान के वैज्ञानिकों ने अनुसंधान से यह सिद्ध कर दिया है कि जल कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है, वह दो प्रकार की गैसों का ही परिणाम है जिसे हाइड्रोज़न और ऑक्सीजन कहते हैं और यह भी वैज्ञानिक सत्य है कि ऑक्सीजन और हाईड्रोजन, ये दोनों ही आग्नेय पदार्थ हैं। यद्यपि सामान्य दृष्टि से देखने पर अग्नि और जल दोनों ही सर्वथा विरुद्धधर्मा पदार्थ दीखते हैं। यदि किसी सामान्य व्यक्ति से कहा जाए कि तत्त्वतः अग्नि ही जल रूप में प्रकट है, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है तो इसे सामान्य बुद्धि का व्यक्ति कभी भी स्वीकार नहीं करेगा, यह उसकी समझ से बहुत परे की बात है। जो लोग पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन पाँचों तत्त्वों को सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र पदार्थ मानते रहे हैं, भला उन्हें यह बात कैसे स्वीकार्य हो सकती है? ये पाँचों पांच नहीं बल्कि एक ही तत्त्व की भिन्न अवस्थायें हैं, एक का ही परिणाम हैं। यद्यपि उपनिषदों में इसका बड़े ही स्पष्ट शब्दों में विवेचन मिलता है, फिर भी कई दार्शनिकों ने इनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। आरम्भवाद का तो समग्र सिद्धान्त ही इन महाभूतों के स्वतन्त्र परमाणुओं पर प्रतिष्ठित है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म और उससे आविर्भूत होने वाले इस विराट् विश्व की अभिव्यक्ति का क्रम बताते हुए इसका विशेष रूप से वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषद् कहती है—उस परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न और अन्न से ही प्राणिजगत् का आविर्भाव हुआ है। मुण्डकोपनिषद् में भी उस परमात्मा से ही यह विराट् विश्व, नाम, रूप और अन्न की उत्पत्ति का वर्णन है।श्रुति कहती है-"**तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।**" इससे आप लोग समझ गये होंगे कि वैदिक ऋषि इस सृष्टि के कार्य-कारण रूप से सर्वथा सुपरिचित थे ओर वे इस रहस्य को भली-भान्ति जानते थे कि परमात्मा की ज्ञानात्मिका शक्ति चेतन के रूप में और उसकी गुणात्मिका शक्ति ही अचेतन, क्षरधर्मा विश्व के रूप में अवतरित होती है। प्रश्नोपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि उस परमेश्वर ने स्वयं से ही प्राण और रयी, इन दोनों मिथुनों को उत्पन्न कर उसीसे इस अनन्त सृष्टि का विस्तार किया है। आज के वैज्ञानिकों ने प्रत्यक्ष दीखने वाले पंचविध भौतिक पदार्थों को एक ही अव्यक्त एनर्जी का परिणाम घोषित किया है। सत्कार्यवाद के प्रवक्ता सांख्याचार्यों ने तथा उपनिषद् के प्रवक्ता ऋषियों ने भी उस एक

अव्यक्त प्रकृति से इस अनन्त ब्रह्माण्ड के विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति बताई है। भौतिकवादियों और उनमें अन्तर इतना ही है कि अभी तक ये भौतिक विज्ञानवादी ऐनर्जी को ही मूल स्वतंत्र कारण समझ रहे हैं किन्तु तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने उससे परे, उसके आश्रय-रूप उस परम चैतन्यघन का भी अनुभव प्राप्त किया था। ऋषि इस रहस्य को जानता है कि यह दृश्य जगत् उस अदृश्य, अव्यक्त गुण का ही परिणाम है। उदाहरण के रूप में वह कहता है कि जैसे जल में अग्नि व्याप्त है, उसी प्रकार से इस विश्व में प्रकाशस्वरूप परमात्मा व्याप्त है। कहने का अभिप्राय कि जैसे जल अग्नि की ही एक अवस्था विशेष है, उसी प्रकार से यह सम्पूर्ण विश्व उस परमेश्वर की ही अभिव्यक्ति मात्र है। तैत्तिरीय का श्रुति बड़े ही स्पष्ट शब्दों में इस सत्य की घोषणा करते हुए कहती है कि–

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्टवा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।

(तैत्तिरीय० 2/6)

"उस परमेश्वर ने संकल्प किया कि मैं अनेक रूपों में प्रकट होऊँ, बहुत हो जाऊँ। उसने तप किया। अपने इस संकल्प का विस्तार किया। उससे यह जो कुछ भी देखने और समझने में आता है, इस सम्पूर्ण जगत् का सृजन किया। उसका सृजन करके वह स्वयं उसी में प्रविष्ट हो गया। उसमें प्रविष्ट हो कर वह स्वयं ही सत् और त्यत् अर्थात् मूर्त्त और अमूर्त्त भी हो गया। कहने में आने वाले और कहने में न आने वाले, आश्रय देने वाले और आश्रय न देने वाले अथवा प्राण सहित वा प्राण रहित, विज्ञान और अविज्ञान, सत्य और अनृत, इन सब रूपों में वह सत्स्वरूप परमात्मा ही प्रकट हो गया।"

श्रुति के इस विवेचन से अब कहीं भी, किंचित्‌मात्र भी आशंका के लिए स्थान नहीं रह जाता। पूर्णतया यह स्पष्ट हो जाता है कि यह चराचर जगत् उस एक परमात्मा की ही अंशाभिव्यक्ति है। ब्रह्म तत्त्व की मीमांसा करते हुए पूर्वाचार्यों ने उसे सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों से सर्वथा रहित माना है। मेरे विचार से उनकी इसी मान्यता ने इस क्षर जगत् को परमात्मा की अंशाभिव्यक्ति स्वीकार करने में व्यवधान उपस्थित कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि वह परमेश्वर सजातीय और विजातीय, दोनों प्रकार के भेदों से रहित है क्योंकि न तो उसके जैसा ही कोई है और न उससे अधिक ही। गीता और

उपनिषदें इस सत्य को बार-बार उद्घाटित करती हैं किन्तु उसमें स्वगत भेद नहीं है, ऐसे कैसे कहा जा सकता है? उपनिषद्–"**सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म।**" कह कर उसकी व्याख्या करती है। क्या सत्य, ज्ञान, अनन्त, ये उसमें स्वगत भेद का अवबोधन नहीं कराते? सत्य, ज्ञान और अनन्त, इन तीनों से युक्त होने से ही तो वह सच्चिदानंद कहा जाता है। यदि उसमें स्वगत भेद न होता तो इन त्रिविध अभिधानों की क्या आवश्यकता थी? कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि यह क्षर जगत् उसकी गुणात्मिका शक्ति अविद्या का ही परिणाम है। वेद में उसकी स्वाभाविकी शक्ति, ज्ञान, बल और क्रिया के रूप में वर्णित है। जिसे हम क्षर जगत् कहते हैं, तत्त्वतः वह अक्षर का ही अभिव्यक्त रूप है। जिसे हम विनाशधर्मा कहते हैं, तत्त्वतः वह अविनाशी की ही अभिव्यक्तिमात्र है। वैज्ञानिक अनुसंधान ने अब इस विषय में किसी भी प्रकार की आशंका के लिए स्थान नहीं छोड़ा। यह पार्थिव पदार्थ विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होने वाली उस ऐनर्जी के ही मूर्तरूप हैं और इस मूर्तरूप में अभिव्यक्त होने पर भी तत्त्वतः उस एनर्जी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यही यथार्थतः वैज्ञानिक सत्य है। उस परमेश्वर और उसकी द्विविध शक्तियों को जानने, समझने में यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण बहुत ही सहयोगी सिद्ध होगा। आवश्यकता है आग्रह रहित हो, उसके विषय में यथार्थ दृष्टि अपनाने की।

मैं पहले भी बता आया हूँ कि वैदिक ऋषि यथार्थ-द्रष्टा थे। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह उनका जाना हुआ सत्य है किन्तु जिन विद्वानों ने वैज्ञानिक दृष्टि से उनके द्वारा कथित सत्य का अनुसंधान नहीं किया, वे केवल अपने काल्पनिक विचारों एवं शब्दाडम्बरों से ही सत्य की व्याख्या करने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं।

मैंने पहले भी आप लोगों को उपनिषद् की एक कहानी सुनाई थी, जिसमें इन्द्र और वैरोचन,दोनों ही प्रजापति के पास तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की लालसा से जाते हैं और उनके पास 32 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए निवास करते हैं। प्रजापति के पूछने पर उनसे आत्मज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करते हैं। प्रजापति कहते हैं–यह जो नेत्रों में पुरुष दीखता है, यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, ब्रह्म है। उन्होंने पूछा, भगवन्! जो जल में प्रतीत होता है और जो दर्पण में दिखाई देता है, उनमें आत्मा कौन सा है? प्रजापति ने कहा–वही नेत्र में दिखाई देने वाला ही इन सब में प्रतीत होता है। प्रजापति ने आदेश दिया, जल से भरे हुए पात्र में तुम अपने को देखो और आत्मा के विषय में जो न जान सको, वह मुझे बताओ। उनकी आज्ञा का

पालन करते हुए उन्होंने जल भरे पात्र में अपने को देखा। तुम क्या देखते हो, गुरु के यह पूछने पर उन्होंने कहा—हम अपने इस सम्पूर्ण आत्मा को लोम और नख-पर्यन्त ज्यों का त्यों देखते हैं। गुरु ने कहा—तुम अच्छी तरह वस्त्रालंकार से अलंकृत हो सज-धज कर जल में देखो। तब उन्होंने स्वयं को सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर परिष्कृत हो कर जल भरे पात्र में देखा। अब तुम क्या देखते हो ? उन दोनों ने कहा, भगवन् ! जिस प्रकार हम दोनों सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हैं, सजे हुए हैं, उसी प्रकार से ये दोनों भी उत्तम प्रकार से अलंकृत और परिष्कृत हैं, ऐसा देख रहे हैं। प्रजापति ने कहा—यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, यही ब्रह्म है। उनकी बात सुनकर वे दोनों शान्त चित्त से चले गये। उनको जाता देख कर प्रजापति ने सोचा, ये दोनों आत्मा के यथार्थ रूप को बिना जाने ही जा रहे हैं। देवता हों या असुर, जो कोई भी इस शरीर को ही आत्मा मानेगा, ऐसा निश्चय करेगा, उसका अवश्य ही पराभव होगा, विनाश होगा। वैरोचन शान्त चित्त से अपने निजजनों असुरों के पास पहुँचा और उनको यह आत्मविद्या सुनाई। इस लोक में यह शरीर ही आत्मा है, यही पूजनीय है, यही सेवनीय है। इसकी पूजा, परिचर्या, संभाल करने वाला व्यक्ति ही इस लोक और परलोक, दोनों को प्राप्त कर लेता है। उपनिषद् कहती है—"आज भी जो दान न देने वाला श्रद्धा रहित, यज्ञ न करने वाला व्यक्ति होता है, उसे श्रेष्ठजन 'यह तो असुर ही है' ऐसे कहते हैं।" शरीर ही आत्मा है, शरीर से भिन्न आत्मा नहीं, शरीर के मरने पर आत्मा की मृत्यु हो जाती है और शरीर के जीते ही आत्मा जीवित हो जाती है, यह सिद्धांत असुरों का है। इसीलिए वे मृतक पुरुष के शरीर को गंध-पुष्पादि विविध पदार्थों से, वस्त्रालंकारों से सुसज्जित करते हैं और उसे पृथ्वी में रख देते हैं। उन्हें यह विश्वास है कि इसके द्वारा हम परलोक प्राप्त करेंगे। यह तो हुई वैरोचन की कहानी, किन्तु इन्द्र को देवताओं के पास पहुँचने से पूर्व ही अपने जाने हुए ज्ञान में संदेह हो गया। वह सोचने लगा कि यदि यह शरीर ही आत्मा है तो शरीर नाश के साथ ही उसका भी नाश हो जायेगा। जिस आत्मा की चर्चा सुनी है वह तो अविनाशी है, ऐसा सोचकर वह पुनः लौटकर, हाथ में समिधा ले प्रजापति के पास पहुँच गया। प्रजापति ने उससे पूछा—तुम तो वैरोचन के साथ शान्तचित्त हो लौट गये थे, फिर कैसे आ गये? इन्द्र ने अपनी आशंका व्यक्त कर दी। प्रजापति ने उससे कहा कि तुम यहाँ निवास करो और ब्रह्मचर्यादि का पालन करते हुए साधना करो, फिर तुम्हें आत्मतत्त्व का उपदेश दिया जाएगा।

इस कहानी से यह आप लोग समझ गये होंगे कि वे शरीरासक्त लोग जिन्हें विशुद्ध बुद्धि भी प्राप्त नहीं है, यदि उन्हें आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा उपदेश दिया जाए तो मेरे विचार से वे वैरोचन के ही अनुयायी बनेंगे। इंद्र गुरु के पास एक सौ वर्षों तक रहकर, कठोर साधना करके, फिर आत्म तत्त्व का बोध प्राप्त कर सका था। आज केवल महावाक्यों के उच्चारण एवं श्रवण मात्र से ही लोग ब्रह्मज्ञ होने का दावा करते हैं, कितने आश्चर्य की बात है!

मैं आप लोगों को बता रहा था कि उस ब्रह्म के यथार्थ बोध को प्राप्त करने के लिए विद्या और अविद्या के सही स्वरूप को जानना होगा, तभी आप मृत्यु से पार हो अमृतत्त्व के भागी बनेंगे। अविद्या की उपासना करने वाले स्वयं ही अंधकार में नहीं गये हैं बल्कि वे इस समय विविध प्रकार के विनाशकारी शस्त्रों का–हाईड्रोजन, न्यूट्रान आदि बमों का निर्माण कर संपूर्ण मानव जाति को विनाश के कगार पर लाकर खड़े कर दिये हैं। आज सारा विश्व विनाश के भय से भयभीत है, संतप्त है और विद्या में रत रहकर भारतीयों ने जिस दुर्गति को प्राप्त किया है, मेरे विचार से वह विनाश से, मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है। भगवान् गीता में कहते हैं–"**संभावितस्य चाकिर्तिर्मरणादतिरिच्यते।**" गोस्वामी जी ने भी कहा है–

संभावित कहूँ अपजस लाहू। मरन कोटि समवारुन दाहू।।

एक स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए उसकी अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी हुआ करती है। भारतीयों के गौरव की गाथा प्राचीनकाल के सुदूर देशवासी भी गाया करते थे। इस का उदाहरण आज भी यूनान के मगस्थनीज़ के संस्मरणों तथा चीनी यात्रियों के संस्मरणों में देखा जा सकता है। किन्तु यथार्थ रूप से आत्मा के स्वरूप को न जानकर शरीरासक्त की स्थिति में, विद्या में रत हो कर ही भारतीयों ने अपने लिए इस दुर्गति को आमन्त्रित किया है। कितने आश्चर्य की बात है! जो विवेकशील, बुद्धिमान्, विद्वान् थे, वे जगत् को भ्रांति और मिथ्या करार देकर, उससे दूर होकर आत्मा में रत रहने का प्रयत्न करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते रहे हैं और जो विवेकहीन, बुद्धिविहीन शक्तिशाली लोग थे, वे अपने जातीय अभिमान में उन्मत्त रहते हुए समाज का शोषण करते रहे हैं। इसी का परिणाम रहा है, भारत का सर्वतोमुखी पतन और विशेषकर हिन्दू समाज की अधोगति। आज हमें फिर से अपनी उस भूल पर विचार करना होगा और उपनिषद् के यथार्थ उपदेश को समझने की कोशिश करनी होगी।

यह जगत् उस परमेश्वर की ही अंशाभिव्यक्ति है। गंभीरता से मनन

करने पर आप लोग इस रहस्य को अच्छी तरह समझ सकते हैं। आप लोग जानते हैं कि पुरुष के एक बूंद वीर्य में अनेकों स्पर्म रहते हैं, उनमें से एक स्पर्म स्त्री के रज में निहित अंडे के साथ मिलकर गर्भ का रूप धारण करता है। उस स्पर्म में अनेकों क्रोमोसोम्स होते हैं और उनमें भी एक अति सूक्ष्म पदार्थ होता है जिसे वैज्ञानिक डी.एन.ए. कहते हैं। वही डी०एन०ए० व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व का बीज होता है। उसी में ज्ञानात्मक और गुणात्मक दोनों प्रकार की शक्तियाँ निहित होती हैं। व्यक्ति में जो वैविध्य और वैचित्र्य है, ज्ञानात्मक और गुणात्मक कलायें हैं, ये सब उसी सूक्ष्म तत्त्व में निहित होती हैं। इससे अब आप लोग भली-भाँति अनुमान लगा सकते हैं कि इस अनन्त ब्रह्माण्ड का मूल कारण, चराचर जगत् का मूल स्रोत, उस अव्यय, अविनाशी परमात्मा से यह क्षर और अक्षर जगत् कैसे उत्पन्न हो जाता है? श्रुति की यह घोषणा कि विद्या और अविद्या से युक्त उस परम तत्त्व को जानने वाला अविद्या के ज्ञान से मृत्यु से तर जाता है, यह सर्वथा सत्य एवं युक्ति-सम्मत है। क्या हम आप नहीं जानते कि शरीर, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि आदि ये सभी क्षर के ही परिणाम हैं ? क्या इनके सहयोग के बिना आप कभी उस परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं ? गोस्वामी जी कहते हैं—

तन बिनु भजन वेद नहीं बरना।

शरीर के बिना तो भगवान् की आराधना भी नहीं हो सकती। जैसे अविनाशी अव्यक्त आत्मा के अंश से ही, प्रकाश से ही, चित्त से लेकर स्थूल शरीर-पर्यन्त तक इन क्षर पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है, उनकी स्थिति रहती है, उसी प्रकार से सच्चिदानंद परमात्मा के प्रकाश से ही विद्या और अविद्या, इन दोनों तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है और इनकी स्थिति भी रहती है क्योंकि अव्यक्त परमात्मा तक पहुँचने के लिए उसकी महिमा रूप से अभिव्यक्त हुए इस मृतधर्मा जगत् को ही साधन रूप में अपनाया जाता है। इन्हीं के ज्ञान से, इन्हीं के माध्यम से क्रमशः परमात्मा तक पहुँचा जाता है, उसकी अनुभूति की जाती है; इनके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय भी तो नहीं है। जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के प्रयोग से आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त कर, इस शरीर के विनाश से, स्वयं के विनाश के भय से मुक्त हुआ जाता है, उसी प्रकार इस अविद्या के ज्ञान से सर्वविनाश की संभावना रूप मृत्यु से साधक सदा के लिए पार हो जाता है। जिस प्रकार साधक चेतना के द्वारा ही उस आत्मस्वरूप चेतन में स्थित हो, आत्मानंद की अनुभूति करता है उसी प्रकार विद्या के द्वारा ही उसके परम आश्रय रूप परमेश्वर में

अनुरक्त हो, स्थित हो अक्षय सुख का उपभोक्ता होता है। भगवान् गीता में इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं–"स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।" वह ब्रह्मभाव में स्थित साधक अक्षय सुख का उपभोग करता है। इसी सत्य का उद्घोष करते हुए ईशोपनिषद् की यह श्रुति कहती है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

विद्या रूपी ईश्वर की ज्ञानात्मिकाशक्ति और उसके आश्रित रहने वाली अविद्या रूप ईश्वर की गुणात्मिका शक्ति, इन दोनों के सहित जो उस शक्तिमान परमात्मा को भली-भाँति जान लेता है, वह अविद्या के ज्ञान से मृत्यु से पार हो, विद्या के द्वारा अमृत को पा जाता है। इन तीन मंत्रों में ऋषि ने बहुत ही गंभीर समस्या का समाधान कर दिया है। अब इसी प्रकार से आगे के तीन मंत्र और हैं जो सम्भूति और असम्भूति के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। अब कल के प्रसंग में उन्हीं पर विचार किया जाएगा। आप सब की मंगल कामना के साथ आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है।

हरि ॐ तत्सत्
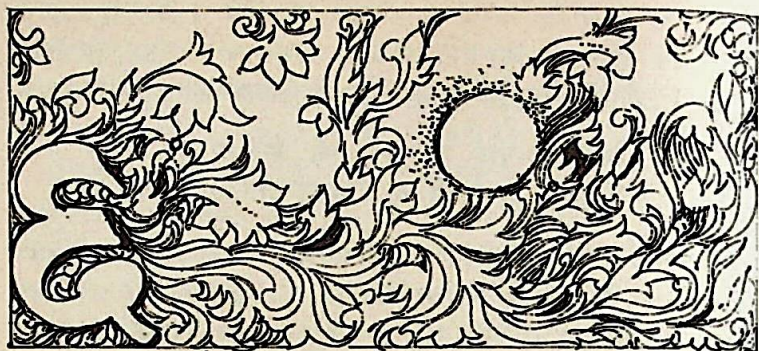
मेरी प्रिय आत्माओ !

आप लोग कई दिनों से ईशोपनिषद् पर विचार सुन रहे हैं। कल के प्रवचन में आप लोगों को विद्या और अविद्या के रहस्य को समझाया गया था और उनके साथ ही उनके आधार रूप परमात्मा को जान कर उसके परिणाम में प्राप्त होने वाली स्थिति का भी अवबोधन कराया था। विद्या और अविद्या, इनका मूल आशय पुरुष और प्रकृति से है। नित्य पुरुष चेतन है, उसका धर्म ज्ञान और उसका प्रतिफल सत्यानुभूति, ये सब कुछ विद्या शब्द में निहित है। परिवर्तनशीला प्रकृति, उसका कार्य क्षर जगत् और उससे आविर्भूत होने वाला स्वाभाविक कर्म तथा उससे व्यामोहित अवस्था मे उत्पन्न होने वाला विपरीत ज्ञान, ये सब कुछ अविद्या शब्द में समाहित है। गीता के तेरहवें अध्याय में भगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की व्याख्या करते हुए संक्षेप रूप में यही समझाया है। इनमें कार्य, करण और कर्तृत्व में हेतु प्रकृति है और उसके संयोग से उसमें आसक्त हुआ दुखः-सुखों का अनुभव करने वाला पुरुष है। कर्म प्रकृति का स्वभाव है और भोग चेतन पुरुष का। प्रभु गीता में कहते हैं—

> **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**
> **अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।**
>
> (गीता 3/27)

सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए हैं। अंहकार से मोहित हुआ अन्तःकरण में आसक्त पुरुष "मैं कर्त्ता हूँ" ऐसा मान लेता है। जो स्वयं को कर्त्ता मानता है, वही बन्धन में पड़ता है। लेकिन जो—"**नैवकिंचित् करोमिति**", मैं कुछ भी नहीं करता, ऐसा अनुभव करता है, वह सदैव कर्मबन्धनों से विमुक्त रहता है। १८वें अध्याय में प्रभु कहते हैं—जिस का कर्मों में अहंभाव नहीं है, जिस की बुद्धि उसमें लिपायमान नहीं होती, वह सम्पूर्ण

लोकों का हन्ता होते हुए भी न तो वह किसी को मारता है और न ही उसके परिणाम में आबद्ध होता है, क्योंकि तत्त्वतः कर्म प्रकृति का कार्य है, पुरुष का नहीं। पुरुष का सहज धर्म ज्ञान है, कर्म नहीं, ऐसा समझने वाला व्यक्ति सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। पांचवें अध्याय में प्रभु कहते हैं, देखते, सुनते, सूँघते, खाते, बोलते, चलते, आँख मीचते और खोलते हुए, इन सारी क्रियाओं को करते हुए, तत्त्ववेत्ता यह देखता है कि इन्द्रियाँ ही अपने अर्थों में बरत रही हैं, प्रकृति ही प्रकृति में क्रीड़ा कर रही है, मैं कुछ नहीं करता। ऐसा अनुभव करते हुए वह स्वयं को साक्षी-मात्र स्वीकार करता है। रूप तेज का गुण है, आँख तेज का अंश है, तेज स्वयं प्रकाश के रूप में अभिव्यक्त है, इस प्रकार प्रकाश में नेत्र रूप को देख रहा है। इसमें नेत्र इन्द्रिय ही अपने विषय में बर्त रही है। चेतन तो केवल प्रकाशक, द्रष्टा वा ज्ञाता मात्र है। इस रहस्य को जो जान गया है, वह बंधन में नहीं पड़ता। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि यह सम्पूर्ण क्रिया-कलाप प्रकृति में है, अविद्या में है। अनुभूति और उपभोग ज्ञान का स्वधर्म होने से यह विद्या में है। इस प्रकार विद्या और अविद्या, दोनों के संयोग से ही यह सम्पूर्ण जगत् व्यापार चल रहा है। जो जिज्ञासु साधक इन दोनों के सहित इनके परम कारण रूप प्रभु को जान जाता है,वही मृत्यु से मुक्त हो अमृत का उपभोग करता है।

कल मैंने बताया था कि यह संपूर्ण परिवर्तन प्रकृति और उसके कार्यों में ही हुआ करते हैं। इन्द्रियों में भी परिवर्तन हो जाता है और उनके विषयों में भी। एक दिन इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और वे अपना कार्य सम्पादन नहीं कर पातीं। आँख पहले सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं को देख लेती थी, अब चश्में की जरूरत पड़ने लगी है। एक दिन ऐसा भी आयेगा जब चश्मा भी सहायक नहीं बन पाएगा। कभी यह हाथ बहुत भार उठा लेते थे लेकिन एक दिन इतने कमज़ोर हो जायेंगे कि ग्रास भी नहीं उठाया जायेगा। इन्द्रियों की शक्ति पहले अल्प होती है, फिर धीरे-२ बढ़ती है। कुछ काल के लिए स्थाई होती है, फिर क्षीण होने लगती है और एक दिन समाप्त हो जाती है। प्रकृति के समस्त कार्यों और करणों की यही नियति है किन्तु इस शरीररूपी कार्य में इन्द्रिय रूपी करण को साथ लिए एक अप्राकृत तत्त्व, अमृत तत्त्व, इस शरीर में निवास कर रहा है, वह इन सभी के परिणामों को देख रहा है किन्तु उसके द्रष्टापन में कोई अंतर नहीं आता। सौ वर्ष के वृद्ध को भी अपने बचपन की घटनायें याद रहती हैं। शरीर की अवस्थायें बदल गई किन्तु उस ज्ञाता और द्रष्टा की अवस्था में कोई अन्तर नहीं आया। भारत में एक महान् योगी स्वामी

विशुद्धानंदजी महाराज थे। वे अपने आखिरी दिनों में राजस्थान में सवाई माधोपुर में एक मंदिर में रहा करते थे। मैंने उनके दर्शन किये हैं, उनके चरणों में बैठकर कुछ सीखने, समझने का भी सौभाग्य मिला है। लोग कहा करते थे कि वे लगभग 300 वर्ष के थे। पहले वे लगभग 100 वर्ष तक दिगम्बर अवस्था में घूमते रहे। उसके पश्चात् सवाई माधोपुर के रणथम्भौर के निकट एक पहाड़ की गुफा में 60 वर्ष तक रहे। उसके बाद सवाई माधोपुर में लक्ष्मीनारायण मंदिर में आकर रहने लगे। वे बड़े अद्‌भुत संत थे, वे एक कोठरी में सदैव नग्नावस्था में बैठे रहते थे। किसी से मिलना-ज़ुलना, बातचीत करना उन्हें बिल्कुल प्रिय नहीं था। नित्य प्रति दो घंटे के लिए वे बाहर निकलते थे, उस समय उनका स्वरूप बड़ा अद्‌भुत होता था। चूड़ीदार पायेजामा, लम्बा कुर्ता, सिर पर साफा, दोनों हाथों की आठों अंगुलियों में नग जड़ित मुद्रिकायें, एक राजपूत की तरह सज-धज कर बाजार के चौक में जाकर बैठ जाते। वे किसी से बातचीत नहीं करते थे और कुछ देर बाद लौटकर अपनी कोठरी में आते, सब कुछ उतार फेंकते और उसी नग्नावस्था में रहते। उनके शरीर को देखकर उनकी सुदीर्घ आयु का कोई अनुमान नहीं लगा सकता था। वे 60 या 70 वर्ष के प्रतीत होते थे।

एक बार मैं दक्षिण भारत बंगलौर में एक वृद्धतम संत स्वामी शंकरानंद के दर्शन करने गया। बात-चीत करते हुए कौतुहलवश जानने की इच्छा से मैंने उनसे पूछा, भगवन्! आप तो भारत के कई अन्य वृद्ध संतों से भी परिचित होंगे, आपकी जानकारी में आपसे भी अधिक आयु के कोई योगी तत्त्वज्ञ संत हैं? उन्होंने बताया कि भारत में इस समय वृद्धतम संतों में एक महापुरुष थे, किन्तु कुछ वर्षों से अब मुझे पता नहीं कि वे हैं वा शरीर छोड़ गये हैं, क्योंकि बहुत वर्षों से अब मैंने घूमना-फिरना बंद कर दिया है, इसलिए अब मुझे उनके विषय में पता नहीं। मैंने कहा, भगवन्! अभी कुछ दिनों पूर्व मैंने राजस्थान में एक संत के दर्शन किये, उनसे वार्त्तालाप करने का भी सौभाग्य मिला है और उन्होंने अपनी कृपा से ही मुझे अपने कुछ अनुभूत प्रयोग भी बताये हैं। जन-श्रुति के अनुसार वे बहुत ही वृद्ध महापुरुष हैं। शरीर तो स्वस्थ है किन्तु उनकी आँखों में सफेदी की जगह सारी पुतलियाँ बिल्कुल नीली हो गई हैं और पलकें काफी नीचे लटक गई हैं, इससे लगता है कि वे बहुत वृद्ध महापुरुष हैं। उन्होंने पूछा कि उनका नाम क्या है, जानते हो? मैंने बताया, स्वामी विशुद्धानंद। वे सुनकर, चौंक पड़े! बोले, वे कहाँ पर हैं आजकल? मैंने कहा, सवाई माधोपुर राजस्थान में। उन्होंने कहा, मैं उन्हीं

महापुरुष की बात कर रहा था। क्या अभी तक जीवित हैं? मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि वे बच्चेपन से ही उन्हें जानते हैं। बहुत सी बातें उन्होंने उनके विषय में बताई। यहाँ पर जिन शंकरानंद की बात मैं कर रहा हूँ उन दिनों वे स्वयं 150 वर्ष के थे। स्वामी विशद्धानंद जी भी दक्षिण भारत में मद्रास प्रान्त के रहने वाले थे और कांची मठ के जगद्गुरु शंकराचार्य के शिष्य थे। उनके सद्गुरुदेव का नाम श्री स्वामी चन्द्रशेखराचार्य सरस्वती था। दक्षिण भारत में एक और संत थे, जो अरुणाचलम् से थोड़ी दूर पर तपोवन में रहा करते थे, उनका नाम था स्वामी विज्ञानानंद जी महाराज। जिन दिनों मैंने उनके दर्शन किये, उन दिनों उनकी आयु 160 वर्ष की थी। अभी कुछ वर्ष पूर्व ही 165 वर्ष की आयु में उन्होंने शरीर छोड़ा है। अब उनके स्थान पर उनके शिष्य स्वामी हरिगिरि जी हैं, जो कभी-२ विदेश आते हैं। काशी में एक और महापुरुष थे, उनका भी नाम विशुद्धानंद था। वे महापुरुष काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गोपीनाथ कविराज के गुरु थे। जिन महापुरुषों की मैं चर्चा कर रहा हूँ, वे सभी महायोगी थे। मैं आप लोगों को यह बता रहा था कि स्वामी विशुद्धानंद की आयु लगभग 300 वर्ष की थी। अपनी चर्चा में उन्होंने श्री रामकृष्ण परमहंस के विषय में कहा "वह बहुत अच्छा संत था"। श्री विवेकानंद के लिए कहा "वह बहुत समझदार लड़का था, बहुत बुद्धिमान था।"मैं उन महापुरुषों के चरणों में बैठकर उनके सत्संग का लाभ लेता रहा, यह 1965 की बात है। उन दिनों मेरा विदेश आने का कोई भी विचार नहीं था। एक दिन हँसते हुए उन्होंने कहा कि तुम्हें पश्चिम के देशों में जाकर बहुत काम करना है, मैं देख रहा हूँ, बहुत से लोग वहाँ पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैंने जब कहा, भगवन्! मैं तो इंग्लिश जानता नहीं, बिना भाषा ज्ञान के वहाँ जाकर क्या करुँगा? उन्होंने कहा, तुम्हारे लिए कुछ भी कठिन नहीं है। और भी बहुत सी बातें की। आप लोग विचार करें, 300 वर्ष में शरीर के परमाणुओं में कितना परिवर्तन हुआ होगा, किन्तु उसमें रहने वाली आत्मा, उसके साथ लगी बुद्धि आदि में कोई परिवर्तन नहीं था क्योंकि उनकी सैंकड़ों वर्षों की स्मृति, अनुभूति को उनकी बुद्धि ने संजोये रखा था। भारत में ऐसे कई महापुरुष अब भी रह रहे हैं, जो अपनी साधना के बल से उच्चत्तम स्थिति में रहते हुए लोकहित के सम्पादन में निरत रहते हैं। बाबा रामदास, स्वामी बाबा मणिराम जी, स्वामी अभयानंद जी, ये सभी भारत की महान् विभूतियों में रहे हैं। ये अपने संकल्पमात्र से ही असंख्य जीवों के कल्याण करने में समर्थ थे।

इन महापुरुषों की कृपाप्रसाद का मेरे जीवन के निर्माण में बहुत बड़ा सहयोग रहा है। एक और महान् संत भारत के थे, अभी कुछ वर्ष पहले उन्होंने शरीर छोड़ा है, उनको नीम करौली बाबा के नाम से सभी जानते थे। उनके कृपाप्रसाद से ही कैलिफोर्नियाँ के एक अमेरिकन प्रोफेसर इस समय रामदास नाम से प्रसिद्ध हैं। वे भारतीय दर्शन और धर्म के प्रचार में निरत हैं, वे नीम करौली बाबा के ही शिष्य हैं। उनके विषय में भी लोगों का अनुमान है कि वे कई सौ वर्ष के संत थे किन्तु उनका चित्र देखकर आप यही अनुमान लगाएँगे कि वे 50-60 वर्ष के होंगे। महायोगी बाबा रामदास ने भी मुझे बताया था कि उनकी साधना अवस्था में नीम करौली बाबा का बहुत बड़ा सहयोग रहा। अवधूत शिरोमणि बाबा मणिराम के विषय में तो मैं कुछ कह ही नहीं सकता, मुझे बहुत बार महीनों तक उनके चरणों में रहने का सौभाग्य मिला है। वे एक महासिद्ध योगी थे। सर्दियों में हिमालय में और गर्मियों में नीचे गंगा के किनारे आ जाते थे। भिक्षा द्वारा शरीर निर्वाह और श्मशान से कफ़न लेकर ही कोपीन पहनते थे। उनका अथाह तत्त्वज्ञान प्राचीन वैदिक ऋषियों की स्मृति को सजीव बना देता था। उनका त्याग, उनकी साधना, उनका सरल स्वभाव, सदैव प्रसन्न रहने की मुद्रा, ये सब अविस्मरणीय है। वे कभी-२ अपनी करुणा से द्रवित हो कर ही तत्त्व-विज्ञान का उपदेश किया करते थे, साधना के रहस्य को समझाया करते थे। एक बार मुझे किसी गंभीर विषय पर उपदेश देते के पश्चात् उन्होंने कहा—बावरे! मेरा इस प्रकार का यह उपदेश पहला और आखिरी है। कभी-२ वे सम्पत्तिशालियों के यहाँ से भिक्षा न ग्रहण कर हरिजन महिलाओं की टोकरी में से रोटी उठाकर खा लेते और उनके चकित होने पर हँसते हुए चल देते। विनयपत्रिका के बड़े ही प्रेमी थे। कभी-२ 12 बजे रात से लेकर 4 बजे प्रातः तक निमग्न हो विनयपत्रिका सुनते रहते। उनकी प्रसन्नता के लिए मैं गाता रहता। आज भी भारत भूमि ऐसे महापुरुषों के चरणों से कृतार्थ हो रही है। मैं ब्रह्मविद्या के जिन रहस्यों को आप लोगों को समझा रहा हूँ, उनका बोध मुझे उन प्रत्यक्षधर्मा महापुरुषों के चरणों में बैठकर ही प्राप्त हुआ है। विद्या और अविद्या के रहस्य को समझ कर आप लोग भी उस परम तत्त्व को जानने और प्राप्त करने की साधना में प्रवृत्त हों, इसी से आप कल्याण के भागी बनेंगे। जिस अवस्था को प्राप्त करने की सीख यह उपनिषद् दे रही है, वहाँ न मृत्यु है, न भय है, न दु:ख है, न पीड़ा है, न मोह है, न शोक है, वही जीवन की प्राप्तव्यपूर्ण अवस्था है।

विद्या और अविद्या के सम्बन्ध में मैंने अब तक आप लोगों को प्राचीन

आचार्यों, अर्वाचीन विद्वानों के विचारों के साथ ही प्रत्यक्षधर्मा महापुरुषों के चरणों में बैठ कर तथा वर्षों के साधन-स्वाध्याय के परिणाम से मिले हुए अपने अनुभूत विचारों से भी अवगत कराया है। यहाँ मेरा उद्देश्य पूर्व के आचार्यों के सिद्धान्तों का खण्डन करना नहीं है। मेरा प्रयोजन इतना ही है कि अब तक इस ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित जो कुछ विचार व्यक्त किये गये हैं, उनसे आपको अवगत करा दूँ। इसी संबंध में एक और भी सिद्धांत है, आप लोग उसे भी श्रवण करें। उपनिषदों में पितृयान और देवयान नाम के दो मार्ग बताये गये हैं, इसे धूम्रमार्ग ओर अर्चिमार्ग भी कहा गया है। गीता के आठवें अध्याय में भी इसका वर्णन है। इनमें से एक पुनरावर्ति मार्ग है और दूसरा अपुनरावर्ति मार्ग अर्थात् मोक्ष मार्ग। विद्वानों की राय है कि यहाँ अविद्या की उपासना धूम्रमार्ग वा पितृयान से सम्बन्धित है और विद्या की रति अर्चिमार्ग वा देवयान से। पितृयान से गया हुआ जीव पुनः लौटकर संसार में आ जाता है, यह सकामं कर्म का मार्ग है। यह कर्म वेद प्रतिपादित यज्ञमय कर्म है, जिसका फल स्वर्ग आदि की प्राप्ति बताया गया है। जिसका पुण्य क्षीण हो जाने पर साधक पुनः इसी संसार को प्राप्त हो जाता है, इसी को अविद्या कहा गया है। इसके उपासक अवश्य ही परिणाम में घोर अन्धकार में प्रवेश पाते हैं, पुनः जन्म-मृत्यु के प्रवाह को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए विवेकशील साधकों को इस पुनरावर्ति दुःखद परिणामदायी कामना प्रधान पितृमार्ग रूपी अविद्या की उपासना में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। यहाँ तक इस सिद्धान्त की संगति बैठ जाती है। किन्तु देवयान को विद्या के रूप में स्वीकार करके उसमें रति के परिणाम में जो उससे भी घोर अन्धकार को प्राप्त करने की बात कही गई है, उसकी संगति नहीं बैठ पाती। गीता में भगवान् ने धूम्रमार्ग की व्याख्या करते हुए बताया है—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।

(गीता 8/25)

दक्षिणायन के छः मास, कृष्ण-पक्ष, रात्रि, धूम और चन्द्रमा ज्योति, इन सब के अभिमानी देवता, ये कृष्ण गति के सहयोगी हैं, इसी को उपनिषदों में पितृमार्ग कहा है। जैसा कि मैंने बताया है, सकाम कर्मों के परिणाम से मिले हुए फल को भोगने के लिए ही वैदिक इष्टापूर्त कर्मों के अनुष्ठान में निरत, कर्ममार्ग की उपासना करने वाला साधक, इस गति को प्राप्त होता है—"**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**" पुण्य क्षीण हो जाने पर वह पुनः मृत्युलोक को प्राप्त हो

जाता है। दूसरा देवयान दिव्य मार्ग है। इसके सहयोगी उत्तरायण के छः महीने, शुक्लपक्ष, दिन एवं अग्नि ज्योति के अभिमानी देवता हैं। भगवान् कहते हैं–

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।

(गीता 8/24)

जो ब्रह्म के ज्ञाता वेदज्ञ साधक हैं, वे शरीरान्त के पश्चात् इस प्रकाशमय मार्ग से जाकर उस लोक को प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ से उन्हें पुनः लौटकर इस मृत्यु-लोक में आना नहीं पड़ता। ये देवयान मार्ग अपुनरावर्ति मार्ग है। बृहदारण्यकोपनिषद् में इन दोनों गतियों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। देवयान के अधिकारी पंचाग्नि विद्या के ज्ञाता ही हुआ करते हैं।जो इस पंचाग्नि विद्या को जानते हैं, जो अरण्य में निवास करते हुए श्रद्धायुक्त हो सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, जो हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे ज्योति वा प्रकाश के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उन देवताओं से आगे दिन के अभिमानी, फिर उनसे आगे शुक्ल पक्ष के अभिमानी, उनसे आगे उत्तरायण के अभिमानी देवता को और फिर उनसे आगे देवलोक को प्राप्त होते हैं। देवलोक से आदित्य लोक को और फिर वहाँ से आगे विद्युत देवता को प्राप्त होते हैं और विद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। ब्रह्मलोक में अनन्त काल तक निवास करने के पश्चात् ब्रह्मा के साथ ही वे परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। किन्तु जो वेद प्रतिपादित इष्टपूर्तमय कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, स्वर्ग की कामना से, सुख की कामना से यज्ञ, दान और तप का अनुष्ठान करते हैं, वे धूम के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। फिर क्रमशः धूम के, रात्रि के, कृष्ण पक्ष के, उससे आगे दक्षिणायन के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उससे आगे वे पितृलोक को, फिर वहाँ से आगे चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। वहाँ पहुँच कर वे देवताओं के अंग बन जाते हैं और अमित काल तक अपने पुण्य का फल भोगते हैं। जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तब वे पुनः इस अन्तरिक्ष को प्राप्त होते हैं। अन्तरिक्ष से वायु को, वायु से परजन्य को, उससे फिर वर्षा के रूप में पृथ्वी को प्राप्त होते हैं। पृथ्वी पर अन्न को प्राप्त होते हैं और अन्न का पुरुष रूप अग्नि में हवन होता है और उससे वे स्त्री के गर्भ में प्रवेश पाते हैं, फिर वे मनुष्य रूप में इस पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। ये दो प्रकार की गतियाँ देवयान और पितृयान के नाम से कही जाती हैं। यह भी याद रहे कि जो धर्मानुष्ठान नहीं करते, विषयों में ही आसक्त रहते हैं, उनके लिए इनमें से किसी भी गति को प्राप्त होना संभव

नहीं। वेद कहता है, वे लोग तिर्यक गति को प्राप्त होते हैं। अधोगति को प्राप्त हो कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि योनियों में जाते हैं। अब आप लोग पितृयान और देवयान के स्वरूप और उनके परिणाम के विषय में भली-भाँति समझ गये होंगे। इनमें से पितृयान अर्थात् धूम्रमार्ग के कारणभूत वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में लगे हुए व्यक्ति को अविद्या का उपासक मानना और उसके परिणाम में उसे अन्धकार को प्राप्त होने वाला मानना, ये तर्कसंगत और शास्त्र सम्मत है। किन्तु देवयान के पथिक को विद्यारत मानना और उससे भी अधिक गहरे अन्धकार में प्रवेश पाने वाला बताना, न तो युक्तिसंगत है और न शास्त्र सम्मत ही। इसलिए जिन आचार्यों ने विद्या का अर्थ हिरण्यगर्भादि देवों के उपासक वा उनमें रत अर्थ किया है, मेरे विचार से वह सर्वथा उचित नहीं। क्योंकि हिरण्यगर्भ की उपासना का विधान और उसके द्वारा क्रममुक्ति को प्राप्त करने की व्यवस्था वैदिक मंत्रों और उपनिषदों में भी प्राप्त होती है। इसलिए मेरे विचार से विद्या और अविद्या को देवयान और पितृयान के साथ जोड़ना ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में मैंने विभिन्न आचार्यों के मतों को व्यक्त करते हुए उनके साथ ही जो अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनकी अपेक्षा वह युक्तिसंगत और विशेष कर उपनिषद् सम्मत होने से सर्वथा ग्राह्य है।

यहाँ पर कुछ आचार्यों ने दसवें और ग्यारहवें मन्त्रों का अर्थ विद्या और अविद्या के द्वारा प्राप्त होने वाले फल की बात न मान कर यह किया है कि विद्या का स्वरूप अन्य है और अविद्या का स्वरूप अन्य है, ऐसा हमने उन धीर पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमें उनका प्रत्यक्ष करवाया है। मेरे विचार से यदि ऐसा अर्थ मान लिया जाये तो इस मंत्र में प्रयुक्त हुए तत् शब्द के अर्थ की संगति नहीं बैठती। यहाँ तत् शब्द आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वह आत्मा विद्या से अन्य है और अविद्या से भी अन्य है, ऐसा हमने उन ज्ञानदाता गुरुजनों से सुना है, जिन्होंने हमें उस आत्म-तत्त्व का प्रत्यक्ष अवबोधन करवाया है। यह अर्थ करने से ही इस मंत्र का सही भाव प्रकट होता है। इससे अगले मन्त्र में भी उस तत् शब्द का प्रयोग हुआ है। यह "तत् वेद उभयं" विद्या और अविद्या, उन दोनों के साथ जो उसे जानता है, यह इस वाक्य का अर्थ होता है। विद्या और अविद्या, ये दोनों उस परमात्मा की ज्ञान और गुणमयी शक्तियाँ हैं। उन शक्तियों के साथ जो उस शक्तिमान को जानता है, वही मृत्यु के भय से पार हो अमृत को प्राप्त होता है। यहाँ पर एक बात आप लोगों को और बतादें कि वेद के प्रत्येक मन्त्र का ऋषि, देवता और छंद हुआ करता है। उसमें देवता मन्त्र के विषय को कहते हैं। अभिप्राय यह है कि उस देवता की व्याख्या में ही मंत्र की

सार्थकता होती है। इनका अर्थ करते समय यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए। उस आत्मा के स्वरूप, गुण, धर्म, महिमा के गान में ही इन मंत्रों का प्रयोग है। मेरे विचार से इन तीनों मंत्रों के विषय में बहुत सी बातें आप लोगों को समझा दी गई हैं। इससे आगे इसी प्रकार के तीन मंत्र और हैं, उनमें भी मृत्यु से मुक्त हो अमृतत्त्व की प्राप्ति का उपदेश है। अन्तर इतना है कि जैसे इन मंत्रों में विद्या और अविद्या के सहित परमात्मा को जानने का उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार से आगे के मंत्रों में सम्भूति और असम्भूति के सहित परमात्मा को जानने का उपदेश किया गया है। उसी से, मृत्यु से मुक्त हो अमृत की प्राप्ति बताई है। उन तीन मंत्रों में पहला मंत्र इस प्रकार है –

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव तो तमो य उ सम्भूत्याँ रताः।।

जो मनुष्य असम्भूति की उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति में रत हैं, वे उनसे भी मानो अधिक अन्धकार में प्रवेश पाते हैं। इस मंत्र में असम्भूति और सम्भूति, इन दोनों शब्दों के अर्थ आचार्यों ने अपने-२ मतानुसार भिन्न-२ प्रकार से किये हैं। किसी ने असम्भूति का अर्थ देव-पित्तर आदि और सम्भूति का अर्थ अविनाशी परमेश्वर किया है। आगे इस क्रम के तीसरे मंत्र में असम्भूति के स्थान पर विनाश शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए असम्भूति वह तत्त्व है जो विनाशधर्मा हो और उसके विपरीत सम्भूति वह तत्त्व है जो अविनाशी हो। इसी आधार पर असम्भूति का अर्थ देव, पित्तर लोकादि जो विनाशधर्मा हैं, यह किया है और सम्भूति का अर्थ विनाश रहित परमात्मा किया है। कुछ विद्वानों ने असम्भूति का अर्थ अव्याकृत प्रकृति और सम्भूति का अर्थ कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ किया है। कुछ विद्वानों ने सम्भूति का अर्थ—सं-संगठित भूति अर्थात् संगठित होना किया है और असम्भूति का अर्थ—अ-नहीं,सं संगठित भूति अर्थात् संगठित न होना, व्यक्ति भाव में रहना किया है। किसी विद्वान् ने असम्भूति का अर्थ निरोध और सम्भूति का अर्थ विकास किया है और किसी ने सम्भूति को जन्म तथा असम्भूति को मृत्यु माना है। इस प्रकार किसी ने असम्भूति को निर्गुण तथा सम्भूति को सगुण माना है और असम्भूति की उपासना को ज्ञान और सम्भूति में रति को भक्ति माना है और बताया है कि भक्ति और ज्ञान के समुच्चय से ही साधक मृत्यु से पार हो अमृत का भोक्ता हो सकता है। आचार्य शंकर के सिद्धांतानुसार इस क्रम के तीसरे मंत्र में जो "सम्भूतिं च विनाशं च" है, उनके विचारानुसार वहाँ "सम्भूतिं च" न पढ़ कर वहाँ "असम्भूतिं च विनाशं च" पढ़ना चाहिए

क्योंकि उनके मत से विनाश असम्भूति का नहीं होता सम्भूति का होता है। असम्भूति अव्यक्त तत्त्व है जो कि अविनाशी है और सम्भूति व्यक्त तत्त्व है जो कि विनाशशील है। सभी आचार्यों और विद्वानों के मत विभिन्न दृष्टियों से साधक के लिए एक रहस्य का उद्घांटन करते हैं। इस संबंध में यह कहना कि अमुक आचार्य वा विद्वान् का अर्थ गलत है, यह उचित नहीं। शब्द कल्पवृक्ष है। वह प्रत्येक उपासक को अभिमत फल प्रदान करता है। जैसा की मैंने कई बार बताया है कि मानव समाज में भिन्न-२ बौद्धिक स्तर के लोग रहा करते हैं और वे सभी एक ही प्रकार की भाषा और भाव को न तो समझ ही पाते हैं और न ग्रहण ही कर पाते हैं। इसीलिए वैदिक विज्ञान की व्याख्या में प्राचीन काल से ही अनेकों आचार्यों ने अनेकों विचारधाराओं और भावनाओं से युक्त विभिन्न संप्रदायों की स्थापना की है। मेरे विचार से वे सभी आचार्य पूर्णप्रज्ञ थे किन्तु उन्होंने मानव समाज की स्थिति को देखते हुए ही विभिन्न प्रकार की विचार पद्धतियों और उपासना पद्धतियों की प्रतिष्ठा की थी। इस मंत्र में असम्भूति और सम्भूति दो शब्द हैं, इन्हीं को दूसरे मंत्र में इस प्रकार से व्यक्त किया है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।

"सम्भवात् अन्यत् एव आहुः असम्भवात् अन्यत् आहुः इति धीराणां शुश्रुम ये न तत् विच चक्षिरे।" अर्थात् सम्भव से अन्य ही कहा है, असम्भव से अन्य कहा है, इस प्रकार धीर पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमें उसका विशेष रूप से साक्षात् अवबोधन कराया है। प्रथम मन्त्र में जिसे सम्भूति और असम्भूति कहा था, उसी को दूसरे मन्त्र में सम्भव और असम्भव कहा है। अन्तर इतना ही है कि दूसरे मंत्र में क्रम बदल दिया है। प्रथम में पहले असम्भव शब्द का प्रयोग हुआ है और फिर सम्भव का। दूसरे में पहले सम्भव है और फिर असम्भव। इसके बाद तीसरा मन्त्र इस प्रकार है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।

"सम्भूति च विनाशं च उभयं स ह य तद वेद। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतं अश्नुते।।" जो सम्भूति और विनाश, इन दोनों के सहित उसे जानता है, वह विनाश के द्वारा मृत्यु को पार कर सम्भूति के द्वारा अमृत को प्राप्त करता है, यह हुआ उसका शाब्दिक अर्थ। इन तीन मन्त्रों में असम्भूति, असम्भव और विनाश, ये एक अर्थ में, सम्भूति और सम्भव दूसरे अर्थ में

प्रयुक्त हुए हैं। पहले मन्त्र में असम्भूति के साथ उपासना और सम्भूति के साथ रत शब्द का प्रयोग हुआ है। दूसरे मंत्र में सम्भूति और असम्भूति के साथ ही तत् शब्द का प्रयोग हुआ है और यह कहा है कि जिन धीर पुरुषों ने हमें उस तत् पदार्थ का अवबोधन कराया है, उन्होंने सम्भूति और असम्भूति, इन दोनों से उसे अन्य कहा है। तीसरे मंत्र में ऋषि कहते हैं कि सम्भूति और विनाश, इन दोनों के साथ जो उस तत् तत्त्व को जानता है, वह विनाश के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण कर सम्भूति के द्वारा अमृत को प्राप्त कर लेता है। अभी इन तीन मन्त्रों में ज्ञातव्य वा जानने योग्य तीन तत्त्व हैं—सम्भूति, विनाश और तत्। इनके ज्ञान से ही मृत्यु का अतिक्रमण और अमृत तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं। जिन आचार्यों ने असम्भूति का अर्थ अव्यक्त प्रकृति और सम्भूति का अर्थ कार्य ब्रह्म, हिरण्यगर्भ आदि किया है, मेरे विचार से उसकी संगति यहां नहीं बैठती। व्यावहारिक जगत् में अव्यक्त प्रकृति की उपासना किसी को भी अभीष्ट नहीं। व्यक्त प्रकृति की उपासना करते हुए अवश्य ही लोग देखे जाते हैं और दूसरा सम्भूति के अर्थ में कार्य ब्रह्म रूप हिरण्यगर्भ को स्वीकार करना और उसमें रत होने वाले को घोरतम अन्धकार में प्रविष्ट हुआ मानना, यह सर्वथा शास्त्र विरुद्ध, युक्तिहीन है। हिरण्यगर्भ में अनुरक्ति का विधान वैदिक साहित्य में देखा जाता है। कार्य ब्रह्म को ही ब्रह्म शब्द से सम्बोधित किया जाता है, वही वेद का हिरण्यगर्भ है और उसे रसस्वरूप मान कर उसकी आराधना का विधान किया गया है। ऋग्वेद की श्रुति कहती है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
स दाधार प्रथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(ऋग्वेद 10/121/1

सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व परम प्रकाश स्वरूप अनन्त तेज से युक्त वह हिरण्यगर्भ परमात्मा वर्तमान था और वही परमात्मा उत्पन्न हुए प्राणियों का एक मात्र स्वामी था। वह परमात्मा ही इस भूमि और द्यु लोक को धारण कर रहा है, उस आनन्दस्वरूप परमदेव के लिए ही हम हवि का समर्पण करते हैं। हिरण्यगर्भ की उपासना देवयान मार्ग है, जिसके विषय में मैंने आप लोगों से पहले बताया है कि यह देवयान मार्ग क्रममुक्ति का मार्ग है। इसमें अनुरक्त साधक कभी भी घोरतम अन्धकार में प्रवेश नहीं पा सकता। यही तर्क उन पर लागु होता है, जो इन दोनों शब्दों का अर्थ सगुण या निर्गुण करते हैं। आश्चर्य यह होता है कि उन विद्वानों ने मृत्यु से पार होकर अमृत तत्त्व को प्राप्त करने की संगति बैठाने के लिए असम्भूति और सम्भूति के अर्थ में जिन तत्त्वों को स्वीकार

किया है, उनके विषय में वे भूल जाते हैं कि पहले प्रथम मन्त्र के साथ भी इनकी संगति बैठनी अत्यावश्यक है और साथ ही यह भी भूल जाते हैं कि इन मन्त्रों का देवता आत्मा है। उसकी महत्ता भी इन मंत्रों के द्वारा प्रकट होनी चाहिए। जिन लोगों की यह राय है कि यहाँ भक्ति और ज्ञान के समन्वय की बात कही गई है और ज्ञान के द्वारा मृत्यु को पार कर भक्ति के द्वारा अमृत तत्त्व को प्राप्त करने की व्यवस्था की गई है, उन्हें यह भी विचार करना चाहिए कि क्या केवल भक्ति साधक को अन्धकार में प्रवेश कराती है या क्या केवल ज्ञान मनुष्य को घोरतम अन्धकार में ले जाता है? यदि यह कहा जाये कि यहाँ पर सही भक्ति और सही ज्ञान की बात नहीं अपितु अंध श्रद्धायुक्त भक्ति तथा ज्ञानाभिमानियों की बात कही गई है, यह भी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें 'उपासते' और 'रतः' शब्द आराधना और अनुरक्ति का ही अवबोधन कराते हैं, अन्ध श्रद्धा और ज्ञानाभिमान का नहीं। जिन्होंने इनका अर्थ मृत्यु और जन्म माना है, यहाँ पर उपासते और रति के साथ उनकी भी संगति नहीं बैठती। मेरे विचार से इन मन्त्रों की व्याख्या करते समय तीनों में प्रयुक्त शब्दों पर ध्यान देते हुए उचित अर्थ की संगति बैठानी चाहिए। इन मन्त्रों में आए हुए उपासना, रति और बोध, ये तीनों शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जिनकी उपासना करके, जिनमें रत होकर मनुष्य केवल अन्धकार में ही प्रवेश पाता है, वे कौन से तत्त्व हैं और वह कौन सा तत्त्व है,जिसे उन दोनों को साथ जान कर मनुष्य मृत्यु से मुक्त हो अमृत तत्त्व को प्राप्त कर लेता है? यही तो इन मन्त्रों में विचारणीय विषय है।

श्रुति का कथन है कि असम्भूति की उपासना मत करो, सम्भूति में रत मत हो। इस सम्भूति और असम्भूति के साथ इन दोनों के स्वरूप को, इनके कार्य-कारण सम्बन्ध को, इनके प्रयोजन को, इनके गुण और धर्म को जानो। इनके साथ ही उस परम तत्त्व को जानो जिसके प्रकाश में इनकी सत्ता है, फिर तुम मृत्यु से मुक्त हो अमृत तत्त्व के भाजन बनोगे। अभिप्राय यह है कि न तो असम्भूति की उपासना और न सम्भूति में अनुरक्ति ही मनुष्य के कल्याण का हेतु बन सकती है। केवल इनका यथार्थ बोध ही मनुष्य के कल्याण का साधक होता है। यह तो सभी का जाना हुआ सत्य है कि उपासना में स्वीकृति की प्रधानता हुआ करती है और रति में व्यक्ति का विवेक लुप्त हो जाता है। केवल स्वीकृति और रति मनुष्य को मृत्यु से मुक्त करा कर अमृत प्रदान नहीं कर सकती। वेद की घोषणा है—"ऋते ज्ञानान्न मुक्ति।" ज्ञान के अभाव में मनुष्य जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त नहीं हो सकता। मुक्ति का साधक तो केवल ज्ञान

ही होता है। इसे गम्भीरता से आप लोग समझ लें। किसी भी तथ्य को स्वीकार कर तदनुसार जब आप अपना जीवन बनाते हैं, किन्तु उसके रहस्य को जानने की कोशिश नहीं करते तो यथार्थ लाभ से आप वंचित ही रह जाते हैं। इसीलिए शास्त्र का कथन है कि जिसकी उपासना करना चाहते हैं, जिसमें अनुरक्त होना चाहते हैं, उसे पहले भली-भाँति समझ लें और जान लें। बिना जाने अटल विश्वास नहीं होता, बिना अटल विश्वास के प्रेम नहीं होता और बिना अटूट प्रेम के भक्ति नहीं होती, अनुरक्ति नहीं होती। गोस्वामी जी कहते हैं—

जाने बिनु न होइ परतीति। बिनु परतीति होई नहिं प्रीति।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खग पति जल कै चिकनाई।।

(7/89/7,8)

कहने का अभिप्राय यह है कि उपासना और अनुरक्ति के लिए भी उपास्य और अनुरक्ति के आश्रय का यथार्थ बोध होना ही चाहिए, तभी उससे अभीष्ट की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। यह हम सभी जानते हैं कि ज्ञान के अभाव में उपासना का आधार हम उन्हीं तत्त्वों को बना सकते हैं, जो हमारे लिए सुखद प्रतीत होते हैं और जो हमारे लिए अत्यन्त निकट और प्रिय हैं। वेद का कथन है, उपासना और रति के आश्रय के सम्बन्ध में यथार्थ रूप से जानों, फिर तुम उनके द्वारा यथार्थ लाभ प्राप्त कर पाओगे, मृत्यु से मुक्त हो अमृत तत्त्व को प्राप्त कर पाओगे।

जैसे विद्या और अविद्या के प्रसंग में प्रथम मन्त्र में पहले अविद्या का प्रयोग किया गया है फिर विद्या का और बाद में दूसरे और तीसरे मन्त्र में प्रथम विद्या का और फिर अविद्या का प्रयोग है, ठीक वही क्रम इन तीनों मन्त्रों में भी दिया गया है। इसीलिए यहाँ पर तीसरे मन्त्र में सम्भूति के स्थान पर असम्भूति पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। उपनिषदों की यह प्रक्रिया दिखाई देती है कि किसी विषय को समझाने के लिए ऋषि पहले अधिदैव तथा अधिभूत के रूप में उसकी व्याख्या करता है, फिर उसी बात को अध्यात्म के रूप में बताता है। यह याद रखें कि उपनिषदों का सिद्धान्त **"यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे"** की घोषणा करता है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। ब्रह्माण्ड की यथार्थता को समझने के लिए पिण्ड की यथार्थता को समझना अत्यावश्यक है। एक बात यह भी है कि ब्रह्माण्डगत तत्त्वों की मीमांसा एकाएक समझ नहीं आती और वही बात जब पिण्डगत तत्त्वों के रूप में समझाई जाती है तो वह सुगमता से समझ में आ जाती है। अधिदैव और अधिभूत दृष्टि ब्रह्माण्डगत है और अध्यात्म दृष्टि पिण्डगत। पहले विद्या और अविद्या, इन दोनों के रूप में अधिभूत और अधिदैव की बात

कही गई। अब उसी को ऋषि असम्भूति और सम्भूति के रूप में अध्यात्म की व्याख्या करते हुए इस रहस्य का उद्‌घाटन करता है और उसका कहना है कि जो असंभूति रूप विनाशधर्मा शरीर की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश पाते हैं और उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में वे जाते हैं जो सम्भूति रूप अहं भाव में रत होते हैं। जिन तत्त्ववेत्ता धीर पुरुषों ने हमें उस आत्म-तत्त्व का प्रत्यक्ष अवबोधन कराया है, उनके द्वारा हमने सुना है कि वह आत्म-तत्त्व इन पंचमहाभूतों से निर्मित स्वभावतः अकल्याण रूप शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है और वह इस शरीर में स्फुरित होने वाले कल्याणरूपा अहं भाव चेतन से भी भिन्न है। शरीर में स्फुरित होने वाले चेतन रूपी सम्भूति को तथा विनाशधर्मा इस शरीर के साथ ही जो इनके आश्रय रूप उस सच्चिदानंद आत्म-तत्त्व को जानते हैं, वे ही शरीर के यथार्थ बोध से मृत्यु से पार होकर अहं रूप में स्फुरित होने वाले चेतन को यथार्थ रूप से जान अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं। मेरे विचार से सार रूप में यही इन मन्त्रों का भाव है और इसी प्रकार से इन तीनों मन्त्रों में प्रयुक्त हुए शब्दों की संगति बैठती है। शरीर का उपासक वा अहं में रत रहने वाला ही घोर अन्धकार, घोरतम अन्धकार में प्रवेश पाता है। निर्गुण, निराकार वा सगुण, साकार का उपासक चाहे वह जान कर उपासना करे वा अन्जान में, कभी भी अन्धकार में प्रवेश नहीं पा सकता, कभी भी पतन का पात्र नहीं बन सकता। गोस्वामी जी का कथन है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।। (1/28/1)

भाव से, कुभाव से, अनख से, आलस से, किसी भी प्रकार से भगवान् का चिन्तन किया जाये, उससे सर्वत्र मंगल ही होता है। भगवान् शुकदेव श्रीमद् भागवत पुराण में परीक्षित को समझाते हुए कहते हैं कि भगवान् में अनुरक्ति किसी भी भाव से की जाए, तब भी जीव का उद्धार हो जाता है। कंस शत्रु भाव से ही प्रभु का चिंतन करता था, प्रभु ने उसे भी परम गति प्रदान की। मेरी ऐसी राय है कि ईश्वर को जान कर वा बिना जाने, किसी भी प्रकार से उसकी उपासना करें, उसमें अनुरक्ति हो, चाहे उसके निर्गुण रूप में हो वा सगुण रूप में, उससे जीव का अवश्य ही उद्धार हो जायेगा। वह घोर अन्धकार में प्रवेश न कर प्रभु के कृपा प्रसाद को ही प्राप्त करेगा। कार्य ब्रह्म की उपासना हो वा कारण ब्रह्म की, उसमें अनुरक्त होने वाला साधक कभी भी पतन को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए सम्भूति का अर्थ हिरण्यगर्भ करने वाले विद्वानों को यह स्मरण रखना चाहिए कि उसमें अनुरक्त होने वाला साधक घोरतम अन्धकार को कैसे प्राप्त हो सकता है? हिरण्यगर्भ को ही ईश्वर कहते हैं। ईश्वर में अनुरक्ति अकल्याण

में हेतु नहीं हो सकती, ऐसी कल्पना ही सर्वथा निरर्थक है।

इस क्रम के दूसरे मन्त्र में श्रुति ने यह कहा है– "**अन्यतः एव आहुः सम्भवात् अन्यत् आहुः असम्भवात्। इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद विचचक्षिरे।**" वह सम्भव से अन्य ही कहा गया है और असम्भव से अन्य कहा गया है, ऐसा हमने उन धीर पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमें उसका साक्षात करवाया है। यहाँ पर श्रुति सम्भवात् और असम्भवात्,इन दोनों से उस आत्म तत्त्व को भिन्न बताती है। वेद कहता है कि धीर पुरुष ही उसके प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। कठोपनिषद् में कहा है–

कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षु रमृतत्वमिच्छन्।

(कठ० 2/1/1)

कोई धीर पुरुष ही इस आत्मा को देखता है और वह दृष्टि को अन्तर्मुखी करने वाला और अमृतत्त्व की इच्छा रखने वाला होता है। अभिप्राय है कि अमृत का अभीप्सु साधक ही बाह्य जगत् से दृष्टि को मोड़ कर अन्तर्मुखी हो स्थिर प्रज्ञा के प्रकाश में उस आत्म तत्त्व को देख पाता है। इसके अगले मन्त्र में कहा है– **अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।**

(कठ० 2/1/2)

धीर पुरुष अमृतत्त्व को जान कर इस लोक के अनित्य पदार्थों में नित्य की आशा नहीं रखते। उपनिषद् के इन वाक्यों से ज्ञात होता है कि धीर पुरुषों के द्वारा ही अमृतत्त्व वा आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है, वे ही यथार्थतः उसके ज्ञाता हैं। ऋषि इस मंत्र में उसी आत्म तत्त्व के विषय में कह रहा है कि वह सम्भव और असम्भव, दोनों से ही भिन्न है। जो सम्भव है, उसका अलग स्वरूप है, उसके गुण, धर्म, स्वभाव अलग हैं। जो असम्भव है, उसका स्वरूप भिन्न है, उसके गुण, धर्म, स्वभाव अलग हैं। हाँ, इन दोनों की सत्ता उसी आत्म-तत्त्व पर आश्रित है, इसलिए इन दोनों के साथ उसे जानने की सीख अगले मंत्र में दी गई है। अगले मंत्र में सम्भूति और असम्भूति को सम्भूति और विनाश कहा है। सम्भूति का शाब्दिक अर्थ होता है सम्यक् प्रकार से होना। यहाँ 'सम' उपसर्ग है, 'भू' धातु है। 'सम' उपसर्ग सम्यक् अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'भू' धातु सत्ता वाचक है, जिससे भूति शब्द बना है। समग्र शब्द का अर्थ होता है सम्यक् प्रकार से होना। यह सम्भूति शब्द उस आत्मा की अहंरूप में अभिव्यक्ति का अवबोधक है। 'सम' का अर्थ सम्यक् प्रकार से धारण वा गठन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। हम आप सभी जानते हैं कि उस चेतनांश के द्वारा ही अनन्त परमाणुओं को संगठित कर

शरीर रूप में उस का धारण हुआ है। यह शरीर और उसका संघात, यह सभी कुछ असंभूति है, यह स्वभावतः असंगठित एवं बिखराव वाला है। यह पंचमहाभूतों का कार्य है, इसका सहज स्वभाव अपने कारण में लीन होना है। कार्य के कारण में लय को ही नाश कहते हैं। यह आप सबको पहले भी बताया गया है कि सांख्य का सिद्धान्त है—"नाशो कारण लय"। कार्य का कारण में लय होना ही नाश है। इसलिए इस शरीर को असम्भव, स्वभावतः असंगठित अथवा सम्यक् रूप में न होने वाला, न रहने वाला, प्रतिपल परिवर्तनशील विनाश शब्द से सम्बोधित किया गया है। इसलिए असम्भूति और विनाश, ये दोनों शब्द शरीर और इन्द्रियों के लिए यहाँ प्रयुक्त हुए हैं। समष्टि रूप में जो अविद्या और विद्या है, वही व्यष्टि रूप में विनाश और सम्भूति है। प्रकृति अविद्या है और यह प्राकृत शरीर असम्भूति वा विनाश। वेद भगवान् का कथन है—जो इस परिछिन्न चैतन्यरूप सम्भूति को और उसकी उपस्थिति में बने हुए संघातरूप इस विनाशधर्मा शरीर को, इनके गुण, धर्म, स्वभाव और प्रयोजन के सहित, इन दोनों के परम आश्रयरूप उस परमात्म तत्त्व को साथ-2 जानता है, वह विनाशधर्मा शरीर के कार्य-कारण स्वरूप की यथार्थता को जान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है और उस परिछिन्न चैतन्य के ज्ञान द्वारा, उसके यथार्थ स्वरूपबोध द्वारा अमृत तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। इस मंत्र में जीवन की समग्रता को जानने और समझने के लिए श्रुति का संदेश है। यहाँ अमृतत्त्व शब्द से संकेत उस अपरिछिन्न चैतन्यघन आत्मा से है जो सर्वव्यापी होकर सर्वरूप में व्यक्त हो रहा है। उस अमृतत्त्व को प्राप्त करने के लिए परिछिन्न चैतन्य ही एक मात्र साधन है। किन्तु यहाँ यह बात याद रखनी है कि उस परिछिन्न चैतन्य में रति अर्थात् आसक्ति-मात्र से अभीष्ट की सिद्धि नहीं होने की। उसके स्वरूप का यथार्थ बोध प्राप्त करने से ही उसके कारण-रूप अमृतमय आत्म तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। यहाँ यह बात याद रखनी है कि जहाँ विद्या और अविद्या में परा और अपरा, दोनों प्रकार की प्रकृतियों की उपासना और अनुरक्ति की बात कही गई थी और बताया गया था कि उनके द्वारा साधक घोर अज्ञानरूप अन्धकार में ही प्रवेश पाता है, अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर पाता, उसी बात को यहाँ सम्भूति और असम्भूति तथा गीता में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा है। इनकी उपासना और अनुरक्ति का ऋषि निषेध कर रहा है और वता रहा है कि उनके द्वारा साधक कभी भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पायेगा, केवल इनके यथार्थ स्वरूप को जान कर, इनका प्रयोग करने से ही वह मृत्यु से पार

हो अमृत को पा सकेगा।

यहाँ पर आप लोग यह भी समझ लें कि वर्तमान की भाषा में अविद्या के उपासकों को हम पूंजीवादी कह सकते हैं और असंभूति के उपासकों को शरीरपोषक, इन्द्रियारामी, व्यक्तिवादी। उसी प्रकार से विद्या में रत को जीवात्म-भाव में रत और संभूति निरत को अहंभाव में रत कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में अविद्या के उपासकों को पूंजीवादी और विद्या में रत को साम्यवादी कहा जा सकता है। उसी प्रकार से असम्भूति के उपासकों को व्यक्तिवादी और सम्भूति में रत को समाजवादी भी कहा जा सकता है, किन्तु ये चारों ही वाद अज्ञान पर आधारित होने के नाते मनुष्य की अभीष्ट सिद्धि में कभी भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते, दिनों-दिन उसे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होने में ही हेतु होंगे। गोस्वामी जी ने व्यक्तिवादी तन-पोषकों को जीते जी शव के समान कहा है। गीता में भगवान् ने भी कहा है—

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।

(गीता (3/16)

"जो इन्द्रियों में रमण करने वाला, शिश्नोदर परायण अघपूर्ण आयु व्यतीत करने वाला है, हे पार्थ! उसका जीना ही व्यर्थ है।" पूंजीवादी पदार्थ का उपासक है, धन का उपासक है, उसके संग्रह में ही अपना जीवन समाप्त कर देता है, उसको अविद्योपासक कहते हैं। यहाँ पर अविद्या को विनाश नहीं कहा है क्योंकि अविद्या की उपासना से ही वर्तमान की समस्त भौतिक उपलब्धियाँ मनुष्य को सुलभ हुई हैं, यह मनुष्य के लिए सुविधा प्रदान करने में कारगर हुआ करती हैं। किन्तु शरीर, इन्द्रियाँ, ये सब विनाशधर्मा हैं, इनका उपासक इन्द्रियों की पूर्ति में ही सदैव निरत रहता है। उसके द्वारा कोई ऐसी निर्मिति भी नहीं होती जिससे वह किसी की सुख-सुविधा में सहयोगी हो सके। इसलिए श्रुति उसें विशेषेण नश्यति' अथवा विनाश कह कर सम्बोधित करती है। यह असम्भूति तत्त्व स्वयं उत्पन्न नहीं होता, इसकी स्वयं की सत्ता भी नहीं होती, यह संघात-मात्र होता है, इसीलिए इसे असम्भव भी कहा है, जिसका अर्थ मैंने आप लोगों को पहले ही बताया है। विनाशशील होने से यह शरीर मृत्युधर्मा है, यह उत्पत्ति के साथ ही मृत्यु को प्राप्त होने लगता है। परिवर्तन का नाम ही मृत्यु है, परिवर्तनशील होने से ही वेद में इस सृष्ट-लोक को मर्त्य कहा गया है। इतना होने पर भी शरीर और इन्द्रियाँ सर्वथा निरर्थक नहीं, प्रयोजन-पूर्ण हैं। जो इनकी उपसना करते हैं, वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। किन्तु जो इसके प्रयोजन को जान इसका उचित प्रयोग करते हैं, वे

इसकी यथार्थता के बोध से मृत्यु से तर जाते हैं। यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि बिना मानव शरीर को प्राप्त किये कोई भी इस संसार रूपी मृत्यु से पार नहीं जा सकता। गोस्वामी जी का कथन है– "नर तन भव बारिधि कहु बेरो।" मानस में भुशुण्डि जी कहते हैं–

नर तन सम नहिं कवनिऊँ देही। जीव चराचर जाचत तेही।।
स्वर्ग नरक अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभदेनी।।

(7/121/9,10)

मनुष्य शरीर के समान और कोई दूसरा शरीर नहीं है। चराचर जीव ही नहीं देवता लोग भी इसको प्राप्त करने की याचना करते हैं। यह स्वर्ग, नरक और मोक्ष, तीनों स्थानों पर पहुँचाने के लिए निसेनी रूप है और ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति को प्राप्त करने का भी यही एक मात्र साधन है। मानस में भगवान् स्वयं अवधपुरवासियों से कहते हैं–

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुलर्भ सब ग्रन्थिन गावा।।

(1/28/1)

बड़े भाग्य से ही यह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। शास्त्रों का कथन है कि यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ है, यह कर्म साध्य नहीं प्रभु कृपा साध्य है। गोस्वामी जी कहते हैं–

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।।

(7/44/6)

अहैतुकी कृपा करने वाले प्रभु करुणा करके ही कभी जीव को मनुष्य शरीर प्रदान करते हैं। कहने का अभिप्राय कि यह मानव शरीर प्रयोजनपूर्ण है, निरर्थक नहीं। साधक जीव उसके ज्ञान के द्वारा ही मृत्यु से पार हो जाता है। कितनी स्पष्ट सीख है वेद की–इन्द्रियाँरामी मत बनो, आत्मारामी बनो। शरीर की उपासना मत करो, ईश्वर की उपासना करो,इसी रूप से अहं में रत मत हो, आत्मा में रत हो। आत्म-रति ही मनुष्य को तृप्ति और संतुष्टि प्रदान करती है, अहं-रति नहीं। अहं-रति तो घोरतम अज्ञानान्धकार में प्रवेश पाने का मार्ग प्रशस्त करती है किन्तु अहं के स्वरूप को, उसके कारण को जान कर ही अमृतत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं। यह सत्य है कि अहं आत्मा नहीं है, इसलिए अहं में रति अमृतप्रद नहीं हो सकती। कुछ लोग अज्ञानता वश अहं व मन को आत्मा मानते हैं और कुछ लोग शरीर में ही आत्मबुद्धि करके उसी में अनुरक्त रहते हैं। श्रुति कहती है–आत्मा को मानना नहीं, जानना है, उसे स्वीकार कर उसमें रत नहीं होना,

उसके यथार्थ स्वरूप का अनुसंधान कर अनुभव करना है। मैंने पहले भी आप लोगों को इस सम्बन्ध में बताया है कि आत्मा नित्य, चैतन्यघन,एकमेवाद्वितीय है, उसी का प्रकाश व्यष्टि चित्त में पड़ता है तो उससे चित्त में चेतना का जागरण होता है, वही चेतना बोधात्मिका शक्ति, बुद्धि कही जाती है। बुद्धि में ही अहं का स्फुरण होता है, वही अहं जीवात्मा के नाम से अभिहित किया जाता है। जीवनी-शक्ति का प्रारम्भ वहीं से होता है, इसलिए उसे जीव कहते हैं और आत्मा के प्रकाश से उसका आविर्भाव हुआ है,इसलिए उसे जीवात्मा कहा जाता है। साधना के द्वारा अहं के माध्यम से ही उसकी आधारभूता बुद्धि और उसके प्रकाशक आत्मा का साक्षात्कार होता है। जिस प्रकाश से बुद्धि प्रकाशित हुई है, वह प्रकाश परम चैतन्यघन परमात्मा का है। परमात्मा को जानने, समझने तथा अनुभव करने के लिए बुद्धि और उससे उत्पन्न अहं ही एक मात्र साधन है। यदि अहं को ही आत्मा मान उसमें साधक रत हो जाये तो वह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पायेगा। यदि वह अहं के स्वरूप और उसके कारण को जान ले तो उसके ज्ञान से अमृतत्त्व का भोक्ता हो जाता है। इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए श्रुति कहती है, सम्भूति में जो रत है, वह गहनतम अन्धकार में प्रवेश पाता है। सम्भूति से वह तत् पदार्थ अन्य है, सम्भूति को जान कर ही अमृत को प्राप्त करता है। यहाँ अहं ही सम्भव अथवा सम्भूत तत्त्व है, वही व्यष्टिभाव का आधार है, उसमें रत होना घोरतम अन्धकार में प्रवेश पाना है। शरीरासक्त व्यक्ति तो शरीर का सामर्थ्य क्षीण होने पर, उसकी शक्ति नष्ट होने पर, उसकी असारता को समझ, उससे विरत होने का भी सौभाग्य प्राप्त कर सकता है किन्तु अहं में रत व्यक्ति के लिए तो कल्याण की सम्भावना भी नहीं की जा सकती क्योंकि उसके सारे क्रिया-कलाप, सारे ज्ञान-ध्यान, जिस अहं के सहारे सम्पन्न होते हैं, उसी में वह रत है। इसीलिए श्रुति कहती है कि वह अहंरत व्यक्ति शरीर उपासकों से भी अधिक गहनतम अन्धकार में प्रवेश पाता है। यद्यपि वह आत्मतत्त्व सम्भूति और असम्भूति, दोनों से भिन्न है, फिर भी उसकी अनुभूति में ये दोनों ही मुख्य साधन हैं, बिना इन दोनों के सहयोग से उसे जाना नहीं जा सकता। शरीर का प्रयोग भोग और योग दोनों के लिए ही किया जाता है। इसका प्रयोग-यदि भोग में किया गया तो इन्द्रियों की तृप्ति में सहयोगी होने के नाते, वह शरीर की उपासना है। यदि योग में किया गया तो, वही मृत्यु से पार जाने में बेड़े के समान सहायक हो जाता है। यही स्थिति अहं की भी है। यदि अहं का झुकाव मन, इन्द्रियों के माध्यम से संसार की तरफ होता है तो इन समस्त क्रिया-कलापों से अहं की तृप्ति होने से उसी में रति हो जायेगी

जो कि घोर पतन का स्वरूप है। यदि उसी अहं को चेतनोन्मुख कर, बुद्धि में निरत कर, सत्य के अनुसंधान में लगाया जाये, तो उससे अमृतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

कितनी गंभीर बात यहाँ पर श्रुति बता रही है, मिले हुए साधन को भोग में नहीं योग में प्रयुक्त करने से ही उन्हें सार्थक बनाया जा सकता है। गीता में भगवान् ने व्यवसायात्मिका बुद्धि की बात कही है। व्यवसाय का अर्थ होता है मूल धन का प्रयोग उससे अधिक धन प्राप्त करने के लिए करना। बुद्धियुक्त होने के नाते हर एक मनुष्य व्यापारी है, उसके पास अपनी निजी कुछ पूंजी है, उसको संसार रूपी हाट में लगा कर उसके बदले में वह क्या ले रहा है, यही उसके व्यवसाय की कुशलता है। यदि यथार्थ में बुद्धि व्यवसायत्मिका है तो वह थोड़े के बदले अधिक पाने में अपनी मूलपूंजी का प्रयोग करेगा और यदि बुद्धि अव्यवसायात्मिका है तो वह अपना मूल धन भी गंवा देगा और बदले में उसके कुछ भी हाथ न आयेगा। अपने इस व्यवसाय के विषय में आप को स्वयं विचार करना है। आपके पास जो श्वास और शक्ति-रूपी मूलधन है, उसका व्यय आप किस के लिए कर रहे हैं, उसका विनिमय आप किसकी उपलब्धि के लिए कर रहे हैं? इसमें संदेह नहीं कि आपका यह मूलधन विनाशधर्मा है। शरीर, इन्द्रियाँ ही नहीं, आपको मिले हुए श्वास और शक्ति भी प्रतिपल विनाश को प्राप्त हो रहे हैं। यदि यह विनाशशील धन आप अविनाशी की प्राप्ति में लगा रहे हैं तो आपकी बुद्धि यथार्थतः व्यवसाय कुशल है। किन्तु यदि आप इसका प्रयोग नाशवान पदार्थों के संग्रह में कर रहे हैं तो अपने मूल धन का दुरुपयोग कर मृत्यु से ही मृत्यु को प्राप्त होने का व्यापार कर रहे हैं। आपकी बुद्धि यथार्थतः अव्यवसायात्मिका है। भगवान् ने गीता में कहा है कि यदि आपकी बुद्धि एक का अनुसन्धान कर उसी की प्राप्ति में निरत है तो वह नाशवान से अविनाशी को प्राप्त करने में प्रयत्नशील होने से कुशल व्यवसायात्मिका है और यदि एक नहीं अनेको में उलझी हुई है, अनेकों को प्राप्त करना चाहती है, अनेकों में लगी हुई है तो वह कुशल व्यापारी नहीं, वह अव्यवसायिनी है। अपने विषय में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं भली-भांति समझ सकता है कि वह अपने मूलधन को लगा कर क्या खरीद रहा है? नाशवान के बदले में यदि नाशवान की ही प्राप्ति हुई तो सारा यंत्न निरर्थक रहा। आपने व्यापार में 100 रुपये व्यय किये और बदले में आपको 100 रुपया ही मिला तो आप का सारा प्रयत्न व्यर्थ गया। उसी प्रकार से यदि आपने शरीर, इन्द्रियाँ , मन, बुद्धि आदि का प्रयोग करके उसके बदले में नाशवान विषयों

का ही संग्रह किया तो कौन सा लाभ कमाया? यह याद रखें, इस नाशवान साधन का प्रयोग कर आप अविनाशी पद को प्राप्त कर सकते हैं, यह वेद का उद्घोष है—"विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा।" कुछ लोग तो अपने मूल धन को व्यय कर उपयोगी विषयों का भी उपभोग नहीं कर पाते, वे उन निरर्थक पदार्थों के संग्रह में लगे रहते हैं जो न उनके जीवन में ही काम आते हैं न उनकी मृत्यु के पश्चात् ही। विचार कीजिये, एक व्यक्ति ने अपनी पूरी आयु लगा कर करोड़ों रुपयों का बैंक बैलेन्स बनाया, हीरा और सोना खरीदा। भला, आप बताईये, ये सब कुछ उसके किस काम आया? केवल अहं की तुष्टि के सिवाय और उनसे उसे क्या मिला? न उन्हें खा सकता है, न पी सकता है और न ही उससे शरीर ढक सकता है। उनके नष्ट हो जाने का भय और उनकी सुरक्षा की चिन्ता, ये दो महान् आपत्तियाँ उसके साथ और लग गई। पर यह सब कुछ उसने किसके प्रयोग से किया है? वही विनाशशील मिले हुए शरीर आदि साधनों से। उन साधनों से उसने सुख के बदले दुःख को ही खरीदा है। क्या ऐसे व्यापारी को आप कुशल व्यापारी कहेंगे? एक दूसरा व्यक्ति अपने उन्हीं नाशवान साधनों को जन-सेवा में समर्पित करता है, प्रभु के सुमिरन में लगाता है, लोकोपकार में सदैव प्रयत्नशील रहता है, शरीर आदि साधनों के सदुपयोग से प्रभु कृपा का भाजन बन, मृत्यु से पार हो अमृत को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

यह याद रहे, यह विराट विश्व जो परमात्मा की महिमा है, वह अविद्या का कार्य होने से विनाशधर्मा है। वेद इसे मर्त्य कहता है। किन्तु यह मर्त्यतत्त्व अमृत को प्राप्त करने का एक मात्र साधन है। जो विवेकशील हैं, वे विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में इस नाशवान साधन से अविनाशी को प्राप्त करते हैं। जो अविवेकी हैं, वे मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं। साधन वही है किन्तु उनके प्रयोग में अन्तर है। रामायण में एक प्रसंग आता है। महाज्ञानी गरुड़ श्री भुशुण्डि जी से पूछते हैं—गुरुवर! आप इतने महान् ज्ञानी हैं, फिर भी आपने इस काग शरीर को क्यों धारण किया है? अब इस शरीर से आपका क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? परम भागवत भुशुण्डि जी कहते हैं—यह बात बिल्कुल ठीक है, यह शरीर मेरे अधीन है, मैं इसे ग्रहण करने और छोड़ने में समर्थ हूँ, फिर भी मैं इसका त्याग नहीं करता। "तजउँ न तन निज इच्छा मरना। तनु बिनु भजन वेद नहीं बरना।" बिना शरीर के प्रभु की सेवा नहीं होती, भक्ति नहीं होती, सर्वरूप में प्रकट सर्वेश्वर की समर्चना नहीं होती। प्रभु के चरित्र गान के लिए, श्रवण के लिए, प्रभु की अर्चना-वन्दना के लिए

शरीर का होना आवश्यक है, इसलिए इच्छा मृत्यु की सामर्थ्य होते हुए भी मैं इस शरीर का त्याग नहीं करता।

मैंने एक ऐसे विद्वान् संत के दर्शन किये हैं, जिनकी विद्वता का आदर विद्वत् समाज में भी हुआ करता था। दैवयोग से उन्हें लकवा हो गया और उस लकवे में अपना दाहिना हाथ और जुबान दोनों खो बैठे, न वे कुछ बोल सकते थे और न कुछ लिख सकते थे। मस्तिष्क से पूर्ण सचेत थे, सम्पूर्ण ज्ञान उनके पास था लेकिन साधन के अभाव में न बोलकर और न लिखकर ही व्यक्त कर पाते थे। शिष्यों को देख कर वे दुःखी होते, किसी विषय की चर्चा चलती तो अपनी असमर्थता पर रो देते। कहने का अभिप्राय,यह शरीर ही एक मात्र साधन है भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि के सम्पादन का, इनके प्रयोग का। इसी नाशवान साधन से अविनाशी की उपासना व आराधना कर अविनाशी पद को प्राप्त किया जा सकता है। इसी के दुरुपयोग से घोरतम नरकों की प्राप्ति भी हो सकती है। प्रभु ने गीता में कहा है कि व्यक्ति जिसकी उपासना करता है, उसे ही प्राप्त होता है। भूतों की उपासना करने वाले भूतों को, पितरों की उपासना करने वाले पितरों को, देवों की उपासना करने वाले देवों को और मेरी उपासना करने वाले मेरे को प्राप्त होते हैं। क्या शरीर के बिना किसी की भी उपासना हो सकती है? शरीर आदि साधनों से ही इन विभिन्न प्राप्तव्यों को मनुष्य प्राप्त कर पाता है। जो शरीर प्रेतयोनि को प्राप्त करने में सहायक होता है, वही भगवद् प्राप्ति में भी सहायक है। एक फूल को ही देखिये ! उसको आप किसके लिए समर्पित करते हैं, इसी पर उसकी उपयोगिता तथा दुरुपयोगिता निहित है। यदि इस पुष्प को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दें तो वह पावन प्रसाद बन जायेगा। सद्गुरु संत के चरणों में समर्पित कर दें, तो प्रसाद रूप हो जायेगा। वही यदि किसी शव पर चढ़ाते हैं तो अपवित्र हो जायेगा, यदि किसी वैश्या को अर्पित करते हैं तो अपावन हो जायेगा। फूल वही है किन्तु उसके प्रयोग पर उसकी पावनता-अपावनता निर्भर करती है। यही स्थिति आपके शरीर की है, इन्द्रियों की है। यदि आप इसे संसार के भोग में प्रयोग करते हैं तो आप इनके उपासक बन घोर अन्धकार को प्राप्त होंगे। यदि उसे जान कर प्रभु की आराधना, उपासना में प्रयुक्त करते हैं, तो आप मृत्यु से तर जायेंगे और अमृत तत्त्व के भागी बनेंगे। यही श्रुति की घोषणा है–

'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।

यह याद रहे गीता में इस शरीर को नाशवान और शरीर के प्रकाशक को ही अविनाशी कहा है–

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।

समस्त देहों में देही नित्य है, अवध्य है। देह नाशवान है, मृतधर्मा है। नाशवान शरीर ही असम्भूति है और उसका धारक शरीरी सम्भूति। वह परम-तत्त्व जो इन दोनों से भिन्न है, जो क्षर-अक्षर से परे है, वेद जिसे अव्यय पुरुष कहता है, गीता जिसे पुरुषोत्तम कहती है, इन दोनों के साथ जो उसे जानता है वही विनाश के बोध से. मृत्यु से पार हो, अविनाशी के बोध से उसअव्यय से अभिन्न हो अमृत को पा जाता है। व्यक्ति और समाज दोनों की यही चाह है, सभी मृत्यु से पार जाना चाहते हैं, सभी अमृत तत्त्व को प्राप्त करना चाहते हैं। विद्या और अविद्या के द्वारा समष्टि के उत्थान की बात बता कर श्रुति ने सम्भूति और असम्भूति के द्वारा व्यक्तिगत जीवन की यथार्थता का अवबोधन करा, उसे अमृतत्त्व की प्राप्ति का उपदेश दिया है–

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।

मुझे विश्वास है कि आप लोगों ने इन मंत्रों के भाव को अच्छी प्रकार से समझ लिया होगा। अब प्रश्न यह होता है कि अविद्या और विद्या, असम्भूति और संभूति को जानने की सामर्थ्य साधक को कैसे प्राप्त हो? इस प्रश्न के उत्तर में ही श्रुति आगे साधक का मार्गदर्शन करती है, जिसकी व्याख्या आप लोगों को आगे सुनाई जायेगी।

हरि ॐ तत्सत्
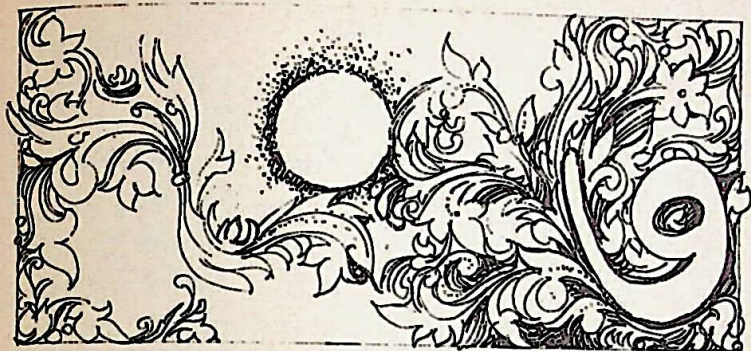
मेरी प्रिय आत्माओ !

कल के प्रवचन में मैंने आप लोगों को सम्भूति और असम्भूति के रहस्य को समझाया था। विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति, इनके सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मत व्यक्त करते हुए मैंने अपने विचार भी व्यक्त किए थे। उनमें से जो भी जिसके बौद्धिक स्तर के अनुकूल हो, उसे वह ग्रहण कर सकता है। उद्देश्य तो आत्म-तत्त्व का बोध और उसकी सर्वत्र अनुभूति के साथ ही उसमें अचल स्थिति को प्राप्त करना है। सम्भूति और असम्भूति का अर्थ ज्ञान और कर्म भी किया जाता है क्योंकि ज्ञान सम्भूति है, वह स्वयंसिद्ध है, सभी का धारक है और कर्म असम्भूति है, वह स्वयं सिद्ध नहीं, कर्त्ता के ऊपर अवलम्बित है, वह विनाशधर्मा भी है। स्वतः सिद्ध ज्ञान की वृद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह भी ज्ञान के प्रकाश में ही सम्भव होता है। यह हम सभी जानते हैं कि ज्ञान के द्वारा ही ज्ञान की वृद्धि होती है अज्ञान के द्वारा नहीं। जैसे प्रकाश के द्वारा ही प्रकाश और अन्धकार दोनों देखे जाते हैं, वैसे ही ज्ञान के द्वारा ज्ञान और अज्ञान दोनों का बोध होता है, इसीलिए ज्ञान को सम्भूति कहते हैं। सम्भूति माने सम्यक् सत्तावान, स्वतः सिद्ध है लेकिन कर्म स्वयं सिद्ध नहीं है, वह बिना कर्त्ता के हो नहीं सकता। वह सर्वथा पराश्रित है, इसीलिए वह असम्भूति है। इसमें संदेह नहीं है कि कर्म का उपासक अन्धकार में ही प्रवेश करता है किन्तु कर्म का ज्ञाता मृत्यु से तर जाता है। उसी प्रकार से ज्ञान में रत व्यक्ति अन्धकार में प्रवेश पाता है किन्तु ज्ञान का ज्ञाता अमृतत्त्व को प्राप्त होता है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि ज्ञान में रत व्यक्ति अन्धकार में क्यों प्रवेश पायेगा? इस सम्बन्ध में भगवान् के शब्दों में इतना ही कहा जा सकता है कि ज्ञान सतोगुण का कार्य है, उसमें रत होने पर व्यक्ति बन्धन में पड़ जाता है। गीता के चौदहवें अध्याय में भगवान् ने बताया है कि:-

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञान सङ्गेन चानघ।।

(गीता 14/6)

सतोगुण निर्मलत्व, प्रकाश और आरोग्य प्रदान करता है और वह सुख तथा ज्ञान में आसक्ति उत्पन्न कर उसमें बांधता है। यह सर्वज्ञात सत्य है कि अज्ञान में पड़ा हुआ व्यक्ति कभी सत्संग पाकर अपने उद्धार के लिए प्रयत्नशील भी हो सकता है किन्तु ज्ञानाभिमानी व ज्ञानासक्त व्यक्ति अनेक जन्मों तक उसी अभिमान रूपी अंधकार में डूबा रहता है। इसीलिए श्रुति कहती है कि कर्म और ज्ञान, इन दोनों के आधाररूप उस आत्मतत्त्व को जो जानता है, वही कर्मों के द्वारा मृत्यु से मुक्त हो, ज्ञान के द्वारा अमृतत्त्व को प्राप्त होता है। यहाँ पर यह बात याद रखनी है कि जिन आचार्यों ने सम्भूति का अर्थ ज्ञान किया है, उनके मत से यह ज्ञान तत्त्व-ज्ञान नहीं, यह श्रुत ज्ञान और अनुमित ज्ञान है। योग-दर्शन में दोनों प्रकार के ज्ञानों का वर्णन है और उसमें महर्षि पतंजलि ने कहा है कि वह तत्त्व ज्ञान, यथार्थ ज्ञान. श्रुत और अनुमित, इन दोनों प्रकार के ज्ञानों से भिन्न होता है क्योंकि उसका विषय ही अन्य होता है। तत्त्व ज्ञान में रत होना तो मुक्ति का ही दूसरा स्वरूप है, जबकि श्रुत, अनुमित, शास्त्र ज्ञान में रत होना, एक प्रकार का अज्ञान ही कहा जा सकता है।

वेदान्त शास्त्र के सिद्धान्तानुसार जीव का चित्त त्रिगुणात्मक है, इसलिए वह त्रिदोषों से युक्त होता है। जिससे चित्तगत चेतन अपने कारण स्वरूप चैतन्यघन परमेश्वर के साथ अपनी एकता की अनुभूति नहीं कर पाता और चित्त के कार्यों के साथ तादात्म्य भाव करके वह विविध योनियों में भटकता हुआ अमित दुःखों का भाजन बना रहता है। जिन त्रिदोषों के कारण जीव की यह दुर्दशा हो रही है, उन्हें मल, विक्षेप और आवरण कहते हैं। तमोगुण से मल, रजोगुण से विक्षेप और सतोगुण से आवरण का जन्म होता है। इन त्रिदोषों को दूर करने के लिए वैदिक शास्त्र ने तीन साधन बताये हैं, जिन्हें कर्म, उपासना और ज्ञान कहा जाता है। वैदिक कर्मानुष्ठान से मल का नाश, उपासना से विक्षेप का नाश और ज्ञान से आवरण का नाश हो जाता है। फिर जीव त्रिदोषों से मुक्त होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर सदा के लिए मुक्त हो जाता है। भागवतधर्मानुयायी आचार्य इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, उनका कहना है कि कर्मानुष्ठान में कर्त्ता सदैव परतन्त्र हुआ करता है, वह विभिन्न प्रकार के साधनों के द्वारा ही उसे सम्पन्न कर पाता है। भला, ऐसे कर्म से मोहजनित मल का नाश कैसे हो सकता है? तमोगुण का कार्य

बताते हुए भगवान् गीता में बताते हैं—

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च। (गीता 14/17)

प्रमाद, मोह और अज्ञान, ये तीनों तमोगुण के कार्य हैं। गोस्वामी जी ने कहा है कि चित्त में जो मल है, वह मोह से ही उत्पन्न होता है। विनयपत्रिका में उन्होंने इसका विस्तार से वर्णन किया है—

मोह जनित मल लाग विविध विधि, कोटिहूँ जतन न जाई।
जन्म-जन्म अभ्यास निरत चित्त, अधिक-अधिक अरुझाई।।

रामायण में भी उन्होंने मोह-जनित मल को जड़-चेतन की ग्रन्थि कहा है और उस ग्रन्थि को छोड़ने में समस्त वैदिक उपायों को असमर्थ बताया है। वे कहते हैं—

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होई सुखारी।।
श्रुति पुरान बहु कह्यो उपाई। छूटे न अधिक अधिक अरुझाई।।

(7/117/3,4,5)

अविद्या से विमोहित हुआ चेतन जीव जड़-प्रकृति से उत्पन्न चित्त के साथ तादात्मभाव कर लिया है, यही जड़ और चेतन की गाँठ है। यद्यपि यह गाँठ यथार्थतः है नहीं बन्धन की भ्रान्तिमात्र है, किन्तु इसके छोड़ने में बड़ी कठिनाई आती है। वेद और पुराण इस जड़-चेतन की गाँठ को छोड़ने के लिए अनेकों उपाय बताते हैं किन्तु यह उन उपायों से छूटने की बजाये और अधिक उलझ जाती है। यह अधिक उलझती क्यों है? इसका उपाय बताते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

जीव हृदयँ तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।।

(7/117/7)

जिस स्थान पर यह जड़ चेतन-ग्रन्थि पड़ी है, वह हृदय प्रदेश है किन्तु उस हृदय में मोह से उत्पन्न घोर अन्धकार छाया हुआ है, इसलिए जड़-चेतन की ग्रन्थि दिखाई ही नहीं देती, फिर वह छोड़ी कैसे जा सकती है? मोह-जन्य ग्रन्थि और मोह-जन्य मल,ये दोनों एक ही के दो नाम हैं। गोस्वामी जी के मतानुसार जिस प्रकार से वेद वर्णित विधि से जड़-चेतन की ग्रन्थि नहीं खोली जा सकती, उसी प्रकार से वेदविहित कर्मानुष्ठान से मल का भी प्रक्षालन नहीं हो सकता। गोस्वामी जी स्वयं कहते हैं—

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोइ बारि बिलोए।

मल से धोने से क्या कभी मल छूट सकता है, क्या कभी कोई पानी को मथ कर

घृत प्राप्त कर सकता है? यह सर्वथा असंभव बात है। कहने का अभिप्राय यह है कि कर्मकांड का आश्रय लेकर कभी चित्तगत मल को दूर नहीं किया जा सकता।

यहाँ पर एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि गीता के पाँचवें अध्याय में भगवान् ने कहा है—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग. त्यक्त्वात्मशुद्धये।

(गीता 5/11)

आसक्ति का त्याग कर योगी लोग भी आत्म शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। यहाँ पर आत्म शुद्धि का अभिप्राय चित्त शुद्धि से ही है। योगीजन चित्त शुद्धि के लिए अनासक्त भाव से कर्म करते हैं, यह भगवान् का कथन है। चित्त शुद्धि का अर्थ चित्त का मल रहित होना है। यदि कर्म से मल का निराकरण न होता तो योगी लोग उस को करने में प्रवृत्त क्यों होते? इसके समाधान में यह कहा जाता है कि गीता में जिस कर्म की चर्चा की गई है, वह कर्मयोग है। कर्मयोग में स्वकर्म तथा स्वधर्म पालन का विधान है। अनासक्त भाव से केवल कर्त्तव्य समझ कर भगवद् अर्पण बुद्धि से किया गया कर्म ही कर्मयोग कहा जाता है। योगीजन अनासक्त हो भगवत् अर्पण बुद्धि से ही कार्य-कर्मों का सम्पादन किया करते हैं, उसमें वेद, शास्त्र प्रतिपादित विधि-निषेधात्मक काम्य कर्मों के लिए कहीं स्थान नहीं होता और न ही वहाँ विविध प्रकार के अग्निष्टोम आदि यज्ञानुष्ठान की ही महत्ता होती है। जो कुछ भी लोकोपयोगी, जनहित कार्य होता है, योगीजन अनासक्त हो, उन्हीं कार्यों का सम्पादन किया करते हैं। सत्य तो यह है कि चित्त शुद्धि में कर्म हेतु नहीं होते, उसमें कारण होती है उनकी प्रभु में अनन्य निष्ठा। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए भगवान् ने यहाँ पर कर्त्ता के लिए 'योगिनः' शब्द का प्रयोग किया है और उसके साथ ही उसी श्लोक के प्रथम चरण में कहा है—

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।

(गीता 5/11)

इसका अर्थ होता है "योगीजन केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।" इसमें 'केवल' शब्द सभी के साथ प्रयुक्त हुआ है- केवल इन्द्रिय, केवल मन, केवल शरीर, केवल बुद्धि द्वारा भी आसक्ति का त्याग कर कर्म करने की सामर्थ्य जन-सामान्य के बूते के बात नहीं, यह तो केवल योगियों द्वारा ही किया जा सकता है। यहाँ पर जिस कर्मानुष्ठान से मल नाश की विधि वैदिक धर्मानुयायी मानते हैं, वह कर्मानुष्ठान योगियों द्वारा नहीं बल्कि मुमुक्षु साधकों द्वारा करने

की बात कही गई है। इसीं प्रकार देवोपासना द्वारा विक्षेप को दूर कर, ज्ञान द्वारा आवरण नाश के सम्बन्ध में भी भागवत धर्मानुयाइयों की मान्यता बिल्कुल इससे भिन्न है। उनका कहना है कि वैदिक देवोपासना में विभिन्न देवताओं की प्रतिष्ठा है और यज्ञानुष्ठान द्वारा उनकी उपासना की विधि बताई गई है, जो कि जन-सामान्य के लिए न सुगम ही है न सुलभ ही। विभिन्न देवों की विभिन्न रूप में सत्ता स्वीकार करने से चित्त का विक्षेप दूर भी नहीं हो सकता, क्योंकि चित्त में विक्षेप का कारण विविध सत्ताओं की स्वीकृति ही है, चाहे वह पदार्थों की हो वा देवों की। जब तक यह स्वीकृति बनी रहेगी, तब तक विक्षेप नष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार आवरण के नाश के सम्बन्ध में भी उनका कथन है कि ज्ञान से भ्रान्ति का नाश होता है , अज्ञान का नाश होता है, आवरण का नहीं। अज्ञान और भ्रान्ति, ये दोनों अविद्याजन्य हैं, ज्ञान से इनका निराकरण हो जाता है, किन्तु आवरण माया-जन्य है;जीव अपने ज्ञान से कभी भी उस माया के आवरण को दूर करने में सक्षम नहीं हो सकता। फिर यह प्रश्न होता है कि आखिर मल, विक्षेप और आवरण को दूर कैसे किया जा सकता है? इसके उत्तर में भागवत धर्म का कथन है कि भगवत् कृपा से ही चित्त का मल नाश हो सकता है, अन्य कोई उपाय संभव नहीं। गोस्वामी जी विनय-पत्रिका में लिखते हैं-

रघुपति कृपा बारि छालित चित्त बिनु प्रयास ही सुलझे।

रामायण में भी वे लिखते हैं-

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।।

(7/49/6)

प्रभु की प्रेमा-भक्ति ही वह पावन जल है, जिससे उर-अन्तर के मल को धोया जा सकता है। इसी प्रकार से गोस्वामी जी का कथन है-

है श्रुति विविध उपाय सकल सुर केहि केहि दीन्ह निहोरे।
तुलसीदास यह जीव मोह रज्जु जेइ बान्धयों सोइ छोरे।।

वेदों में अनेकों उपाय बताए गए हैं, जड़-चेतन की ग्रन्थि को छोड़ने के लिए और अनेकों देवताओं की उपासना बताई गई है किन्तु इस मोह जाल में उलझा हुआ दीन जीव क्या-क्या करे, किस-२ का सहारा ले? तुलसीदास जी का निश्चय है कि इसके लिए बताए गए सारे उपाय और सारे देवताओं का निहोरा कारगर नहीं हो सकता। जिस परमात्मा के संकल्प से प्रकृति-पुरुष का आविर्भाव और उनका संयोग हुआ है, जिस परमात्मा के प्रकाश में चित्त में चेतन का आविर्भाव और आत्मभाव बना है, उसी परमेश्वर की करुणा से यह जड़-चेतन ग्रन्थि छूट सकती है। वही कृपा करके इसे छुड़वा सकता है और

कोई दूसरा उपाय नहीं।

पहले मैंने आप लोगों को बताया है कि अन्तर मल तथा जड़-चेतन ग्रन्थि, दोनों का अर्थ एक ही है। गोस्वामी जी के मतानुसार भगवत्-कृपा से ही दोनों का नाश हो सकता है, अन्यथा नहीं। प्रभु कृपा की प्राप्ति में मन-वचन-कर्म से उनकी आराधना, उपासना, सेवा ही एक मात्र साधन बनता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

मन क्रम वचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।।

(1/200/6)

मन से, कर्म से, वचन से, चातुरी का त्याग कर प्रभु का भजन (भजन माने प्रभु की सेवा) करने से ही प्रभु कृपा करते हैं। सेवा का अभिप्राय सर्वभाव से प्रभु का होकर उनके नाते ही समस्त कार्य-कर्मों को करना। जैसा कि गीता में प्रभु का सन्देश है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। (गीता 9/27)

"जो करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो तपस्या करता है, वह सब कुछ मुझे अर्पित होकर कर।" प्रभु अर्पित होकर, प्रभु के नाते जो कुछ भी किया जाए, वही प्रभु की सेवा है, उसके लिए अपने सहज कर्मों के त्याग की आवश्यकता नहीं। प्रभु कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। (गीता 18/46)

जिससे समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति होती है, जिसके द्वारा यह सारा विश्व परिव्याप्त है, अपने कर्मों से उसी परमेश्वर की समार्चना करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, यथार्थतः यही भक्ति का मार्ग है। याद रहे, परमात्मा की भक्ति में कर्म की वर्जना नहीं है, यही भक्ति गीता का कर्मयोग है और इसी के द्वारा कर्त्ता का अन्तःकरण निर्मल होता है। निर्मल अन्तःकरण में ही गुरु प्रदत्त यथार्थ ज्ञान प्रकाशित होता है, जिससे साधक असत् का त्याग कर, असत् से विरत हो सत्य में अनुरक्त होता है। यह याद रहे, असत् में अनुरक्ति विक्षेप का कारण हुआ करती है क्योंकि उसीसे अनेकत्व की प्रतीति वा स्वीकृति का जन्म होता है। अनेकत्व की स्वीकृति ही चित्त में चंचलता, भटकाव या विक्षेप को उत्पन्न करती है। भागवत धर्म के सिद्धान्तानुसार साधक अपनी भक्ति और उपासना से, अपनी साधना से मल को दूर कर सकता

है। गुरु कृपाप्रसाद से प्राप्त ज्ञान द्वारा प्रभु में अटल आस्था करके विक्षेप को भी दूर कर सकता है, किन्तु आवरण को दूर करना उसके वश की बात नहीं है। वह तो करुणानिधान भगवान् प्रभु की करुणा पर ही निर्भर करता है। इससे आप लोग समझ गये होंगे कि जिस कर्म द्वारा मल के नाश की बात कही जाती है, वह कौन सा कर्म है। यह तो बात निश्चित ही हो गई है कि जिन विधि-निषेधात्मक कर्मों की बातें वेदत्रयी में बताई गई हैं, वे स्वर्गादि की प्राप्ति में भले ही उपयोगी सिद्ध हों, किन्तु चित्त को निर्मल बनाने में, निर्वासनिक बनाने में सहायक सिद्ध नहीं हो सकती। मैंने एक पद में संकेत किया है—

है धो रहा मल से सदा मल दूर यूँ होता कहीं।
इन कर्म के धागों से बन्धन कर्म का खुलता नहीं।।
जा गुरु कृपा विज्ञान असि ले बुद्धि कर में धारकर।
दे काट बन्धन अस्मि का हो जा अजर हो जा अमर।।

यथार्थतः अहं भाव ही विविध प्रकार की वासनाओं का आश्रय है और वे वासनाएँ ही चित्त को दूषित करने वाली मल हैं। नानात्व की अनुभूति के साथ नानाविध विषयों की प्राप्ति की वासनायें ही चित्त को विक्षिप्त किया करती हैं। गुरुकृपा और भगवद्कृपा से ही साधक ज्ञान के प्रकाश में मल और विक्षेप का निराकरण कर पाता है। गोस्वामी जी विनय-पत्रिका में कहते हैं—

तुलसीदास हरि गुरु करुणा बिनु विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर भव पार न पावे कोई।।

"गुरु और हरि की कृपा के बिना निर्मल विवेक की प्राप्ति नहीं होती और विवेक के अभाव में कभी भी कोई व्यक्ति इस संसार सागर से पार नहीं जा सकता।"

इस सारी विवेचना से आप लोग समझ गये होंगे कि जीवन में कर्म, उपासना और ज्ञान का यथार्थ स्थान क्या है, यथार्थ स्वरूप क्या है। ईशोपनिषद् के नवें मन्त्र से लेकर चौदहवें मन्त्र तक विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति के यथार्थ स्वरूप और प्रयोजन का रहस्य समझाया गया है। उसमें प्रयुक्त उपासना, रति और बोध का क्या स्थान है, इसे भी आप समझ गये होंगे। यहाँ पर एक बात मैं आप लोगों को बता देना चाहता हूँ कि इन मन्त्रों में विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति, इनको न तो मिथ्या घोषित किया गया है और न भ्रम ही, इन्हें प्रयोजन-शून्य और निरर्थक भी नहीं बताया गया। श्रुति ने केवल अविद्या और असम्भूति की उपासना का ही निषेध किया है, उनकी सत्ता व प्रयोजन-पूर्णता का नहीं। उसी प्रकार से विद्या और सम्भूति में रति का निषेध

किया है, उनकी सत्ता वा उपयोगिता का नहीं। एक बात यहाँ और समझ लेनी है कि श्रुति ने उपासना और रति रूप साधनों का भी निषेध नहीं किया है; उनका केवल अविद्या और विद्या, असम्भूति और सम्भूति तत्त्वों में ही निषेध किया है। उपासना असम्भूति की नहीं, अविद्या की नहीं, सद्गुरु और श्री हरि की करनी चाहिए। रति विद्या और सम्भूति में नहीं, उस चैतन्यघन परमात्मा में होनी चाहिए। वही उपासना का आधार है, वही रतिरूप प्रीति और भक्ति का परम आश्रय है। यथार्थतः विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति, इन सभी को जानना है, इनके यथार्थ स्वरूप को समझना है। जीवन के प्रयोजन की सिद्धि के लिए इनका यथोचित प्रयोग करना है, तभी मल और विक्षेप का नाश होगा, तभी उस परमेश्वर की उपासना हो सकेगी, तभी उस परम सत्य में अनुरक्ति हो सकेगी। उपासना का अर्थ होता है उपास्य के सान्निध्य की प्राप्ति। भला, सम्भूति के सान्निध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना कौन सी बुद्धिमानी है? रति शब्द का अर्थ होता है सर्वभाव से अनुरक्ति वा प्रीति। विद्या और असम्भूति में अनुरक्त होना, प्रेम करना कौन सी समझदारी है? इस प्रकार की उपासना और अनुरक्ति से क्या मिलने वाला है? हाँ, विद्या-अविद्या, सम्भूति और असम्भूति का यथार्थ ज्ञान, उस सर्वाधार सर्वेश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने में परम सहायक सिद्ध होगा, उनमें अनुरक्ति और भक्ति प्राप्त करने में परम सहायक सिद्ध होगा, यही इन मन्त्रों का अभिप्राय है।

हम सभी जानते हैं कि हमारी आन्तरिक मांग क्या है, किन्तु उस चाह की पूर्ति कहाँ और कैसे हो सकती है, इसका सही बोध न होने से ही इस दुनिया के प्रपंच में उलझे हुए हैं। उस चाह की पूर्ति के लिए अनेक जन्मों से उन्हीं कार्यों में लगे हुए हैं, जिनसे कभी भी वह पूर्ण होने वाली नहीं। आनन्द हमारी मांग है, शान्ति हमारी मांग है। क्या विविध प्रकार के क्रिया-कलापों से शान्ति मिल सकती है? क्या दुनिया के पद-पदार्थों के सान्निध्य से हमें आनन्द मिल सकता है? नहीं, सर्वथा असम्भव। विविधविध क्रिया-कलाप जो अशान्ति की ही सन्तान हैं, उनसे शान्ति की उपलब्धि की आशा केवल व्यामोह के सिवा कुछ नहीं। भला, जड़ तथा नीरस पदार्थों के सान्निध्य से सरसता और सुख की कामना करना, केवल अविद्याजन्य व्यामोह के सिवा और क्या कहा जा सकता है? इस व्यामोह का नाश कर्म से नहीं ज्ञान से होगा, विवेक से होगा। गोस्वामी जी का कथन है—

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।

(2/93/5)

बिना विवेक के मोह और भ्रम का नाश नहीं होता और बिना मोह, भ्रम नाश हुए, प्रभु के चरणो में अनन्य अनुरक्ति नहीं होती। प्रभु की उपासना ही विवेक प्राप्ति का एक मात्र साधन है। जगत् और जीवन तथा शरीर और शरीरी की यथार्थता का ज्ञान होने पर ही इनसे उपरति और अमृत-स्वरूप प्रभु में अनुरक्ति हुआ करती है। प्रभु में अनुरक्ति होने पर ही उनकी अनुकम्पा से माया-रूपी आवरण दूर होता है और प्रभु के यथार्थ स्वरूप का दर्शन होता है। भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।। (गीता 7/1)

"हे पार्थ ! मेरे में अनन्य भाव से अनुरक्त होने वाला, मेरे आश्रित हो योग में स्थित साधक मुझको समग्र रूप से जिस प्रकार संशय-रहित हो, मुझे जानेगा, उसे तुम सुनो।" इसका अभिप्राय यह है कि प्रभु में आसक्त होकर, अनुरक्त होकर ही समग्र रूप से प्रभु को जाना जा सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

आप लोग एक बात और समझ लें, जो व्यक्ति अभी तक देखे हुए संसार में अनुरक्त रहा है, उसकी एकाएक सुने हुए भगवान् में आसक्ति नहीं हो सकती, यह सभी का जाना हुआ सत्य है। फिर, उस जिज्ञासु के लिए ऐसा कौन सा उपाय है, जिससे वह इस पथ पर अग्रसर हो सके? इसके लिए संतों-महापुरुषों ने चार बातें बताई हैं—श्रद्धा, सत्संग, सेवा और सुमिरन। श्रद्धायुक्त होकर सत्पुरुषों के संग में बैठने से, उनके विचारों को सुनने से, सुमिरन और सेवा भाव का उदय होता है। सुमिरन के साथ की गई सेवा साधक के चित्त को निर्मल बनाती है। यह याद रहे, सेवा रहित सुमिरन प्रमाद को जन्म देता है और सुमिरन रहित सेवा अहंकार को। इसलिए सुमिरन के साथ सेवा का होना अत्यावश्यक है। सत्संग से सद्विचार, सुमिरन और सेवा से सत्कर्म की सिद्धि होती है, यही तो गीता में बताये हुए कर्मयोग के मूल मन्त्र हैं। इन्हीं के द्वारा तो मानव का हृदय मल-रहित हो ईश्वर के अचल अनुराग से पूरित हो जाता है। यह याद रहे, हृदय की मलिनता ही मृत्यु में कारण हुआ करती है और हृदय की निर्मलता ही मृत्यु का अतिक्रमण है। ईश्वर में अचल अनुरक्ति ही अमृतत्त्व की प्राप्ति है। जिस विनाश और सम्भूति के ज्ञान से ईशोपनिषद् की श्रुति मृत्यु से पार हो अमृत को पाने का संदेश देती है, उसकी सिद्धि मल और विक्षेप को दूर करने से ही सम्भव है। उसका श्रेष्ठतम उपाय है—

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।

विनाश के ज्ञान से, उससे उपरत हो निर्मल हृदय साधक मृत्यु से तर जाता है

और सम्भूति रूप चेतन के ज्ञान से अमृतरूप भगवत् प्रेमानुरक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से साधक मल-विक्षेप से रहित हो, मृत्यु के भय से मुक्त हो, प्रभु में अनन्य अनुरक्ति को प्राप्त कर लेता है। प्रभु ही परम सत्य हैं, सत्यानुरागी साधक ही प्रभु के यथार्थ स्वरूप को प्रत्यक्ष करने का अधिकारी होता है, किन्तु प्रभु का वह परम पावन यथार्थ स्वरूप मायारूपी आवरण से आच्छादित होने से देख पाना शक्य नहीं। इसलिए साधक अपनी असमर्थता का अनुभव करता हुआ करुणानिधान भगवान् की करुणा पर अटल आस्था एवं विश्वास से युक्त हो अपने सर्वाधार, सर्वेश्वर से उस मायारूपी आवरण को दूर करने की प्रार्थना करता है–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

(ईशा० 15)

ईशोपनिषद् के नवें से चौदहवें मन्त्र तक ज्ञेय तत्त्वों के ज्ञान का उपदेश दे, अब पन्द्रहवें मन्त्र से अठारहवें मन्त्र तक श्रुति भगवती साधक के लिए सर्वेश्वर की कृपा प्राप्ति के उपाय का निर्देश करते हुए प्रार्थना का विधान करती है, जिसके विषय में आप सबको कल बताया जायेगा। आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है।

हरि ॐ तत्सत्
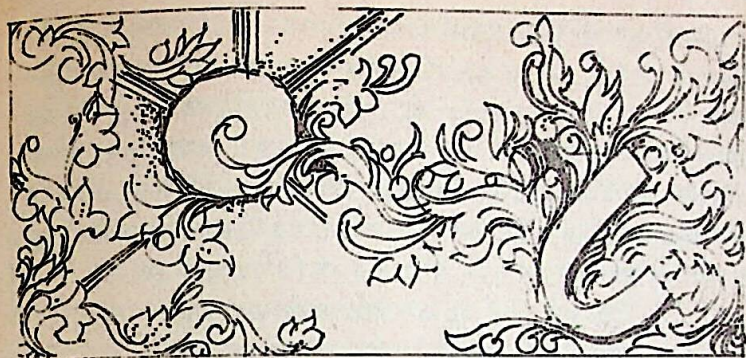
मेरी प्रिय आत्माओ !

करुणनिधान भगवान् की करुणा सदैव आप सबके लिए कल्याण का सृजन करें, यही मेरी आन्तरिक शुभ कामना। आप लोग कई दिनों से ईशोपनिषद् की व्याख्या सुन रहे हैं। पिछले दिनों विद्या-अविद्या और सम्भूति-असम्भूति, इनका क्या स्वरूप है और साधक के जीवन में इनका क्या प्रयोजन है, इस सम्बन्ध में कई आचार्यों के मत व्यक्त किए गए, साथ में अपने विचार भी आप लोगों को बताये। मूल बात इन मन्त्रों में यह समझाई गई है कि इन तत्त्वों की उपासना और इनमें रति नहीं, बल्कि इनके यथार्थ बोध से ही ये तत्त्व आपके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। कल के प्रसंग में आप लोगों को यह भी समझाया गया है कि परमेश्वर की अनुभूति और उनके साक्षात्कार में तीन बाधक तत्त्व हैं—मल, विक्षेप और आवरण। इनमें से भगवत् उपासना से मल का नाश होता है और भगवद् अनुरक्ति से विक्षेप का। जगत् और जीवन, इन दोनों के साथ परमात्मा का यथार्थ बोध होने पर ही भगवद् उपासना, भगवद् अनुरक्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। बोध के जितने साधन हैं, वे सभी के सभी संसार में लिप्त हैं। हमारा शरीर, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन, हमारी बुद्धि, ये सब के सब मोह द्वारा, वासना द्वारा आच्छादित हैं। तो फिर वह कौन सा ऐसा साधन शेष बचा है, जिसके द्वारा हम इन समस्त साधनों को वासना तथा कामना के आवरण से, प्रभाव से मुक्त करें, यह एक बहुत बड़ी समस्या है। भगवान् कहते हैं—रजोगुण से उत्पन्न हुआ काम केवल इन्द्रियों को ही, केवल मन को ही मलिन नहीं किये हुये है, आवृत्त नहीं किये हुये है, बल्कि बुद्धि को भी उसने आच्छादित कर रखा है, बुद्धि पर भी उसका आधिपत्य है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।

(गीता 3/40)

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, ये तीनों इस काम के वास स्थान कहे जाते हैं और यह काम इन तीनों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है। आप सभी जानते हैं कि बुद्धि ही समस्त साधनों का सार है और यह वासना जिसे भगवान् ने काम शब्द से सम्बोधित किया है, बुद्धि तक को अपना अधिष्ठान बनाये हुए है। फिर, किसके द्वारा हम उस वासना को दूर कर बुद्धि को निर्मल बना जगत्, जीव, जगदीश के यथार्थ बोध को प्राप्त कर सकेंगे? इस समस्या का समाधान करते हुए भगवान् ने स्वयं समझाया है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।

(गीता 3/43)

"इस प्रकार बुद्धि से परे, बुद्धि से श्रेष्ठ, बुद्धि से भी सूक्ष्मतर और बुद्धि से भी बलवान अपने आत्मस्वरूप को जानकर उस आत्मा के द्वारा ही बुद्धि और मन वश में करके, हे महाबाहो ! इस दुर्जय कामरूप अथवा वासनारूप शत्रु को मार, शत्रु का विनाश कर।" विषयों की प्रकाशिका इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों का प्रकाशक मन है, मन का प्रकाशक बुद्धि है और बुद्धि का प्रकाशक आत्मा है। आत्मा के प्रकाश से ही बुद्धि, मन एवं इन्द्रियाँ सारे प्रकाशित हो रहे हैं। वह आत्मा जिसका प्रकाश है, जिसकी ज्योति है, जिसकी किरण है, वे सच्चिदानंद-घन परब्रह्म परमात्मा हैं। जिस प्रकार किरण के मूल में अनन्त प्रकाशमान, शक्तिमान सूर्य स्थित है, उसी प्रकार आत्मा के मूल में परमात्मा की अनन्त सत्ता, परमात्मा का अनन्त प्रकाश शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित है। वह आत्मा जब तक बुद्धि, मन और इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् को विषय बनाये हुए है, तभी तक उसमे सीमा है, लघुता है, अल्पज्ञता है, निर्बलता है, किन्तु जब वह बाह्यमुखी न होकर उलट कर अपने कारण की तरफ देखता है, तब वह स्वयं में अनन्त सामर्थ्य का अनुभव करता हुआ सभी सीमाओं से मुक्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा अपना आप बुद्धि नहीं, बल्कि बुद्धि से परे उससे श्रेष्ठ शक्तिमान आत्मा है। अपने उस आत्मस्वरूप को पहचान कर, उसमें प्रतिष्ठित होकर,तुम बुद्धि, मन और इन्द्रियों पर अधिकार जमाने वाले इस काम को, इस वासना को सदा के लिए समाप्त कर दो। भगवान् का दिया हुआ आश्वासन और मार्गदर्शन यथार्थ और परमोपयोगी है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु अनादि अविद्याग्रसित मोहासक्त जीव के लिए बुद्धि से परे आत्मतत्त्व को समझना, उसमें स्थित होना, इतनी सुगम बात नहीं है। ऐसी दशा में फिर क्या किया जाये? भगवान् कहते हैं कि यदि यह तुम्हारे वश की बात नहीं है, तो

उसके लिए केवल एक ही रास्ता है, केवल एक ही उपाय है, वह है--

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(गीता 18/66)

"शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, इनमें अहं भाव के द्वारा जितने सम्बन्ध बनाये हैं और उन सम्बन्धों के प्रति जितने प्रकार के धर्मों की तुमने कल्पना की है, उन सभी का परित्याग करके एक मेरी शरण में आ जा। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, इसके लिए शोच मत कर।" अभिप्राय यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में अहं भाव हो जाने से इनके द्वारा जितने सम्बन्ध स्वीकार किये जाते हैं, सभी सम्बन्धों के प्रति कर्त्तव्य दृष्टि बन जाती है, उस कर्त्तव्य को ही धर्म कहते हैं। व्यक्ति यह सोचता है कि यदि मैंने इस कर्त्तव्य रूपी धर्म का पालन नहीं किया तो मैं घोर पाप का भागी बन जाऊँगा। यद्यपि यह कर्त्तव्य भावना, धर्म भावना यथार्थतः स्वीकृति-मात्र है, यदि जीव स्वयं को इन प्राकृत तत्त्वों से अलग कर ले, तो वहाँ न तो कोई कर्त्तव्य रह जायेगा और न ही उसके पालन न करने से किसी प्रकार का पाप। किन्तु मोहासक्त होने के नाते उसमें ऐसा साहस उत्पन्न नहीं होता जिससे कि वह अज्ञानजन्य मान्यताओं को एकाएक अस्वीकार कर दे। विशेषकर धर्मभीरु मानव कभी ऐसा साहस जुटा नहीं पाता। प्रभु कहते हैं कि स्वीकार किये हुए इन धर्मों के त्याग से जो भी तुम्हें पाप लगेगा, उससे मैं तुम्हें सदा के लिए मुक्त कर दूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है। तुम शोक और संदेह रहित हो, समस्त धर्मों का त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ।

गीता में प्रभु का यह अन्तिम वाक्य है, जीव के लिए अन्तिम उपदेश है, साधक के लिए अन्तिम आश्वासन है। यही एक रास्ता है, यही एक उपाय है, इस व्यामोह से मुक्त होने के लिए। वेद भगवान् का भी साधक के लिए ही निर्देश है–तुम अपने बल से, अपनी साधना के बल से उस मोह की जन्मदात्री माया के आवरण को दूर नहीं कर सकते, हटा नहीं सकते, इसलिए तुम आर्त्त होकर अपने उस जीवनाधार को पुकारो, उसी से प्रार्थना करो, उसकी महिमा का स्मरण, उसके वात्सल्य पर पूर्ण आस्था, उसकी करुणा पर पूर्ण विश्वास करते हुए उसे पुकारो। उसकी कृपाकटाक्ष से ही तुम्हारी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को आवृत्त करने वाली वह माया सदा के लिए तुमसे दूर हो जायेगी। यह प्रार्थना का पथ श्रेष्ठतम पथ है किन्तु याद रहे इस मार्ग पर वही मानव चल सकता है जो संसार से पूर्णतया निराश हो चुका हो। जब तक इस संसार में कोई भी अपना है, किसी से किसी प्रकार की किंचित् भी राहत पाने की आशा है,

सहायता पाने का विश्वास है, तब तक इस राह पर नहीं चला जा सकता। अधूरे विश्वास से, अधूरी आस्था से की हुई प्रार्थना उस तक पहुँच ही नहीं पाती।

आप लोगों ने महाभारत की यह घटना सुनी होगी जिसमें धर्मराज युधिष्ठिर अपने राज्य और भाईयों के सहित द्रौपदी को भी जुए में हार जाते हैं। दुर्योधन के आदेश से उसका छोटा भाई दुःशासन द्रौपदी को खींच कर उस सभा में ले आता है और उसके वस्त्र उतारने का निर्देश पाकर द्रौपदी की साड़ी खींचने लगता है। द्रौपदी को जब तक अपने पतियों पर, सभासदों पर, यहां तक की अपने हाथों पर अपनी साड़ी को बचाने की आशा होती है, तब तक उसकी पुकार प्रभु तक नहीं पहुँचती। जब वह सभी ओर से असहाय हो जाती है और अपने दोनों हाथों को उठा कर आर्त्त हो प्रभु को पुकारती है, हा-कृष्ण द्वारकानाथ ! उस की यह करुण पुकार सुनते ही प्रभु अधीर हो जाते हैं और तुरन्त उसके लिए वे वस्त्रावतार धारण कर लेते हैं और उसकी लाज बचाते हैं। यह याद रखिये, प्रार्थना का मार्ग जितना सुगम है उतना कठिन भी है। माया द्वारा विमोहित जीव अपने अहं के प्रति इतना आसक्त होता है कि उसे किसी भी अवस्था में एकाएक त्यागना वा समर्पण करना नहीं चाहता। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का अहं किसी का सहारा लेकर ही खड़ा होता है, किसी का होकर ही वह जीना चाहता है, चाहे वह दाम का होकर जीये, चाहे चाम का होकर जीये, चाहे वह काम का और चाहे नाम का होकर जीये, किन्तु जीता है वह किसी का होकर ही। दाम, चाम, काम, नाम, ये सभी अनादि काल से परिचित आश्रय हैं, इनका होने में उसे न तो कभी शान्ति ही मिल पाई है और न वास्तविक सुख ही। फिर भी इन्हीं का होकर जीने में उसे प्रिय लगता है। हज़ारों-लाखों में कोई एक होता है, जो इनसे विमुख हो राम का होकर जीने की लालसा करता है। प्रभु ने गीता में कहा है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।

(गीता 7/3)

हज़ारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है और इन प्रयत्न करने वालों में भी कोई एक तत्त्वतः मुझे जान पाता है।" इससे आप लोग समझ गये होंगे कि यह समर्पण का रास्ता कितना कठिन है। जब तक संसार से सम्बन्ध है, संसार में कोई अपना है, उससे सुख और शान्ति पाने की आशा है, तब तक सर्वभाव से भगवान् को समर्पित होने की भावना का उदय नहीं हो सकता और न हुआ ही जा सकता है। एक पद में मैंने यह संकेत किया है—

जब लौं जगमाहिं को अपनो, तब लौं श्री राम से नेह कहाँ है।
प्रिय लागते भोग संयोग ते जौं, तब लौं उर साँचो सनेह कहाँ है।।
रहे भीगी न जो पलकें जल सौं, वरषा उर प्रेम का मेह कहाँ है।
अरे 'बावरे' मारे वियोग के जो, उनके लिए देह औ गेह कहाँ है।।

जब तक संसार का सम्बन्ध है, संसार की आशा है, संसार में विश्वास है, जब तक शरीर के, इन्द्रियों के सम्बन्धी अपने हैं, तब तक आर्त्त हृदय से प्रभु का होकर, प्रभु को पुकारना सम्भव नहीं। एक संत कहा करते थे कि एक नारी एक संतान उत्पन्न करने में जितनी पीड़ा, जितना कष्ट सहती है, संतान संभाल में जितना कष्ट उठाती है, मीरा ने अपने सम्पूर्ण जीवन में उतना कष्ट न सहा होगा, उतनी मुसीबतें न उठाई होंगी। मीरा ने एक बार ज़हर का प्याला पीया किन्तु यहाँ संसार में देवियों को जिन्दगी में अनेकों बार ज़हर के घूँट पीने पड़ते हैं, किन्तु परिणाम देखिये; प्रभु की होकर मीरा जगत् पूज्या बन गई और संसार में आसक्त नारियाँ अपनी सन्तानों के लिए भी पूज्या नहीं बन पातीं। पहले तो हमारे यहाँ वेद के निर्देशानुसार माँ को देवता का स्थान प्राप्त था, नारियों को पूज्य दृष्टि से देखा जाता था, किन्तु इस्लामी शासन के पश्चात् भारतीयों में भी वह दृष्टि नहीं रह गई थी। रही-सही कसर वर्तमान की पश्चिमी सभ्यता ने पूरी कर दी। आज प्रायः नारी वासनापूर्ति का माध्यम बन कर रह गई है, वह केवल पुरुष के मनोरंजन की सामग्री बन गई है। धीरे-२ माँ के प्रति श्रद्धा एवं पूज्य भावना का भी लोप होता जा रहा है। दिनों-दिन वृद्ध माताओं के प्रति इस पश्चिमी सभ्यता में पले हुए पुत्रों और पुत्र-वधुओं की क्या दृष्टि बनती जा रही है, यह सब आप लोग अच्छी प्रकार से जानते हैं, देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में भी लोग संसार का ही होना चाहते हैं, उसी का ही सहारा ढूंढ़ते हैं। कितने आश्चर्य की बात है ! इसी का नाम तो माया है, यही तो माया का आवरण है। प्रभु का हो जाने का परिणाम मीरा आज जगत् की वन्दनीया बन गई, भारत के सुदूर प्रान्तों में भी उसकी जयन्तियाँ मनाई जाती हैं। "मीरा के प्रभु गिरधर नागर" की गूँज भारत में सर्वत्र सुनाई देती है, किन्तु संसार में आसक्त अनेक सन्तानों को जन्म देने वाली नारियों का जन्म और मृत्यु-दिवस उनकी संतानों को भी ज्ञात नहीं होगा। यह बात केवल स्त्रियों के लिए ही नहीं, पुरुषों पर भी उसी प्रकार लागू होती है। हम कबीर की जयन्ती मनाते हैं, सूर, तुलसी की ही नहीं, संत रविदास की भी जयन्ती मनाते हैं किन्तु ईमानदारी से विचार करें तो इस सत्य का बोध होगा कि हमें अपने पिता-पितामहों का जन्म और मृत्यु-दिवस ज्ञात भी नहीं होगा। इस संसार में आदर किसका है? पूज्य कौन है? वही जो प्रभु का हो गया,

जो प्रभु के नाते जीया, जिसने प्रभु के नाते ही जीवन विसर्जन किया, प्रभु के नाते ही दुनिया को प्यार दिया, समाज की सेवा की। जीते जी भी इस दुनिया में वही सुखी रहा और रह सकता है, जो सर्व-भाव से प्रभु का हो जाता है। गुरु नानकदेव का कथन है–

नानक दुःखिया सब संसार, सुखिया सोई जेहि नाम आधार।
थोड़े-थोड़े सब दुःखी, सुखी राम को दास।

इस संसार में केवल वही सुख और शांति का भाजन बन पाता है जिसने सर्वभाव से प्रभु की ही शरण ली है। गोस्वामी जी कहते हैं–

सुखी मीन जो नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।।

(4/17/1)

अगाध जल में मछलियाँ उसी प्रकार से सुखी रहती हैं, जैसे प्रभु की शरण हो जाने से जीव संपूर्ण बाधाओं से विमुक्त हो, सुखी हो जाता है।

मैं आप लोगों को इन उदाहरणों से केवल इतना ही बताना चाहता हूँ कि इस दुनिया के समस्त आस-विश्वास से विमुक्त हो, सर्वभाव से प्रभु के होकर उन्हीं से प्रार्थना करो, उन्हीं का हो जाने में ही जीवन की सरसता है, जीवन में आनन्द है। जन्म और मृत्यु रूपी दो नियमों में बँधे हुए सृष्टि प्रवाह को ही दुनिया कहते हैं। इस दुनिया में रस नहीं है, सुख नहीं है, इसलिए इससे विरत हो, श्रुति के बताये हुए इस भक्ति मार्ग का आश्रय लें। प्रभु के होकर आर्त्त हृदय से प्रभु को पुकारें, प्रभु से प्रार्थना करें। ईशोपनिषद् का यह पन्द्रहवाँ मंत्र प्रभु की शरण में ही जाने का निर्देश कर रहा है, प्रेरणा दे रहा है–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

(ईशा० 15)

"हिरण्मय, स्वर्णमय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे विश्व का पोषण करने वाले प्रभु! मुझ सत्यधर्मा के लिए, सत्य के बोध की अभिलाषा वाले उपासक के लिए, मुझ सत्यधर्मा के दर्शन के लिए, दया कर उस आवरण को तू हटा ले।" कितनी सुन्दर, कितनी उत्तम भावपूर्ण प्रार्थना है यह! प्रभु से हिरण्मय आवरण को दूर करने की याचना करते हुए उपासक स्वयं को सत्यधर्मा बता रहा है। यह प्रार्थी विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति को जान, मृत जगत् से विमुक्त हो, अमृत, अविनाशी में अनुरक्ति को प्राप्त कर मल व विक्षेप से भी मुक्त हो गया है। यथार्थतः वह साधक, वह प्रार्थी प्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन की पूर्ण पात्रता अर्जित कर चुका है। आस्थायुक्त हो, वह प्रभु की

दुरत्यया माया के स्वर्णिम आवरण को हटाने की प्रार्थना प्रभु से ही कर रहा हूं, क्योंकि यह आवरण उसके प्रयत्न वा पुरुषार्थ से नहीं हटाया जा सकता, इस सत्य को वह भली-भाँति जान गया है।

भागवत् धर्म के आचार्यों ने कहा है कि जब प्रभु द्रवित होते हैं, तभी माया-मोहित जीव को सत्संगति प्राप्त होती है। सत्संगति में बैठ कर ही मानव सत्य की महिमा को श्रवण कर उसे देखने और पाने के लिए लालायित होता है। सत्य की लालसा ही उसे सद्गुरु के शरण में जाने के लिए प्रेरित करती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

भूमि जीव संकुल रहे गये शरद ऋतु पाई।
सद्गुरु मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाई।।

(4/17)

"वर्षा ऋतु में अनेकों जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु शरद् ऋतु के ताप से वे सभी समाप्त हो जाते हैं, सब कुछ साफ हो जाता है, निर्मल हो जाता है। ठीक उसी प्रकार से सत्संग में भगवत्-कथा रूपी वृष्टि से अनेको प्रकार के संशय और भ्रमरूपी जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, जो सद्गुरु के ज्ञानरूपी ताप से सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं और साधक का मन निर्मल हो जाता है।" जैसे शरद् ऋतु की किरणें वर्षा ऋतु में उत्पन्न हुए समस्त छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं को मिटा देती हैं, उसी प्रकार सद्गुरु की ज्ञान रूपी किरणों के प्रकाश में संशय और भ्रम सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं। संशय रहित हृदय में ही भगवान् के प्रति अटूट आस्था का उदय होता है, फिर आस्थायुक्त हृदय से की हुई प्रार्थना भगवान् सुनते हैं, यही भक्ति का यथार्थ स्वरूप है। भक्ति के दो रूप बताये गये हैं—वैधा भक्ति और प्रेमा भक्ति। वैधा भक्ति ही साधना भक्ति कही जाती है और प्रेमा भक्ति सिद्धा भक्ति कही जाती है। साधना भक्ति में ही विविध प्रकार के पूजन, अर्चन आदि का विधान किया गया है, किन्तु प्रेमा भक्ति में अखंड अनुराग एवं अनन्य अनुरक्ति ही उसका साधन है। आप लोग स्वयं विचार कीजिए, जो कुछ भी प्रभु के लिए समर्पित करना चाहते हो, चढ़ाना चाहते हो, देना चाहते हो, उनमें से कौन सी वस्तु ऐसी है जो अपनी है? पत्र, [illegible]., फल, जलादि, जो कुछ भी पूजा की सामग्री है, इनमें से क्या कोई भी ऐसी है जो कि आपकी बनाई हुई हो? प्रकृति प्रभु की ही गुणात्मिका शक्ति है और प्रकृति से उत्पन्न हुआ प्रत्येक पदार्थ प्रभु की शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। प्रकृति स्वयं अपने प्रियतम को प्रमुदित करने के लिए अनन्त वैविध्य और वैचित्र्यमय इस सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। वैदिक विज्ञान इस रहस्य

का उद्घाटन करता है, इसलिए इस सृष्टि में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो प्रभु को समर्पित न हो।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईशा०/1)

इदं के रूप में वर्णित यह संपूर्ण विश्व ईश्वर में ही स्थित है, इसमें सर्वत्र ईश्वर परिपूर्ण है। यह रहस्य विस्तार के साथ पहले आप लोगों को बता दिया है। इससे आप लोग समझ गये होंगे कि वैधा भक्ति के रूप में जो विविध प्रकार के पदार्थों से परमेश्वर की उपासना करने की विधि बताई गई है, वह केवल विषयासक्त जीवों को संसार से विरक्त हो, प्रभु में आस्था उत्पन्न करने के लिए ही है। जीव के पास यथार्थतः अपने अहं के सिवाय और अन्य कुछ भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो वह प्रभु को समर्पित कर सके, जिस पर उसका अपना अधिकार हो। शरीर प्रकृति का परिणाम है, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, सभी प्राकृत हैं। चेतन परमेश्वर का ही अंश है, इसमें जिसे जीव कहते हैं उसका अपना कुछ भी नहीं है। चित्त और चेतन के सहयोग से उत्पन्न हुआ केवल अहं ही उसका अपना है। इसी अहं को प्रभु की समर्चना में उसे समर्पित करना है।

गीता में यज्ञ की बड़ी महिमा गायी गई है। भगवान् ने स्वयं कहा है कि विधाता ने यज्ञ के साथ ही सृष्टि की रचना की है। यह यज्ञ ही देवताओं को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन है। यज्ञ से ही देवता परितृप्त होते हैं। प्रसन्न हुई दैवी शक्तियाँ ही मनुष्य के लिए सर्वविध सुख-सुविधा का साधन प्रदान करती हैं। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को संतुष्ट करते हुए मनुष्य परम-श्रेय रूपी पूर्णत्व का भागी हो जाता है। वैदिक विज्ञान तो यज्ञमय है ही, यज्ञ ही वैदिक धर्म का स्वरूप है। यज्ञ का मूल सारतत्त्व क्या है, इसे आप लोग भली-भाँति समझ लें। यज्ञ का रहस्य केवल एक शब्द में निहित है, वह शब्द है,'स्वाहा'। देवताओं की प्रसन्नता के लिए समर्पण के साथ ही इसी पवित्र शब्द का उच्चारण होता है। दुर्गासप्तशती में बताया गया है कि 'स्वाहा' साक्षात् परमेश्वरी का ही स्वरूप है, इसीसे परमेश्वर की अनुकम्पा प्राप्त होती है। 'स्वाहा' शब्द में तीन अक्षर हैं, स्व-आ-हा। इन तीन अक्षरों का क्रमशः अर्थ होता है, स्व माने अपना आप, अपने से सम्बन्धित सब कुछ, आ माने पूर्णरूप से, हा माने त्याग वा समर्पण। अपने सर्वस्व को पूर्णरूप से दैव के लिए समर्पण, यही तो यथार्थ यज्ञ का स्वरूप है। यही समर्पण तो परमात्मा की सही पूजा है। जो अपने स्व को सुरक्षित रखते हुए परमेश्वर की पूजा-अर्चना करते हैं, उसके बदले में उन्हें भोग तो मिल सकता है किन्तु

परमात्मा नहीं, पूर्णत्व नहीं। स्व को सुरक्षित रखते हुए पदार्थों को अग्नि में डालने के साथ केवल 'स्वाहा' शब्द मात्र का उच्चारण परमात्मा की प्रसन्नता का कारण नहीं बन सकता। यज्ञ का यथार्थ स्वरूप तो 'स्वाहा' शब्द में ही निहित है। उसके यथार्थ रहस्य को समझना होगा और तदनुसार यज्ञ का संपादन करना होगा, तभी आप प्रभु-कृपा के भाजन बन पायेंगे। पदार्थ तो यथार्थतः अग्नि की ही अभिव्यक्ति है। ऋग्वेद का प्रथम मंत्र ही इसका उपदेश करता है–"अग्नि मीले पुरोहितम्।" "जो कुछ दृश्य रूप में दिखाई दे रहा है, वह सब कुछ अग्नि है, उसी की वन्दना करते हैं।" अग्नि से उत्पन्न हुए पदार्थों को अग्नि में समर्पित करते हुए, वैदिक विधान में जिस सत्य को याद रखने की सीख दी जाती है, वह है–"**इदमग्नये इदं न मम्।**""यह अग्नि का है, अग्नि के लिए है, मेरा नहीं।" इसीलिए मैं आप लोगों को बता रहा था कि इस विश्व प्रपंच में अपना केवल अहं मात्र है। अहं और अहं से सम्बन्धित जो कुछ है, वही अपना स्व है, उसी को पूर्णरूपेण प्रभु को समर्पित करना है। तभी हमें प्रभु से प्रार्थना करने का अधिकार प्राप्त होगा। ईशोपनिषद् का यह पंद्रहवां मंत्र मानव के लिए परमेश्वर की भक्ति की नई दिशा प्रदान करता है। यह भक्ति प्रार्थनामयी है, क्रियामयी नहीं। गंभीरता से विचार करके देखें, तो यह ज्ञात होगा कि दुनिया के जितने प्रचलित धर्म हैं, उन सबका मूल आधार, मूल साधना, प्रार्थना पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक धर्म में भी प्रार्थना का ही प्रमुख स्थान है। अन्य क्रिया-कलाप तो केवल कर्त्ता के अहं की तुष्टि के लिए ही बताये गये हैं, वे प्रभु प्राप्ति के साधन नहीं हैं। प्रभु का प्रत्यक्षरूप में दर्शन पाने के लिए तो केवल मात्र प्रार्थना श्रेष्ठतम, सुगमतम, सर्वसुलभ साधन है।

इस मन्त्र में ऋषि प्रभु से क्या निवेदन कर रहा है, यह विचार का विषय है। पूरे मन्त्र को एक बार ध्यान से पढ़ जाईये, फिर इसके प्रत्येक शब्द पर विचार कीजिये। कितनी सार्थक प्रार्थना है यह, कितने गंभीर भाव से भरा हुआ है प्रत्येक शब्द! मन्त्र इस प्रकार है–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। (ईशा० 15)

"सत्यस्य मुखं हिरणमयेन पात्रेण अपिहितं" हे पूषन! "सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वम् अपावृणु" सत्य का मुख स्वार्णिम पात्र से ढका हुआ है। हे पोषण कर्त्ता प्रभु! मुझ सत्यधर्मा के दर्शन के लिए, उसे आप हटा लें। इस प्रार्थना के प्रथम वाक्य में कठोर सत्य की घोषणा की गई है। वह कठोर सत्य क्या है? वह सत्य है, उस सत्य धर्मा, तत्त्वद्रष्टा ऋषि की यह घोषणा की सत्य का मुख

स्वर्णमय पात्र से ढका हुआ है। केवल आध्यात्मिक जगत् में ही यह सत्य सत्य नहीं, हमारे व्यावहारिक जगत् में भी इसका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। भला, यह कौन नहीं जानता कि सत्य का मुख सदैव स्वर्णमय पात्र से ही ढक दिया जाता है। वेद का प्रत्येक वाक्य आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सत्य का उद्‌घाटन करता है। इसीलिए ब्रह्मज्ञ ऋषियों ने वेदार्थ की व्यवस्था में इन तीनों प्रकारों से चिन्तन की दिशा दी है। आधिभौतिक जगत् में हम देखते हैं, सत्य के ऊपर स्वर्णमय पात्र का ही पर्दा पड़ा हुआ है। आज लोगों को सत्य नहीं स्वर्ण चाहिए। हमारे यहाँ कहावत है कि सोना सत्य का मुख ढक लेता है, वेद के मन्त्र का ही बोलचाल की भाषा में यह अनुवाद है। यह सभी जानते हैं कि सोना खाया नहीं जाता, पीया नहीं जाता, औढ़ा नहीं जाता। विचार की दृष्टि में देखा जाये तो मनुष्य के जीवन में उसकी कहीं भी आवश्यकता नहीं। इस सृष्टि में करोड़ों ऐसे लोग हैं, जो सोने के बिना भी सुख की ज़िंदगी जी रहे हैं, फिर भी सभ्य कहे जाने वाले समाज में कहीं किसी की यदि प्रभुता है, तो वह केवल स्वर्ण की।

इंग्लिश में एक कहानी है 'गोल्डन.टच' नाम की, आप लोगों ने शायद उसे पढ़ा हो। हमारे यहाँ नाथ संप्रदाय के प्रवर्त्तक आदि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की जीवन कथा में इसी प्रकार की घटना का वर्णन मिलता है। एक दिन एक महालोभी व्यक्ति मत्स्येन्द्रनाथ के चरणों में आकर प्रार्थना करता है। मत्स्येन्द्रनाथ उसकी आन्तरिक कामना को जान उसे स्वर्णमय पात्र प्रदान करते हैं किन्तु उतने से वह संतुष्ट नहीं होता। फिर वे उसे वरदान देते हैं कि जिस चीज़ को तू स्पर्श करेगा वह स्वर्ण हो जायेगा। वह लोभी व्यक्ति बड़ी ही प्रसन्नता से लौट कर घर आता है और अपनी पत्नी को यह प्रसन्नतामय समाचार सुनाता है। कहता है कि अब मेरे समान दुनिया में कोई दूसरा ऐश्वर्यवान नहीं होगा; क्योंकि अब मैं जिस पदार्थ को भी स्पर्श करूँगा वह सोने का हो जायेगा। यह जानकर स्त्री की प्रसन्नता की भी सीमा न रही, वह पतिदेव का स्वागत करते हुए पात्र में जल भर कर ले आई। उसने पात्र को उठा लिया, पात्र स्पर्श करते ही सोने का हो गया, बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु जब जल मुँह से लगायां, तो वह भी सोना बन गया। इतने में उसका एक बच्चा दौड़ा हुआ उसके पास आ गया, ज्योंहि उस बच्चे को हृदय से लगाया वह भी सोने का हो गया। इस दशा को देख उसकी स्त्री वा अन्य लोग भाग खड़े हुए, इस भय से कि कहीं उसके स्पर्श से सोने के न बन जायें। वह व्यक्ति भूख से तड़फने लगा, जब रोटी हाथ में आई तो वह भी सोना बन गई। ज़रा सोचिये, उस सोने के पुजारी की क्या दशा हुई होगी? कोई भी उसके पास आना नहीं चाहता था। चारों ओर उसके सोने का ही अम्बार लगा हुआ था। वह चीख

पड़ा, योगेश्वर को पुकारने लगा। अब वह समझ गया था कि सोना खाया नहीं जा सकता, पीया नहीं जा सकता, सोने को हृदय से लगा कर प्यार नहीं किया जा सकता। सोना बच्चे का प्यार नहीं दे सकता, स्त्री का प्यार नहीं दे सकता, भाई का भायापन नहीं दे सकता, माँ की ममता नहीं दे सकता, पिता का स्नेह नहीं दे सकता और गुरु की करुणा नहीं दे सकता। यथार्थतः वह मनुष्य के लिए तो कुछ भी नहीं दे सकता। उस लोभी की दयनीय दशा को देख उसकी आर्त्त पुकार को सुन गुरु मत्स्येन्द्रनाथ वहीं प्रकट हो गये और पूछा—अब तुम्हें क्या चाहिए? वह रोता हुआ उनके चरणों में गिर गया और प्रार्थना करने लगा, प्रभो! मैं जैसे पहले था वैसा हो जाऊँ, अब मुझे सोना नहीं चाहिए। केवल वही नहीं दुनिया का प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि सोना उसके जीवन की सही मांग नहीं, फिर भी वह सदैव उसी के लिए प्रयत्नशील है। सौभाग्य वा दुर्भाग्य कहिए, जिन्हें वह सोना मिल जाता है, मदान्ध हो जाते हैं, पागल हो जाते हैं। दुनिया में फिर अपने समान किसी और को नहीं समझते, कोई और उनकी दृष्टि में दिखाई ही नहीं देता।

भारत में एक बिहारी नाम के कवि हुए हैं। काव्य जगत् में उनके द्वारा लिखित दोहे बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। उन्होंने एक दोहे में लिखा है—

कनक कनक ते सौगुणी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है यह पाये बौराय।।

कनक माने सोना तथा कनक माने धतूरा भी होता है। वे कहते हैं कि सोने में धतूरे से सौ गुणा अधिक मादकता होती है, क्योंकि धतूरे को तो व्यक्ति खाकर पागल होता है किन्तु सोना तो हाथ में आते ही व्यक्ति को पागल बना देता है। आप लोग सभी जानते हैं कि सोना ही सम्पत्ति का मूल आधार है। आज दुनिया की मार्कीट को सोना ही कंट्रोल कर रहा है। कितनी विचित्र बात है, जिस पदार्थ के बिना व्यक्ति आजीवन सुख से जी सकता है, जिस पदार्थ का व्यक्ति के जीवन में प्रत्यक्ष कोई उपयोग नहीं है, उसी के पीछे आज सारा का सारा मानव समाज पागल हो रहा है। ऋषि का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि सोने के आवरण से ही सत्य का मुख ढका हुआ है। हमारे यहाँ बोलचाल में धन-सम्पत्ति को माया कहते हैं और जैसा कि अभी आप लोगों को बताया है कि सोना ही सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति का आधार है। दूसरे शब्दों में स्वर्णमय पात्र का अर्थ होता है, मायामय आवरण। यह माया का आवरण जब तक दूर नहीं होता, तब तक सत्य का दर्शन नहीं हो सकता।

माया परमेश्वर की शक्ति है, वह अपनी आभामयी मोहिनी शक्ति से

सम्पूर्ण जीवों को मोहित किये हुए है। मनुष्य में वह शक्ति नहीं, जिसके द्वारा प्रयत्न कर, इस माया से मुक्त हो सके। गोस्वामी जी कहते हैं—

अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटे नाथ करउँ जब दाया।।

हे प्रभो ! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है, उससे छूटना अपने बूते की बात नहीं। आपकी जब दया हो जाये, तभी इसके प्रभाव से छूटा जा सकता है। माया की महिमा का गान करते हुए वे कहते हैं—

सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहिं लेखे माहीं।। (7/71/8)
जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई।। (7/59/5)

विषयासक्त मनुष्यों की तो बात ही क्या है, भगवान् शंकर और ब्रह्मा भी प्रभु की उस प्रबल माया से भयभीत रहते हैं। वे बड़े-२ ज्ञानियों के चित्त को हर कर जबरदस्ती व्यामोह के आधीन कर देती है। माया की प्रचण्डता का गान करते हुए दुर्गासप्तशती में मेधा ऋषि कहते हैं—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलाबा कृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।।

इस श्लोक का अनुवाद ही गोस्वामी जी की चौपाई में हुआ है, जिसका अर्थ आप लोगों को बता चुका हूँ। गीता में प्रभु स्वयं अपनी माया को दुरत्यया बताते हैं और कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। (गीता 7/14)

"यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी ही दुस्तर है, उसे पार करना मानव के वश क़ी बात नहीं। इससे पार जाने का केवल एक ही उपाय है, जो मेरी शरण में आ जाते हैं, वे ही इस माया को पार कर जाते हैं।" जैसाकि मैंने पहले भी आप लोगों को बताया है कि माया परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति है, वह मिथ्या नहीं, भ्रम नहीं, कल्पना नहीं है। माया शब्द का अर्थ होता है जो अमापी को माप में प्रकट कर दे। 'मा' धातु मापने अर्थ में प्रयुक्त होती है, 'या' का अर्थ होता है जो। 'या' शब्द स्त्रीलिंग है, इसका अभिप्राय होता है जो शक्ति मापरूपा है, उसे माया कहते हैं। वही माया सर्वव्याप्त, अमापी परमात्मा को, असीम परमात्मा को सीमित रूप में प्रकट कर देती है। उस एक को अनन्तरूप में प्रकट करने वाली परमेश्वर की शक्ति ही माया शब्द से पुकारी जाती है। वह माया तेजोमयी है, उसीसे सत्यरूपी परमेश्वर का यथार्थ स्वरूप आवृत्त है। प्रभु स्वयं कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। (गीता 7/25)

"मैं अपनी योगमाया से आवृत्त हुआ, सबके लिए प्रत्यक्ष नहीं होता।" यदि कोई प्रभु के उस सत्यस्वरूप का दर्शन करना चाहे, उसके लिए केवल एक ही उपाय है कि वह इस मंत्र का चिंतन करते हुए प्रभु से ही प्रार्थना करे

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

(ईशा० 15)

हम सभी जानते हैं कि इस सृष्ट जगत् का एक अंश होने से हम लोग भी उसी माया के आधीन हैं। हममें इतनी क्षमता नहीं कि उसके आवरण को अपने प्रयत्न से दूर कर सकें। इसलिए वेद के इस मंत्र का चिन्तन करते हुए और मन्त्रगत शब्दों से भावपूरित हृदय द्वारा प्रभु से प्रार्थना करें, जिससे वह अपनी करुणा से ही माया के स्वर्णिम आवरण को दूर कर अपने सत्यस्वरूप का साक्षात् दर्शन करा दे। इस प्रार्थना के साथ ही आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है। कल पुनः इस मंत्र के अन्य शब्दों पर विचार किया जायेगा।

हरि ॐ तत्सत्
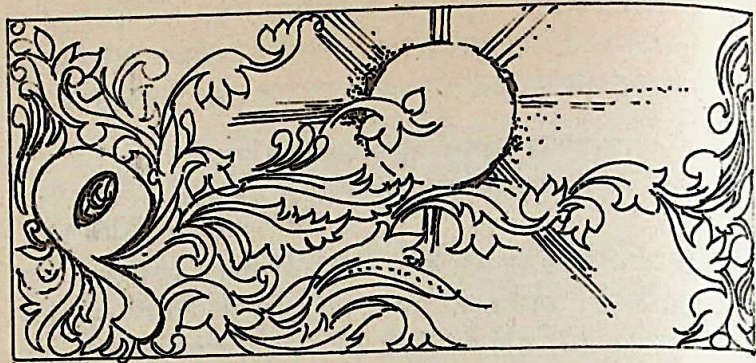
मेरी प्रिय आत्माओ !

प्रभु का मंगलमय विधान आप सभी के लिए सदैव कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभ कामना है। आप लोग कई दिनों से ईशोपनिषद् पर विचार सुन रहे हैं। कल उसके पन्द्रहवें मंत्र की व्याख्या करते हुए कुछ बातें समझाई गई थी। पन्द्रहवां मंत्र परमेश्वर की प्रार्थना से युक्त है। सत् के ऊपर पड़े हुए माया के सुनहरे आवरण को दूर करने की सत्यधर्मा साधक प्रभु से प्रार्थना कर रहा है। प्रार्थना जीवनी शक्ति का स्रोत है। प्रार्थना का अर्थ कुछ सीखे हुए, याद किये हुए शब्दों को दोहराना ही नहीं है, प्रार्थना प्रार्थी के अन्दर की आर्त्त पुकार है। वह अपनी असमर्थता, अपनी दीनता-हीनता का अनुभव कर, व्यथित हो, अपने प्राणेश्वर, सर्वेश्वर, जीवनाधार के समक्ष अन्तर की मांग की अभिव्यक्ति है। प्रार्थना से पूर्व प्रार्थी का अपने प्रभु के समक्ष उपस्थित होना आवश्यक है। किसी भी प्रकार से अपने स्वामी के सान्निध्य में पहुँच कर ही उनसे अपनी व्यथा की कथा सुनाई जा सकती है। यदि तन से न भी सम्भव हो, तो मन से उनका सान्निध्य होना परमावश्यक है। इष्ट के सान्निध्य की प्राप्ति को ही उपासना कहा जाता है। उपासना के बिना प्रार्थना निरर्थक हुआ करती है। प्रार्थना के लिए एक और भी परमावश्यक तत्त्व है, वह है आराध्य की महिमा का बोध। यदि प्रार्थी को जिससे वह प्रार्थना करने जा रहा है, उसकी महिमा का बोध नहीं होगा, तो उसकी प्रार्थना बलवती नहीं हो सकती। जैसाकि मैंने पहले आप लोगों को बताया है कि यह चराचर विश्व परमात्मा की महिमा मात्र है। वेद कहता है—"एतावानस्य महिमा।" विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति, ये सब कुछ उस परमेश्वर की महिमा है। इसके पूर्व के मन्त्रों में ऋषि ने यह बात स्पष्ट की है कि इनके साथ उस परमेश्वर को यथार्थ रूप से जानकर ही साधक अमृत को प्राप्त होता है। जिसका अभिप्राय है, महिमा से युक्त उस महिमावान को जान कर ही साधक उसकी भक्तिरूपा अमृत को,

उसके प्रेमामृत को प्राप्त करता है। प्रार्थना में प्रार्थी की आन्तरिक मांग निहित होती है। यदि उसे यह पता ही न हो कि जो कुछ मांगने जा रहा है, वह उसे देने की सामर्थ्य भी रखता है या नहीं, तो फिर वह उससे विश्वास के साथ कैसे मांग सकेगा? इसलिए प्रार्थी को इष्ट की महिमा का बोध होना परमावश्यक है। देवर्षि नारद का कथन है—

तत्रापि न माहात्म्य ज्ञान विस्मृत्यापवादः।

(नारद भक्ति सूत्र/22)

भक्ति में परमेश्वर के माहात्म्य ज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं। अभिप्राय है कि अपने उपास्य की महिमा का पूर्ण बोध होना ही चाहिए। अब आप लोग समझ गये होंगे कि आराध्य की महिमा का बोध और आराध्य की समीपता प्राप्त होने के पश्चात् ही, आराध्य से की गई प्रार्थना सार्थक सिद्ध होती है।

आप लोग जानते हैं कि शाश्वत सनातन धर्म का मूल आधार वेद है और वेद की माता गायत्री है। वेद शब्द का अर्थ है परमात्मा द्वारा प्रकट किया हुआ ज्ञान। वेद-ज्ञान अनुभूत ज्ञान नहीं, अवतरित ज्ञान है। गायत्री वह तत्त्व है, जिसके माध्यम से वेद का प्रादुर्भाव होता है। जो ज्ञान साधना द्वारा अर्जित किया जाता है, उसे अनुभूत ज्ञान कहते हैं। वह श्रौत ज्ञान नहीं, स्मार्त्त ज्ञान कहा जाता है। उस ज्ञान के संकलन को श्रुति नहीं स्मृति कहते हैं। वेद-ज्ञान अनुभूत ज्ञान नहीं अवतरित ज्ञान है। इंग्लिश में इसे 'रिवील्ड नालेज' कहते हैं। यह ज्ञान साधन से नहीं, प्रार्थना से ही प्रार्थी के हृदय में प्रभु के कृपाप्रसाद से अवतरित होता है, उतरता है, प्रकट होता है। वह प्रार्थना ही गायत्री शब्द से कही जाती है। जिस गायत्री मन्त्र की हमारे यहाँ इतनी महिमा गाई जाती है, जिसे ब्रह्मा गायत्री कहते हैं, उसके 24 अक्षरों पर गम्भीरता से विचार करके देखें तो ज्ञात होगा कि वह परमेश्वर की विधिपूर्वक, सर्वांगपूर्ण प्रार्थना है। स्तुति और उपासना से युक्त प्रार्थना ही सर्वांगपूर्ण प्रार्थना कही जाती है। स्तुति में इष्ट की महिमा का गान और उसका बोध होता है, उपासना में इष्ट में अटूट आस्था एवं उसके सान्निध्य की प्राप्ति होती है, फिर प्रार्थना में प्रार्थी अपने इष्ट के समक्ष अपनी अन्तर्वेदना प्रकट करता है। गायत्री मंत्र में सामान्यतया तीनों व्याहृतियों का प्रयोग और विशेषतः सप्त व्याहृतियों के सहित प्रथम चरण में प्रभु की महिमा का गान है, प्रभु की स्तुति है—

ॐ भूः भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं।

यहां तक प्रभु की स्तुति है। इसका अर्थ होता है'ॐ' सर्वरक्षक 'भू' सत् 'भुवः' चित्त 'स्वः' आनन्दस्वरूप 'तत्सवितु' जगत् का स्रष्टा'वरेण्यं'जो

सभी के लिए वरण करने योग्य है, जो सर्वश्रेष्ठ है, 'भर्गो देवस्य धीमहि' देवस्य भर्गो उस सर्वश्रेष्ठ देव के परम प्रकाश का, तेज का, हम ध्यान करते हैं। इस मन्त्र का यह दूसरा चरण प्रभु की महिमा गान के साथ ही उनके सान्निध्य का अवबोधन करवाता है। उपासना का यही स्वरूप है। इस मन्त्र का अन्तिम चरण प्रार्थना से सम्बन्धित है। प्रार्थना क्या है? 'यः नः धीयः प्रचोदयात्' जो हम सब की बुद्धियों को प्रेरणा दे। अभिप्राय यह कि हमारी बुद्धियाँ उस परमेश्वर के परमप्रकाश से ही प्रेरित हों, यह वेद की सामूहिक प्रार्थना है। परमात्मा ही सभी की बुद्धियों का प्रेरक है। गोस्वामी जी ने लिखा है—

उर प्रेरक रघुबंस विभूषण।

किन्तु मनुष्य प्रमादवश उस प्रेरक की तरफ ध्यान न देकर, बुद्धि के प्रकाश में नहीं अहं से उत्पन्न मन के द्वारा प्रेरित होकर ही, दुनिया के कार्यों में प्रवृत्त होता है। प्रायः लोग गुरुमुख नहीं, मनमुखी ही हुआ करते हैं। जो ज्ञान के प्रकाश में, बुद्धि के प्रकाश में सत्य की ओर चलते हैं, वे गुरुमुख कहे जाते हैं। किन्तु जो विषय-वासनाओं से प्रेरित हो मानसिक इच्छाओं को ही पूर्ण करने में निरत रहते हैं, वे मनमुखी कहे जाते हैं। गायत्री मंत्र परमात्मा के प्रकाश से प्रेरित बुद्धि के द्वारा ही जीवन के समस्त क्रिया-कलाप को करने की सीख देता है, इसीलिए इसे गुरुमंत्र भी कहते हैं। प्रभु की महिमा का बोध, उसकी महिमा का गान, चिंतन, उस सर्वस्रष्टा, सर्वश्रेष्ट के परम प्रकाश का ध्यान, उस ध्यान के द्वारा उसके सान्निध्य की अनुभूति, फिर उससे सभी की बुद्धियों को प्रकाशित और प्रेरित करने की प्रार्थना, यही गायत्री मंत्र का स्वरूप है। इस प्रार्थना से ही द्रवित होकर प्रभु प्रार्थी के अन्तःकरण में अपने दिव्य ज्ञान को उतार देते हैं, उसी को अवतरण कहते हैं। प्रभु प्रसाद से अवतरित हुआ ज्ञान ही वेद कहा जाता है। उस वेद-ज्ञान से युक्त व्यक्ति को ही ब्रह्मर्षि कहते हैं, ब्रह्म का द्रष्टा, ब्रह्म का ज्ञाता कहते हैं। उसी को ब्राह्मण भी कहा जाता है। यह प्रार्थना की महिमा है जिसका आश्रय ले एक अल्पज्ञ मानव ब्रह्मज्ञ बन जाता है। ईशोपनिषद् के इस पन्द्रहवें मन्त्र में भी उसी प्रकार से प्रार्थना का विधान है। अन्तर केवल इतना है है कि यहाँ गायत्री मन्त्र में सभी की बुद्धियों को प्रकाशित करने की, प्रेरित करने की प्रभु से प्रार्थना की गई है, वहाँ इस मंत्र में सत्यधर्मा साधक व्यक्तिगत रूप से उस सत्य के दर्शन की अभिलाषा प्रकट करता है। दोनों में यही अन्तर है। गायत्री मंत्र वेद से सम्बन्धित है, वह वेद की माँ है, किन्तु यह मन्त्र वेद नहीं वेदान्त है। दूसरे शब्दों में जहाँ ज्ञान प्राप्ति की चाह है, वह वेद है और जहाँ सत्य दर्शन की चाह है वह वेदान्त है, उपनिषद् है। वेद में अनेकत्व की अनुभूति है अनेकता की स्वीकृति है, भेद है, किन्तु वेदान्त में भेदान्त हो जाता है, सम-

भेदों का अन्त हो जाता है। यहाँ तक कि ईश्वर और जीव का, ब्रह्म और जीव का भी भेद नहीं रहता। आप लोग जानते हैं कि वैदिक सनातन धर्म में बालक को यज्ञोपवीत संस्कार करके, विद्या अध्ययन के लिए गुरुकुल में प्रवेश कराने का विधान है। यज्ञोपवीत संस्कार को व्रतबन्ध वा उपनयन संस्कार भी कहते हैं। इसमें आचार्य बालक को गायत्री मंत्र की दीक्षा देकर उसकी साधना की विधि बताता है और उसको जड़-चेतनात्मक विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्ति के लिए निर्देश देता है। विद्यार्थी गायत्री की साधना और गुरु की उपासना से ही वेदज्ञ हो, अपनी शिक्षा को पूर्ण करता है। माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न होना बालक का पहला जन्म है और आचार्य के द्वारा गायत्री की दीक्षा प्राप्त कर, उससे संस्कारित हो, ज्ञान प्राप्ति की साधना में प्रवृत्त होना, यह बालक का दूसरा जन्म है। इसीलिए हमारे समाज में आचार्यवान व्यक्ति को द्विज कहते हैं। दूसरे शब्दों में जो गुरुमुख है, गुरुकृपा का पात्र बन गया है, वही द्विज है।

गायत्री की साधना द्वारा प्राप्त ज्ञान ही वेद ज्ञान है। उपनिषदों में उसे अपरा विद्या कहकर सम्बोधित किया गया है। इस ज्ञान के द्वारा व्यक्ति सृष्टि के समस्त पदार्थों के स्वरूप का और उसके प्रयोजनपूर्ण प्रयोग का बोध प्राप्त कर लेता है। सृष्टि-विद्या तथा उसके श्रेष्ठतम स्वरूप स्वर्गादि के सुखमय भोग का बोध भी प्राप्त कर लेता है किन्तु उस अपरा विद्या से वह जन्म-मृत्यु के प्रवाह से विमुक्त नहीं हो पाता। विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति के कार्य-कारण और उसके प्रयोजन का स्वरूपज्ञान ही वेदज्ञान है। यह ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति में वा उसके साक्षात्कार में सहयोगी सिद्ध होता है। उसकी यथार्थता को जानने के पश्चात् मानव उस ज्ञान के स्रोतरूप परमात्मा को जानने और उसे प्रत्यक्ष करने का अभिलाषी होता है। सत्य दर्शन की प्रबल अभिलाषा साधक को अपरा विद्या से ऊपर उठने की प्रेरणा प्रदान करती है। उस अवस्था में साधक वेद का भी परित्याग कर देता है, वेदमाता गायत्री का भी विसर्जन कर देता है, द्विजाति के चिन्ह रूप यज्ञोपवीत को भी विसर्जन कर देता है। देवर्षि नारद कहते हैं–

वेदानपि सन्न्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते। (नारद भक्ति सू०49)

वह वेद का भी परित्याग कर देता है, फिर परमात्मा के अविच्छिन्न अनुराग का पात्र बनता है। ईशोपनिषद् की प्रार्थना सत्य दर्शन की प्रार्थना है, यह गायत्री की प्रार्थना से भी श्रेष्ठ है। गायत्री द्वारा उद्भूत ज्ञान त्रिगुणात्मक है, इसलिए भगवान् कहते हैं–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (गीता 2/45)

वेद त्रिगुणात्मक जगत् के सम्बन्ध में ही बोध प्रदान करने वाले हैं, इनके द्वारा जगत् और जीवन की यथार्थता को जानने के पश्चात् अब इनसे परे हो जाना चाहिए। अर्जुन प्रेय नहीं श्रेय का अभिलाषी है। श्रेय ही परम सत्य है। उस परम सत्य की अनुभूति वेदान्त का विषय है, इसलिए भगवान् उसे ब्रह्म-विद्या, वेदान्त का उपदेश दे रहे हैं और बता रहे हैं कि तू त्रिगुणात्मक वेद में अनुरक्त न हो, उससे परे जा।

इस विषय में आप लोग थोड़ा विचार कर लें। गीता में ज्ञान को अग्नि कहा है। अग्नि कब तक प्रज्वलित रहती है? जब तक ईंधन हो। ईंधन के समाप्त होते ही अग्नि भी शान्त हो जाती है। इसी रूप से ज्ञान की स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक कि अज्ञान रूपी ईंधन शेष रहता है। जैसे ईंधन के समाप्त होने पर अग्नि शान्त हो जाती है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान के समूल नष्ट होने पर ज्ञान भी शान्त हो जाता है। गोस्वामी जी ने-दोहावली में लिखा है–

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकास।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास।। (दोहा० 251)

कहने का अभिप्राय यह कि अज्ञान के बिना ज्ञान, अन्धकार के बिना प्रकाश, सगुण के बिना निर्गुण की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ये सभी सापेक्ष हैं, किन्तु सत्य निरपेक्ष है, उसकी अवस्थिति के लिए किसी भी अपेक्षा की आवश्यकता नहीं होती। उपनिषद् उसी परम सत्य का अवबोधन कराती है, उसी परम सत्य का दर्शन करने की सीख देती है।

जैसा कि आप लोग जानते हैं कि गीता भी उपनिषद् है। वह ब्रह्मविद्या का स्वरूप है। उसमें भी उसी परम सत्य के साक्षात्कार की विधि बताई गई है। सनातन धर्म के प्रवक्ता आचार्यों ने वेद को नहीं, वेदान्त को ही प्रस्थान रूप में प्रतिष्ठित किया है। सभी आचार्यों ने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र,इन तीनों को ही परम सत्य के दर्शन की दिशा में अग्रसर होने वाले साधक के लिए प्रस्थानत्रयी के रूप में प्रस्तुत किया है। गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि वेद का सार तत्त्व वेदान्त है, जो उपनिषद् के रूप में प्रतिष्ठित है। उपनिषदों में विविध-रूप से वर्णित विचारों की संगति बैठाने के लिए ही भगवान् वादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है और उन्हीं उपनिषदों का दोहन कर उनके सार-सर्वस्व को प्रभु ने गीता के रूप में प्रकाशित किया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकारान्तर से द्वैपायन कृष्ण द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्र और भगवान् कृष्ण द्वारा गाई हुई भगवद्गीता, ये दोनों ही उपनिषदों की सुस्पष्ट व्याख्यायें हैं। ये सभी,प्रस्थानत्रयी, पराविद्या वा ब्रह्म विद्या के नाम से अभिहित है, यही शाश्वत सनातन धर्म के मूल आधार हैं। जहाँ वैदिक कर्मकाण्ड में योग्यतानुसार वर्ण-व्यवस्था और तदनुसार कर्मों का विभाजन किया गया है, वहाँ इस ब्रह्मविद्या की उपासना और उसकी प्राप्ति में किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं। जैसा कि आप सभी जानते हैं, ब्रह्मविद्या का अवराधक सन्यासी कहा जाता है। सन्यासी की कोई जाति नहीं होती, उसका कोई वर्ण नहीं होता, उसका कोई चिन्ह नहीं होता, वह सर्वथा निर्द्वन्द्व होता है। यथार्थतः काम्य कर्मों का त्याग करने वाला गीता की भाषा में सन्यासी है। वह कहीं भी, किसी भी देश, काल, परिस्थिति में रहता हुआ सन्यासी ही होता है, वही ब्रह्मविद्या का यथार्थ अधिकारी होता है। उपनिषदों में भी हम इसी प्रकार से देखते हैं कि दासी जाबाला का पुत्र सत्यकाम और उसी प्रकार से इतरा का पुत्र एतरेयमहिदास, गार्गी, मैत्रेयी आदि सभी उस ब्रह्मविद्या के सुयोग्य पात्र हैं। इस युग में संत कबीर, संत रविदास, संत सेना, संत धन्ना, तुकाराम, दादुदयाल, मीरा, सहजोबाई, दयाबाई, ललितश्री, गोदाम्बा आदि बहुत से उस परम-तत्त्व के प्रत्यक्ष द्रष्टा हुए हैं। गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है कि मेरे यथार्थ स्वरूप को जानने में, मुझे प्राप्त करने में, मानवमात्र अर्थात् स्त्री-पुरुष का समान रूप से अधिकार है—

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।

(गीता 9/32)

इतना ही नहीं,प्रभु का कथन है कि यदि घोर दुराचारी भी दृढ़ निश्चय के साथ अनन्य भाव से मुझे जानने वा पाने की दिशा में प्रवृत्त होता है तो वह भी उस काल से साधु मानने योग्य है। मेरे कहने का अभिप्राय कि इस वेदान्तिक धर्म में जाति-पाँति का, ऊँच-नीच का, स्त्री-पुरुष का कहीं भी भेदभाव नहीं है, कहीं भी उसके लिए स्थान नहीं है, चाहे वह कोई भी हो, किसी भी जाति या वर्ग का हो, किसी भी लिंग का हो। यदि वह सत्य का जिज्ञासु है, सत्य का अभिलाषी है, संसार की सभी मान्यताओं को तिलांजलि दे, उस परम सत्य की जिज्ञासा ले, तत्त्वद्रष्टा सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करता है, तो वह श्रेय का पथिक, ब्रह्मविद्या का यथार्थ अधिकारी होता है, उपनिषदों की यही घोषणा है। मेरे विचार से यदि वेद और वेदान्त के सही अभिप्राय को समझ कर

सनातनधम का उचित रूप से प्रचार किया होता, तो भारतीय जनजीवन की हज़ार वर्षों तक जो दुर्गति हुई है, उसका अवसर ही न आता। आप लोग जानते हैं कि हमारी इस दुर्गति में आपस का भेद-भाव हीं मूल कारण रहा है मिथ्या जाति अभिमान, ऊँच-नीच की धारणा ही कारण रही है।

वैदिक विज्ञान में सभी मनुष्यों की एक जाति मानी गई है। उनके गुण और कर्मानुसार प्रतिष्ठित की गई वर्णव्यवस्था को जाति व्यवस्था मानना, यह वैदिक विज्ञान से अनभिज्ञता एवं अज्ञानता की पराकाष्ठा के सिवाय कुछ नहीं कहा जा सकता। मानव की विभिन्न जातियाँ हुआ करती हैं, ऐसी मान्यता वाले लोग वेद से प्रमाण रूप में एक वाक्य भी उद्धृत नहीं कर सकते। वर्णव्यवस्था वर्ग व्यवस्था है, व्यावहारिक जगत् में उसकी परमोपयोगिता है, किन्तु उसमें कहीं ऊँच-नीच की कल्पना के लिए स्थान नहीं। जो मानव सत्य का अभिलाषी हो, वह सत्यधर्मा व्यावहारिक जगत् से विरत हो परमसत्य की जिज्ञासा लिए, उसे जानने का अभीप्सु हो, वह किसी भी वर्ग का क्यों न हो, उसे अपने कारणरूप उस परमेश्वर को जानने, देखने, प्राप्त होने का पूर्ण अधिकार है। यही वेदान्त की घोषणा है, यही उपनिषदों की सीख है। दुर्भाग्य से कुछ शताब्दियों पूर्व किसी जात्याभिमानी पंडित मन्यमाना व्यक्ति ने एक सूत्र की रचना की, जिसमें उसने घोषणा की कि—"स्त्री शूद्रो न धीयताम्।" अर्थात् स्त्री और शूद्र को वैदिक साहित्य का अध्ययन नहीं करना चाहिए। मेरे विचार से सनातनधर्म के लिए वह महादुर्भाग्य का दिन रहा होगा, जिस दिन किसी अविद्याग्रस्त विद्वान् ने इस सूत्र की रचना की। इसके परिणामस्वरूप धर्मशास्त्र के अन्धानुयायी, अहंकारी, अविद्याग्रस्त, पंडित्याभिमानी धर्मशास्त्र के नाम पर अपने ही लोगों में से एक बहुत बड़े वर्ग को अज्ञात के गर्त्त में ढकेलने का निकृष्टतम कार्य शताब्दियों तक करते रहे हैं। वर्तमान में यद्यपि वह स्थिति नहीं रही फिर भी उस अन्धमान्यता का अभी समूल नाश नहीं हुआ है।

उन्नीस सौ अड़सठ की बात है। उज्जैन के कुंभ मेले में एक दिन मैं कुछ साथियों के साथ तत्कालीन ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य स्वामी कृष्णाबोधाश्रम के केम्प में चला गया। वहाँ पर शास्त्र चर्चा हो रही थी, बैठ कर सुनने लगा। इतनें में एक महिला ने करबद्ध श्रद्धावनत हो, स्वामी जी से पूछ लिया, स्वामी जी ! गायत्री का जप कैसे करना चाहिए? इतना सुनते ही वह बिगड़ गये। उससे कहा—देवि ! गायत्री का जप स्त्रियों को नहीं करना चाहिए, यह धर्मशास्त्र के विरुद्ध है। उस महिला ने फिर पूछ लिया, हम लोगों को क्यों नहीं करना

चाहिए? यह मैं नहीं समझ पाई। उसके इस प्रश्न को सुन कर अब उनके गुस्से की सीमा नहीं रही और वे झुंझला कर बोले, देवि! मैंने तुम्हें कह दिया कि स्त्रियों के लिए गायत्री का जाप वर्जित है, धर्म-शास्त्र के विरुद्ध है, इसलिए नहीं करना चाहिए। तुम लोगों ने शास्त्र-विरुद्ध मनमाना आचरण करके ही धर्म का नाश किया है। इस प्रकार से और भी कई बातें कहीं। भगवान् शंकराचार्य के आसन पर सुशोभित सन्यासी के द्वारा क्रोध से कही हुई बातों को सुनकर वह महिला घबरा गई, काँपने लगी। उसकी इस स्थिति को देख मुझसे नहीं रहा गया। मैंने पूछ लिया, स्वामी जी ! आखिर देवियों को गायत्री का जाप क्यों नहीं करना चाहिए? यह वेद-विरुद्ध कैसे माना जाता है? जब वेद मंत्रों की द्रष्ट्री अनेकों देवियाँ हो सकती हैं, उपनिषदों में ब्रह्मविद्या की सुयोग्य पात्रा मैत्रेयी, गार्गी आदि देवियाँ हो सकती हैं, तो आज की देवियों को गायत्री उपासना के अधिकार से वंचित कैसे किया जा सकता है? उनकी उपासना को शास्त्र-विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है? मेरे इस प्रश्न का उत्तर तर्क और वैदिक मन्त्रों से नहीं, बल्कि क्रोध और अधिकारपूर्ण शब्दों में मिला। मैंने विवाद को समाप्त करते हुए देवी से कहा, माँ! तुम जाओ, श्रद्धा और भक्ति के साथ गायत्री की उपासना करो। जिस प्रकार पुत्र हो या पुत्री, दोनों को अपनी माँ से प्रार्थना करने का पूर्ण अधिकार होता है, वह दोनों की प्रार्थना सुनती है, उन्हें अपनी कृपा का भाजन बनाती है, उसी प्रकार से तुम भी भावपूर्ण हृदय से गायत्री माँ को पुकारो, वह तुम्हारा कल्याण करेगी, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। मेरे इस कथन का परिणाम यह हुआ कि मैं स्वामी जी की दृष्टि में सनातनधर्मी नहीं रहा। उनका कथन था कि तुम्हारे जैसे लोगों ने ही सनातनधर्म का नाश किया है।

मैं आप लोगों का बता रहा था कि आज भी तथाकथित पठित लोगों में उस अन्धकार युग में बोये गए विघटन के बीज सुरक्षित हैं। आश्चर्य यह है कि तर्क, युक्ति आदि को तिलांजलि देकर धर्म की दुहाई देते हुए उसकी सुरक्षा की जा रही है। मेरे विचार से स्त्री ब्रह्मविद्या की अधिकारिणी है। यदि ऐसा न होता तो याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश न देते,. गार्गी से प्रश्नोत्तर न करते। ब्रह्मवादिनी सुलभा, लोपामुद्रा, लोमशा, ब्रह्मचारिणी भारद्वाजी, आभृणी, वाक्,ऐसी अनेकों स्वनामधन्या प्रातःस्मरणीया देवियों के हमें वैदिक साहित्य में दर्शन होते हैं। भला, इतने प्रत्यक्ष प्रमाणों के होते हुए भी वे बुद्धिमान लोग क्यों नहीं देख पाते? उन्हें यह पहाड़ जैसा सत्य क्यों नहीं सूझता? यह बड़े आश्चर्य की बात है! भगवान् आदिशंकराचार्य तथा मंडन मिश्र के शास्त्रार्थ

में एक नारी ही निर्णायिका बनी थी। क्या वह अनपढ़ और गंवार रही होगी? क्या उसे शास्त्र का बोध नहीं रहा होगा? इसी प्रकार से अनेकों शूद्र वंश में भी ऐसे महात्मा, महापुरुष हो चुके हैं जो पूर्णप्रज्ञ तथा ब्रह्मज्ञ थे। महाभारत में धर्मव्याध की कथा क्या इसका परम प्रमाण नहीं है? कुछ लोग अज्ञानतावश वाल्मीकि रामायण में शंभूक वध के प्रसंग को अपनी अन्धमान्यता को प्रमाणित करने में प्रस्तुत करते हैं। किन्तु वे नहीं जानते कि शंभूक वध का प्रसंग इस अन्धमान्यता से सर्वथा भिन्न है। उसका वध शूद्र होने के नाते नहीं आसुरी तप में प्रवृत्त होने के नाते प्रभु ने किया था। शूद्र ही नहीं बल्कि निषाद वंश में उत्पन्न हुई परम तपस्विनी शबरी को भी भगवान् ने माँ का स्थान दिया और उसका आतिथ्य स्वीकार कर उसे कृतार्थ किया। महर्षि वाल्मीकि ने उसका ब्रह्मचारिणी और श्रमणी सन्यासिनी के रूप का वर्णन किया है। वह मतंग ऋषि की शिष्या क्या शास्त्रज्ञान से शून्य रही होगी? क्या ऋषि आश्रम में जहां वेद-ध्वनि और ब्रह्मविद्या का ही सदैव उद्घोष हुआ करता है, वह उसने नहीं सुना होगा, नहीं पढ़ा होगा? मेरे कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि वेदविद्या तथा ब्रह्मविद्या में स्त्री, पुरुष हर एक का समान अधिकार है। वह ईश्वरीय ज्ञान प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। जब सृष्टि का प्रयोजन ही जीव को शिवत्व की प्राप्ति कराना है, तो उस सृष्टि में प्रकट हुआ ईश्वरीय ज्ञान केवल किसी जाति, किसी वर्ग के लिए ही कैसे कहा जा सकता है? उससे किसी वर्ग को वंचित रखने का प्रयत्न वा उसका समर्थन सर्वथा अन्याय है, वेद विरुद्ध है। जहाँ तक व्यावहारिक समाज में, कर्म के क्षेत्र में वर्णव्यवस्था की बात है, योग्यता के अनुसार कर्त्तव्य का विभाजन है, उस विषय में विवाद करना सर्वथा निरर्थक है। इस सम्बन्ध में भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।। (गीता 4/13)

"ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों का समूह गुण और कर्म के अनुसार मेरे द्वारा ही रचा गया है। इस प्रकार से उसका कर्त्ता होते हुए भी मुझ अविनाशी ईश्वर को तू वास्तव में अकर्त्ता ही मान।" वैदिक सिद्धान्तानुसार जीवमात्र प्रभु की ही अभिव्यक्ति है, उनमें भी वेद मानव जाति को प्रभु की श्रेष्ठतम कृति और उसकी प्रतिमूर्ति मानता है। इसलिए सभी उसके दिव्यज्ञान के समान रूप से अधिकारी हैं, यही मेरे इस विस्तृत विवेचन का सार है।

आप लोगों ने ईशोपनिषद् के पन्द्रहवें मन्त्र की व्याख्या में कल यह बात सुनी थी कि परमेश्वर के सत्य स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करने में केवल आर्त्त हृदय से की हुई प्रभु से प्रार्थना ही एक मात्र साधन है। सत्य का मुख स्वर्णमय पात्र से ढका हुआ है, जब तक उस ढक्कन को हटाया नहीं जाता, तब तक उस सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। कल मैंने आप लोगों को यह भी बताया था कि प्रभु की माया ही वह स्वर्णिम आवरण है, उस आवरण को हटाने की सामर्थ्य हम में नहीं है। वह मायापति ही उस माया के आवरण को हटा सकता है, हम केवल उससे प्रार्थना ही कर सकते हैं। प्रार्थना ही हमारे लिए एकमात्र अवलम्बन है। स्वर्णिम आवरण कितना मोहक है, इस पर आप ज़रा विचार कीजिए। अपने शरीर की तरफ देखिये, इस शरीर के प्रकाशक के रूप में, धारक के रूप में उस परम सत्य परमेश्वर का अंशभूत चैतन्य विराजित है, किन्तु उस मोहक आवरण से विमुग्ध हो जाने के कारण ही , आप कभी उस सत्य को जानने का विचार वा प्रयत्न नहीं कर पाते। ज़रा इस शरीर रूपी आवरण की यथार्थता तो देखिए, कितना अद्भुत, कितना विचित्र है यह ! बहुत ही झीना सा एक पर्दा इस अस्थिपंजर में भरे हुए मांस, मज्जा, रुधिर आदि पदार्थों के ऊपर पड़ा हुआ है। उस पर्दे की आड़ में क्या है, उस पर कभी अपना ध्यान भी नहीं जाता। कितना मोहक है स्वर्णिम आवरण यह ! इस विषय में मैंने एक पद में संकेत किया है—

> है द्रव्य कारीगर नहीं पर कोठरी आली बनी।
> दो बूंद गन्दे नीर से सब ठौर है लाली बनी।।
> मल मूत्र मज्जा रुधिर तान समान सब अपवित्र है।
> तापर रुचिर पर्दा लगा यह खेल परम विचित्र है।।

आध्यात्मिक जगत् में हिरण्यमय पात्र का यही अभिप्राय है। इसी आवरण के पीछे वह सत्य छिपा हुआ है। इस आवरण का यथार्थ बोध हो जाना ही उसका हट जाना है, तभी इसको प्रकाशित करने वाले उस चैतन्यांश का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। जो स्थिति आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत् की है, उससे भी अद्भुत स्थिति उस आधिदैविक जगत् की है। वह स्वर्णिम पात्र और भी विचित्र है। आचार्यों ने उसे अनिर्वचनीय कहा है। उस अनिर्वचनीय आवरण के पीछे जिस परम सत्य का मुख आवृत्त है, उसको जानने वा देखने के लिए, उस मायापति को ही पुकारना होगा। वही अपनी करुणा से उस हिरण्यमय पात्र को हटा दे, तो उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है। इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध की साधक के लिए यही सीख है—

हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

(ईशा० 15)

इस मन्त्र का दूसरा भाग एक और रहस्य का उद्घाटन कर रहा है। वह रहस्य यह है कि जिससे यह प्रार्थना की जा रही है वह पूषन् है। पूषन् शब्द का अर्थ होता है, पोषण करने वाला। पोषण करने वाले को ही पिता कहते हैं। इस पोषण शब्द से प्रार्थी अपने और उस परमेश्वर के नित्य सम्बन्ध को उद्घाटित कर रहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है– **"इयं वै पूषाइयं हि इदं सर्वं पूष्यति। यद् इदं किंच।"** इस मंत्र में पृथ्वी को पूषा कहा गया है, क्योंकि सबका यह पोषण करती है। किन्तु यहाँ पर ईशोपनिषद् के इस 15वें मन्त्र में पूषन् परमेश्वर का ही संबोधन है। वह विश्व का पोषक है इसलिए उसे पूषा कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिससे प्रार्थना की जा रही है, वह कोई अन्य नहीं, अपना पिता है, अपना नित्य हितैषी है, अपना परम सुहृदय है। पिता के समक्ष पुत्र की प्रार्थना कभी भी निष्फल नहीं होती, इसीलिए ऋषि कहता है–**"पूषन् तत् त्वम् अपावृणु।"** हे मेरे पालक पिता ! उस आवरण को आप हटा दें। कितनी सीधी-साधी भाषा में एक निश्छल बालक की तरह प्रभु से उस माया के सुनहरे आवरण को हटाने के लिए ऋषि प्रार्थना कर रहा है। यह अधिकारपूर्ण प्रार्थना है। दीन-हीन, असहाय भिखारी की भाँति नहीं ; एक विनीत पितृभक्त पुत्र की भाँति।

अभी तक प्रार्थी की आन्तरिक चाह स्पष्ट नहीं हो सकी है कि वह विश्व-पोषक पिता से इस हिरण्मय पात्र को हटाने की प्रार्थना क्यों कर रहा है? इसका उत्तर इस मन्त्र का अन्तिम चरण दे रहा है–**"सत्यधर्माय दृष्टये।"** "मुझ सत्यधर्मा को सत्य का प्रत्यक्ष कराने के लिए आप इस आवरण को दूर करें।" इससे यह ध्वनित होता है कि सत्यधर्मा ही उस परम सत्य के दर्शन के लिए प्रभु से इस हिरण्मयेन पात्र जिसे गीता की भाषा में योगमाया कहते हैं, उसे हटा लेने की प्रार्थना कर सकता है। जो हिरण्मयेन पात्र में अभी लुब्ध है, वह इसे दूर करने के लिए प्रभु से कैसे प्रार्थना कर सकता है? छान्दोग्य की श्रुति कहती है–**"त इमे सत्यकामाः अनृताः विधानाः"** इस आत्मा की सत्यकामता अनृत रूपी आवरण से ढकी हुई है। जिसे यहाँ पर अनृत कहा है वही ईशोपनिषद् का हिरण्मय है। यह हिरण्मय माया के लिए लाक्षणिक प्रयोग है। वेदान्त की भाषा में प्रतिपल परिवर्तनशीला होने से इसे अनृत अथवा असत् कहते हैं। जब तक मनुष्य की उस असत् में रुचि है, उसकी चाह है, उसको प्राप्त करने की लालसा है, तब तक वह असत्धर्मा ही कहा जाएगा, सत्यधर्मा नहीं। धर्म शब्द पदार्थ के

गुण अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे सत्य पदार्थ का गुण है ऐसे ही असत् पदार्थ का भी गुण है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, इतना ही नहीं प्रकृति के जितने कार्य हैं सभी असत् वा अनृत शब्द से सम्बोधित किये जाते हैं। इन सभी का अपना-२ धर्म है। व्यक्तिधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, देशधर्म, मानवधर्म, ये सभी प्रकार के धर्म उस असत् तत्त्व से ही संबंधित हैं। इन्हीं धर्मों के लिए भगवान् ने गीता के अंत में परित्याग का उपदेश दिया है–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(गीता 18/66)

"तू सम्पूर्ण असत् से सम्बन्धित धर्मों को त्याग कर एक मेरी शरण में आ जा।" यह बहुत ही गम्भीर चिंतन का विषय है, आप लोग स्वयं में ज़रा झांक कर देखिये और स्वयं को ही पूछिये, क्या आप सत्यधर्मा हैं? जब तक आप प्रकृति के पदार्थों को स्वयं से मूल्यवान समझते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, लालायित हैं, चिन्तनशील हैं, तब तक आप सत्यधर्मा नहीं असत्धर्मा हैं। सच्चिदानंद के प्रत्यक्ष दर्शन की प्रार्थना करने का अधिकारी वही है जो सत्यधर्मा है। गीता में भगवान् ने यह बात समझाई है कि मनुष्य की श्रद्धा ही उसके जीवन का यथार्थ स्वरूप है–"**श्रद्धामयोऽयंपुरुषः**" क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है–"**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**"। जिसकी जैसी श्रद्धा है, जहाँ श्रद्धा है, वह वहीं है। असत् में यदि श्रद्धा है, असत् को ही सत् रूप में जिसने स्वीकार कर रखा है, धारण कर रखा है, वह सत्धर्मा नहीं असत्धर्मा है।

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि असत् में मनुष्य की श्रद्धा क्यों होती है, असत् को वह मूल्यवान क्यों मानने लगता है? इसका एक सीधा सा उत्तर है कि उसके जीवन की सभी आवश्यकताएँ प्रत्यक्ष रूप में असत् द्वारा ही पूर्ण होती हैं, इसलिए वह उसीको पूषा वा पोषणकर्त्ता स्वीकार कर लेता है। यहाँ पर पूषन् शब्द यह संकेत कर रहा है कि यथार्थतः मनुष्य के जीवन का पोषण इन असत् पदार्थों से नहीं हो रहा। उसके पोषक ये जड़ पदार्थ नहीं, ये जिसकी शक्ति के कार्य हैं, वह शक्तिमान परमेश्वर है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, इन पांचों कोषों का पोषणकर्ता वही है, पालन करने के नाते ही उसका नाम पिता है। वह जीव के सर्वतोमुखी विकास की व्यवस्था के लिए ही अपनी शक्ति से इन पदार्थों का सृजन करता है, इसीलिए पूषन् शब्द उसी के लिए सार्थक होता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि जीवमात्र उसकी संतान है, वह सभी जीवों की सर्वप्रकार से संभाल करता है, व्यवस्था करता है। यदि यह तथ्य मनुष्य की समझ में आ जाये तो इन पदार्थों को नहीं पदार्थों के

स्रष्टा को ही अपना आश्रय स्वीकार करेगा, उसी में उसकी श्रद्धा होगी, उसी को परम मूल्यवान समझ कर पाने के लिए, जानने के लिए, देखने के लिए लालायित होगा। उसी अवस्था में यथार्थतः वह सत्यधर्मा हो सकेगा। यह आप सभी जानते हैं, सत्य की परिभाषा करते समय उसे देश, काल, परिस्थिति की सीमा से परे स्वीकार किया गया है। जो तीनों कालों में एक रस रहता है, वही सत्य है। ऐसा सत्य केवल परमात्मा है। जो उसकी एकरस नित्य सत्ता को स्वीकार कर उसी में अनुरक्त हो जाता है, वही सत्यधर्मा कहा जाता है।

इस बात को मैंने कई बार पहले भी वताया है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, ये सब सत्य नहीं हैं, इसलिए इनका धर्म भी सत्य नहीं है। ये सब प्रतिपल परिवर्तनशील होने के नाते, गुणात्मिका शक्ति के कार्य होने के नाते, असत् एवं अनृत ही कहे जाते हैं, इसलिए सभी असत्धर्मा हैं। इन सबका प्रकाशक, इन सबका परम आश्रय वह सच्चिदानंद आत्मा है, उसका धर्म ही सत्यधर्म है।जो उसमें अनुरक्त हैं, उन्हें ही सत्यधर्मा कहा जाता है। इसलिए मैं कहा करता हूँ कि व्यक्ति, जाति, कुलादि, सभी शरीर से सम्बन्धित हैं। इनका धर्म सत्यधर्म नहीं, सनातन धर्म नहीं। वही सच्चे सनातनधर्मी वा सत्यधर्मानुयायी कहे जा सकते हैं जो सच्चिदानन्द स्वरूप सनातन आत्मा में ही अनुरक्त होते हैं। आत्मा ही सनातन है, वही सनातन धर्म का मुख्य आधार है। ईशोपनिषद् का यह मंत्र ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन की प्रार्थना का मार्ग उस सत्यधर्मा के लिए ही बता रहा है।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

(ईशा० 15)

यथार्थतः यह जीवात्मा सत्यधर्मा ही है, असत् की संगति में रहने से, उसमें आसक्त होने के नाते ही यह असत्धर्मा बना हुआ है। जिस असत् में आसक्ति है, वह हिरण्मय है। शरीर की आभा, इन्द्रियों का प्रकाश, मन की मोहिनी और बुद्धि की ज्योति, ये सब कुछ हिरण्मय ही तो है। दुनिया के सारे सम्बन्ध माता-पिता, बहन-भाई, स्त्री-पुत्र, इन सब के साथ जो आपका कर्त्तव्य जुड़ा हुआ है, इनके प्रति जो धर्म पालन की भावना है, सब कुछ हिरण्मय पात्र में आसक्ति का ही तो परिणाम है। इनमें से कुछ सम्बन्ध शरीर के साथ ही जन्मते हैं, कुछ सम्बन्ध वैवाहिक जीवन के पश्चात् इन्द्रिय सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। इसको हम यों भी कह सकते हैं कि पैतृक परिवार का शरीर से सम्बन्ध होता है और स्त्री, पुत्रादि का इन्द्रिय से। इससे आगे मन की स्थिति है, उससे जाति धर्म का जन्म होता है। आगे बुद्धि के नाते ही मानव शरीर की महत्ता है, उससे उत्पन्न हुआ धर्म मानवधर्म कहा जाता है। इनमें से आप गम्भीरता से देखेंगे तो

एक की अपेक्षा दूसरा अधिक विस्तृत दिखाई देगा। शरीर के सम्बन्ध से आपका छोटा परिवार था, इन्द्रियों के सम्बन्ध से उससे आपका परिवार बड़ा हो गया, पति-पत्नी आदि भाव में बँधे हुए व्यक्ति का परिवार विस्तृत हो जाता है। मन के स्तर पर आते ही वह जाति मात्र से सम्बन्धित हो जाता है और बुद्धि के स्तर पर आने पर उसकी व्यापकता और बढ़ जाती है। इस स्तर पर पहुँच करके ही व्यक्ति में मानवधर्म का उदय होता है। यह मानवधर्म साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो आत्मधर्म है। लेकिन इस आत्मधर्म में वही अनुरक्त हो सकता है जो यथार्थतः मानवधर्म में प्रतिष्ठित हो गया हो। मनुष्य के शरीर में रहते हुए भी यदि व्यक्ति में दैवी गुणों के संपादन की चाह नहीं है, उसके संपादन में निरत नहीं है, तो उसके लिए शास्त्र कहता है—

ऐषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मा।
ते मर्त्यलोके भूविभारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

जिनमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म नहीं हैं, वे मर्त्यलोक में इस पृथ्वी पर भाररूप होकर मनुष्य रूप में पशु के समान ही विचरण करते हैं। शास्त्र में वर्णित इन दिव्य गुणों से जो युक्त हैं, वही मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं। जैसा कि मैंने अभी बताया है कि मानवधर्म हमारा इष्ट नहीं यह वेद का अन्तिम प्रतिपाद्य नहीं। हमारा इष्ट सत्यधर्म है, सनातनधर्म है। मानवधर्म में प्रतिष्ठित होने पर ही सत्यधर्म की साधना का प्रारंभ होता है, क्योंकि विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में ही मनुष्य सत् और असत् का यथार्थ बोध प्राप्त कर पाता है और इस बोध के उदय होने पर ही असत् से विरक्ति और सत् में अनुरक्ति का उदय होता है। सत्यनिष्ठ मानव को ही सत्यधर्मा कहा जाता है, वही उस परम सत्यरूपी परमेश्वर को प्रत्यक्ष देखने का अधिकारी होता है। उसी को गीता में भगवान् ने भक्त कहा है और घोषणा की है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।

(गीता 11/54)

"अनन्य भक्ति के द्वारा ही मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने, तत्त्व से जानने तथा एकात्म भाव को प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ।" यदि यहाँ पर मैं आप लोगों से यह कहूँ कि वैदिकधर्म मानवधर्म है और वेदान्तिक धर्म सत्यधर्म तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। गीता में जिसे प्रभु ने स्वधर्म कहा है यथार्थतः वही सत्यधर्म है। अपना स्व क्या है? इस पर विचार करने पर आप लोग इस सत्य को जान सकोगे। अपना स्व शरीर नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं।

अज्ञानतावश इनमें अहं भाव होने से ही इनको हम स्व मानते हैं और इनसे सम्बन्धित लोगों को स्वजन मानते हैं। यथार्थतः अपना स्व तो शरीर में वह चिदांश है जिसका सहज धर्म सत्-चित्-आनंद है। वही सत्य है, इसलिए उस सत्-चित्-आनंद रूप धर्म को ही सत्य धर्म कहा जाता है। यह जीव स्वभावतः उस सच्चिदानंद का ही उपासक है, इसलिए उसे सत्यधर्मा कहते हैं। जिस समय वह असत् से संबंध विच्छेदं कर सत्य के दर्शन के लिए आकुल हो जाता है, उस समय अपने जीवनाधार पोषणकर्त्ता पिता को पुकारते हुए कहता है-

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।
(ईशा० 15)

एक बात और यहाँ पर आप लोग समझ लें, सनातन धर्म मानता है कि यद्यपि व्यक्ति का स्व आत्मस्वरूप है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न स्तरों से ही हुआ करती है। जहाँ केवल चेतन है वहाँ किसी प्रकार की अस्मिता नहीं है, जहाँ अस्मिता नहीं है वहाँ प्रार्थना-उपासना आदि का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। प्रार्थना वा उपासना चित्तगतं चेतन के लिए ही बताई गई है। सम्पूर्ण शास्त्र और साधन साधक के लिए ही सार्थक होते हैं, सिद्ध के लिए नहीं। साधक किसी भी अवस्था में रहने वाला व्यक्ति हो सकता है। किसी का स्व शरीर में, किसी का स्व इन्द्रियों में, किसी का स्व मन में, किसी का अहं में और किसी का बुद्धि में जुड़ा हुआ हो सकता है। किसी भी अवस्था में जुड़े हुए स्व वाला व्यक्ति परमात्मा की उपासना, आराधना, प्रार्थना का अधिकारी है। विभिन्न स्तर पर स्व की स्थिति होने के नाते, उनकी उपासना के विभिन्न मार्ग भी हो सकते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान से ही उस परम सत्य की ओर प्रस्थान करता है। इसलिए सनातनधर्म सभी मनुष्यों के लिए एक ही मार्ग का निर्धारण नहीं करता। हमारे यहाँ जो भिन्न-२ प्रकार की उपासना पद्धतियाँ हैं, साधन पद्धतियाँ हैं, जो विभिन्न प्रकार के संप्रदाय हैं, वे विभिन्न स्तर की चेतना में रहने वाले व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर ही प्रतिष्ठित किये गये हैं। इसीलिए सनातन धर्म कभी यह नहीं कहता कि सभी प्रकार के मनुष्यों के लिए एक ही प्रकार की प्रार्थना वा उपासना की विधि निश्चित कर देनी चाहिए। दूसरे शब्दों में सनातनधर्म कोई रेडिमेड धर्म नहीं है, इसीलिए इसमें कोई एक प्रक्रिया निश्चित नहीं की गई है। मेरे विचार से सनातनधर्म विध्यात्मक नहीं विवेकात्मक है। अभिप्राय है कि किसी विधि विशेष को मानने वाला ही सनातनधर्मी नहीं। उस परम सत्य में आस्था रखते हुए, उसे जानने और प्राप्त करने का अभीप्सु ही सत्यधर्मा अथवा सनातनधर्मी है।

दुनिया के अन्य धर्मों में निश्चित उपासना की विधि विश्वास के आधार पर निर्धारित की गई है। जो उनको स्वीकार करते हैं, वही उस धर्म के अनुयायी हो सकते हैं। वहाँ विश्वास के संबंध में प्रश्न के लिए स्थान नहीं, उन मज़हबों में अकल की दखल के लिए स्थान नहीं किन्तु सनातन धर्म में ऐसा नहीं है। यहाँ जो मानव समाज का वर्गीकरण किया गया, उसका आधार स्व की स्थिति से रहा है। वेद में मानव समाज को पांच वर्गों में देखा गया है। योगदर्शन में वर्णित पांच प्रकार की बुद्धि प्रवृत्तियाँ ही मेरे विचार से मानव समाज के वर्गीकरण में हेतु रही हैं। बुद्धि प्रधान को ब्राह्मण, अहंस्थ को क्षत्रिय, मनस्थ को वैश्य, इन्द्रियस्थ को शूद्र और शरीरस्थ को निषाद कहा गया है। इन सभी के स्व की स्थिति के अनुसार ही उस सत्य तक पहुँचने का निर्देश दिया गया है और उसी संबंध में भगवान् ने कहा है—"स्वधर्मे निधनं श्रेय।" स्वधर्मानुष्ठान में जीवन का विसर्जन ही श्रेयस्कर हुआ करता है। इसी संबंध में भगवान् ने कहा है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(गीता 18/46)

जो व्यक्ति जिस किसी भी अवस्था में है, वहीं से अपने कर्मों द्वारा परमेश्वर की अर्चना करके परम सिद्धि रूपी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इससे आप लोग समझ गये होंगे कि सनातन धर्म में किसी भी अवस्था में रहने वाले, किसी भी वर्ग में रहने वाले के लिए मोक्ष का द्वार खुला है। शर्त केवल इतनी है कि वह जहाँ है, जिस स्थिति में है, अपने संपूर्ण कर्मों को परमात्मा की पूजा में समर्पित कर दे अथवा समस्त कर्मों को परमात्मा की पूजा के रूप में ही करता रहे। मेरे विचार से व्यक्ति अपने स्व के अनुसार ही प्राप्त हुए कर्म को कुशलता के साथ पूर्ण कर सकता है और कुशलता के साथ पूर्ण किया हुआ कर्म ही प्रभु की पूजा में समर्पित करने योग्य होता है। वही मोक्ष रूपी सिद्धि में श्रेष्ठतम साधन बनता है। अपने स्व की अपेक्षा किसी अन्य के स्वधर्म को श्रेष्ठ मानना, उसके अनुष्ठान में प्रवृत्त होना सर्वथा अहितकर ही होता है। इसलिए सावधान होकर जहाँ पर आप हैं वहीं से अपनी यात्रा प्रारम्भ कीजिए, वहीं से आप सत्य की ओर मुड़ जाइये। आप देखेंगे कि सत्य आपके समक्ष है किन्तु उसका मुख स्वर्णमय पात्र से ढका हुआ है। वहीं से आप अपने प्रभु को पुकारिये। आपको अधिकार है अपने परम सुहृदय पिता से याचना करने का कि वह उस आवरण को दूर कर आपको उस सत्य का दर्शन करा दे। भगवान् ने इस बात को गीता में स्पष्ट रूप से कहा है कि जो जहाँ है, जिस अवस्था में है, वहीं से मुझे प्राप्त कर सकता है। परमात्मा की दृष्टि में वर्गभेद नहीं, आवरण-भेद नहीं, स्तरभेद नहीं, ये सारे भेद

अज्ञानतावश जीव की दृष्टि में हैं। यह याद रहे कि श्रुति का यह उपदेश साधक के लिए है और साधक वही है जो स्वयं को उस परम सत्य से अभिन्न अनुभव करते हुए परम सत्य को प्राप्त करने की लालसा रखता है। वह पंच कोषों में से किसी भी कोष में स्थित हो अपनी दृष्टि से भले ही प्रभु से स्वयं को दूर देख रहा हो, मान रहा हो, किन्तु प्रभु की दृष्टि से वह ओझल नहीं, दूर नहीं। वह किसी भी अवस्था में रहते हुए अमृत पुत्र है, परमात्मा की प्रिय संतान है। इसलिए वह विनीतभाव से अपने पिता से प्रार्थना करने, याचना करने का पूर्ण अधिकारी है। जो लोग परमात्मा से प्राकृत पदार्थों की याचना करते हैं, अपने दु:ख निवृत्ति की याचना करते हैं, प्रभु की दृष्टि में तो वे भी प्रभु के भक्त हैं, वे भी उदार और सुकृति हैं, वे भी प्रभु के प्रिय हैं, क्योंकि उन्हें यह विश्वास है, उनकी यह आस्था है कि उनका सर्वसमर्थ पिता उन्हें सब कुछ दे देगा, उनकी माँग पूर्ण कर देगा। अन्तर इतना ही है कि वे सत्य के दर्शनाभिलाषी नहीं, इसलिए वे सत्यधर्मा नहीं कहे जा सकते। परमेश्वर से परमेश्वर को चाहने वाला ही सत्यधर्मा है और इसे भगवान् ने ज्ञानी भक्त कहकर संबोधित किया है, उसे अपना ही स्वरूप बताया है। ईशोपनिषद् के इस 15वें मंत्र का प्रार्थी भी वही ज्ञानी भक्त है क्योंकि इससे पूर्व के मंत्रों में उसे असत् की उपासना और अहं में अनुरक्ति से विमुक्त कर, दोनों के सहित उस परमात्मा के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने का उपदेश किया गया है। उसी के लिए इस मंत्र में माया के आवरण को हटा कर उस परम सत्य के दर्शन के लिए प्रभु से प्रार्थना का विधान बताया गया है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

(ईशा० 15)

आज आप लोगों को बहुत सी बातें समझाई गई हैं। प्रसंगानुसार कई ऐसे विषयों का भी स्पष्टीकरण किया गया है, जिनका सीधा सम्बन्ध इस मंत्र से नहीं रहा, फिर भी वे बातें आप सभी के लिए परमोपयोगी एंव हितकर होंगी। यदि आप आग्रह रहित हो इन बातों पर विचार करेंगे, इनके पीछे निहित मेरी भावनाओं को समझेंगे तो आप अपने लिए, अपने समाज के लिए, अपने धर्म के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। इन्हीं शब्दों के साथ आप सबके लिए मंगल कामना करते हुए अपने विचारों को यहीं विश्राम देता हूँ।

हरि ॐ तत्सत्
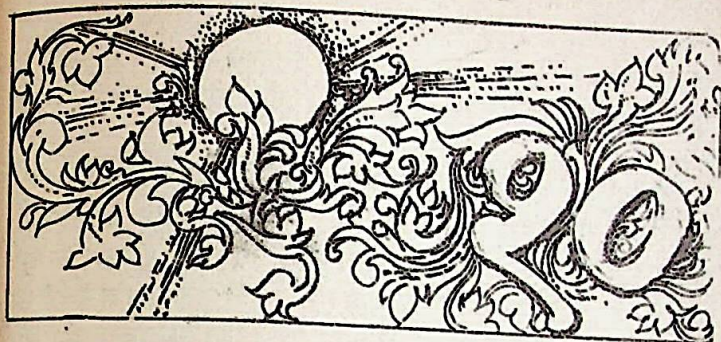
परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ !

करुणानिधान भगवान् की करुणा आप सभी के लिए सदैव कल्याण का सृजन करे, यही मेरी आन्तरिक शुभ कामना है। कल आप लोगों को ईशोपनिषद् के 15वें मंत्र की व्याख्या सुनाई गई थी। दो दिनों से इस प्रार्थनामय मन्त्र पर विचार सुन रहे हैं। प्रार्थना ही भक्ति का श्रेष्ठतम स्वरूप है। भक्ति के द्वारा ही भगवान् के यथार्थ स्वरूप को जाना और प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कल आप लोगों को बहुत सी बातें समझाई गई हैं। जो लोग प्रार्थनामय भक्ति का मार्ग त्याग कर केवल अपनी साधना के सहारे उस परम तत्त्व का यथार्थ बोध प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे लोगों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी लिखते हैं–

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं।।
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी।।

(7/115/1,2)

जो इस प्रकार भक्ति की महिमा को जान कर भी उससे विमुख हो केवल ज्ञान को प्राप्त करने के लिए श्रमपूर्ण साधनों का सहारा लेते हैं, वे जड़मति अपने गृह में विराजित कामधेनु को त्याग कर दूध की लालसा से आक के पौधे को ढूँढ़ते फिरते हैं। आक को मंदार कहते हैं। मंदार के पत्ते को तोड़ने से दूध निकलता है, वह दूध नेत्र का नाशक होता है। छान्दोग्योपनिषद् में गुरु भक्त उपमन्यु की कथा प्रसिद्ध है। वह गुरु के निषेध करने पर गऊओं का दूध पीना बन्द कर देता है, फिर बछड़ों के दूध पीते समय मुँह से निकलने वाली झाग पीना भी बन्द कर देता है। फिर वह आक का दूध पी लेता है जिससे उसकी दोनों आँखें नष्ट हो जाती हैं और वह अन्धा होकर कुएँ में गिर जाता है। गुरुकृपा से पुनः उसे आँखें उपलब्ध हो जाती हैं। मैं आप लोगों को बता रहा था कि आक का दूध

दृष्टिनाशक होता है। गोस्वामी जी ने यहाँ पर भक्तिहीन ज्ञान को आक के दूध के समान अन्तर्दृष्टि नाशक बताया है। भक्ति भगवती कामधेनु है, उसका दूध केवल ज्ञानवर्द्धक ही नहीं होता, साधक को अमृतत्त्व भी प्रदान कर देता है। ईशोपनिषद् की श्रुति भक्तियुक्त प्रार्थना से ही सत्य का साक्षात्कार करने का विधान करती है।

कठोपनिषद् में भी नचिकेता को आत्मतत्त्व का उपदेश देते हुए यमराज ने परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन का उपाय प्रभुकृपा ही बताया है। यम और नचिकेता का संवाद वैदिक साहित्य की एक अमूल्य निधि है। वह पिता के वचन को सत्य करने के लिए मृत्युदेव के द्वार पर पहुँच जाता है, उनकी अनुपस्थिति में वहीं बैठ कर तीन दिन तक उनकी प्रतीक्षा करता है। तीसरे दिन यमराज आते हैं और उसे देखते हैं, वहाँ पर उसके उपस्थित होने का कारण जान अपने अतिथि को तीन दिन तक अपनी प्रतीक्षा में द्वार पर बैठे हुए जानकर यमराज उसे तीन वरदान मांगने का वचन देते हैं। कठोपनिषद् में इस कथा का बड़े रोचक रूप में वर्णन प्राप्त होता है। यमराज नचिकेता को अपना अतिथि मानते हैं। अतिथि शब्द का अर्थ होता है जिसके आने की कोई निश्चित तिथि न हो। यमराज के पास जो भी जाता है, उसके वहाँ जाने की तिथि निश्चित है। वह अपनी आयु को पूर्ण करने पर निश्चित तिथि पर वहाँ जाता है। यमराज उसे अपने कर्मानुसार दण्ड वा पुरस्कार देते हैं। यमराज ही धर्मराज हैं। जैसे एक कुशल न्यायाधीश अपराधी को दण्ड और निरपराधी को मुक्ति प्रदान करता है। वह अपराधी के लिए यमराज और निरपराधी के लिए धर्मराज होता है। उसी रूप से परमेश्वर के दिव्य विधान में उसी की अचिन्त्य शक्ति विभिन्न रूपों में इस सृष्टि व्यवस्था को व्यवस्थित वा संचालित किया करती है। प्रभु की अनन्त शक्तियों में जो जीवों के कर्मानुसार फलप्रदायिनी शक्ति है, उसे यमराज वा धर्मराज कहते हैं। अपने प्रारब्ध को पूर्ण कर शरीर त्यागने के पश्चात् प्रत्येक जीव उनके समक्ष उपस्थित हो, अपने कर्मानुसार दण्ड वा पुरस्कार प्राप्त करता है जिसे पौराणिक भाषा में नरक और स्वर्ग कहते हैं। नचिकेता अपने प्रारब्ध को पूर्ण कर निश्चित तिथि पर उनके समक्ष नहीं आया। पिता की आज्ञा पालन करने तथा उनके वचनों को सत्य करने के लिए मृत्युदेव के पास आया है इसलिए मृत्युदेव उसे अपना अतिथि कहकर संबोधित करते हैं और उसकी धर्मनिष्ठा देख उसे तीन वरदान देने की प्रतिज्ञा करते हैं। नचिकेता प्रथम वरदान में अपने पिता की प्रसन्नता मांगता है। उनके लिए शांति और संतुष्टि की कामना करता है और साथ ही यह भी मांगता है कि जब मैं यहाँ से लौट कर

जाऊँ, तो वह मुझे पुनः पहचान लें और पूर्ववत् मुझे अपना स्नेह प्रदान करें। दूसरे वर में नचिकेता स्वर्गप्रदायिनी अग्निविद्या को जानने की चाह प्रकट करता है। अग्निविद्या वह विद्या है, जिसके द्वारा व्यक्ति वृद्धावस्था और मृत्यु के भय से विमुक्त हो देवत्व को, अमृतत्त्व को प्राप्त हो जाता है। मेरे विचार से नचिकेता द्वारा दूसरे वर में मांगी गई अग्निविद्या योगविद्या है, क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगविद्या के द्वारा ही जरा-मृत्यु रहित दिव्य जीवन को प्राप्त करने का वर्णन है। यहाँ पर यह भी याद रखना है कि कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद कठशाखा के अंतर्गत है और श्वेताश्वतरोपनिषद् उसी कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा का भाग है। उपनिषदों के अर्थ का चिन्तन करते समय, इनके रहस्य को जानने के लिए, इनकी भाषा और भाव को समझने के लिए, इनके आपस के संबंधों की जानकारी भी आवश्यक है।

तीसरे वर में नचिकेता मृत्युदेव से आत्मा के रहस्य को जानने की प्रार्थना करता है। वह कहता है कि कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं रहता और कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के बाद आत्मा शेष रह जाती है। वह अपने कर्मानुसार परिणाम को प्राप्त होती है। आप मृत्यु के देवता हैं, इसलिए आपसे इस विषय में अधिक जानने वाला कोई अन्य नहीं हो सकता। तीसरे वर के रूप में मेरी यही चाह है कि आपके उपदेश द्वारा मैं इस रहस्य को भली-भाँति समझ लूँ। तीसरे वर के रूप में आप उस आत्मा के रहस्य को समझाने की कृपा करें। नचिकेता द्वारा आत्म-विषय की जिज्ञासा सुन कर यमराज ने उसकी परीक्षा के लिए उसे विविध प्रकार के भय और प्रलोभन दिखाये। उन्होंने कहा कि इस गूढ़ रहस्य को समझने में देवता भी असमर्थ रहे हैं। यह आत्मधर्म बड़ा ही सूक्ष्म है और यह सुगमता से समझ में आने वाला नहीं है, इसलिए इसके बदले में तुम कोई दूसरा वर मांग लो। आत्मतत्त्व की दुरूहता का वर्णन करने के पश्चात् उसे प्रलोभन देते हुए कहते हैं–

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि।।

(कठ० 1/1/24)

"हे नचिकेता! अमित धन-सम्पत्ति, अनन्त काल तक जीने के साधनों को यदि तुम आत्मज्ञान विषयक वरदान के तुल्य वर मांगते हो तो मांग लो। तुम इस पृथ्वीलोक में, विशाल भूमि के सम्राट बन जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण भोगों से अत्युत्तम भागों को भोगने वाला बना देता हूँ, किन्तु तुम इस आत्मज्ञान

सम्बन्धी वर को छोड़ दो। इतना ही नहीं यमराज कहते हैं–जो-२ भोग मर्त्यलोक में दुर्लभ हैं, उन सब भोगों को इच्छानसार मांग लो, यह रथ विविध प्रकार के वाद्यों सहित, जो स्वर्ग की अपसरायें हैं, इन सबको तुम ले सकते हो। ऐसी रमणियाँ मनुष्य लोक में नहीं मिल सकती। मेरे द्वारा दी हुई इन रमणियों से अपनी सेवा कराओ, किन्तु हे नचिकेता ! मरने के बाद आत्मा का क्या होता है, इस प्रश्न को मत पूछो।" यमराज के द्वारा दिये गये समस्त प्रलोभनों को अस्वीकार करते हुए नचिकेता ने एक परम सत्य की घोषणा करते हुए कहा–"**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो।**" (कठ० 1/1/27) यह एक अटल सत्य है कि मनुष्य कभी धन से तृप्त नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही जिन अन्य वस्तुओं को आप देना चाहते हैं, वे तो आपके कृपाप्रसाद से सहज ही प्राप्त हो जायेंगी। यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणधर्मा है। इस तथ्य को अच्छी प्रकार जानने वाला मृत्युलोक का निवासी कौन ऐसा मनुष्य है, जो जरा और मृत्यु रहित आप ऐसे महापुरुष का सान्निध्य पाकर भी सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद का चिन्तन करता हुआ, बहुत काल तक जीवित रहने में सुख मानेगा। हे मृत्युदेव ! महान् आश्चर्यमय वह आत्मज्ञान जिसके विषय में अस्ति और नास्ति, है और नहीं है, इस प्रकार से चर्चा चलती रहती है, आपकी दृष्टि में जो वरदान अत्यन्त गूढ़तम है, उसके अतिरिक्त नचिकेता किसी अन्य वर को नहीं मांग सकता। यमराज ने नचिकेता को इच्छानुसार दुनिया के समस्त वैभव, पुत्र-पौत्रों सहित भूमण्डल का सम्पूर्ण साम्राज्य, इसके साथ ही स्वर्ग की अपसरायें आदि समस्त सुख सामग्रियों का प्रलोभन दिया, किन्तु वह धीरमति जिज्ञासु अपनी आत्म-जिज्ञासा की पूर्ति के अतिरिक्त और कुछ भी लेना स्वीकार नहीं किया। यमराज नचिकेता में पूर्ण जिज्ञासु के लक्षण और ब्रह्मविद्या की पात्रता को देख आनन्द-मग्न हो जाते हैं। उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।

(कठ० 1/2/2)

श्रेय और प्रेय, दोनों ही मनुष्य के पास आते हैं। धीर पुरुष इन दोनों का भली प्रकार परीक्षण करता है और पृथक्करण करता है, उन्हें अलग–२ रूपों में जांचता है, निरखता है। बुद्धिमान व्यक्ति उनमें से श्रेय का वरण करता है और जो मन्दबुद्धि के लोग हैं, वे योगक्षेम के लिए प्रेय को ही स्वीकार कर लेते हैं। बुद्धिहीन लोगों को प्रेय द्वारा योगक्षेम की पूर्ति दिखाई देती है। संसार की वस्तुओं

के बिना वे अपने को अपूर्ण मानते हैं, इसलिए वे उन्हीं का आश्रय लेते हैं। विवेकशील व्यक्ति यह जानता है कि प्रकृति का प्रयोजन ही पुरुष को भोग और मोक्ष प्रदान करना है। इसलिए वह भोगमय पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, वह श्रेय की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। यमराज ने इन शब्दों में नचिकेता की प्रशंसा की है, इतना ही नहीं उसकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। आगे एक मंत्र में कहा है—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमंमहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।।

(कठ० 1/2/11)

"हे नचिकेता ! जिसमें सब प्रकार के भोग मिल सकते हैं, जो जगत् की प्रतिष्ठा है, उपासना का अनन्त फल है, निर्भयता की सीमा है, स्तुति करने योग्य महत्त्वपूर्ण है, जो विस्तृत हैं, जो अच्छा गति वा स्थिति है, शास्त्र जिसकी महिमा का गान करते हैं, ऐसे स्वर्ग लोक के सुख को देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक उसका त्याग कर दिया। मैं समझता हूँ कि तुम यथार्थतः धीर पुरुष हो।"

इस प्रसंग से मैं आप लोगों को केवल इतना ही बताना चाहता हूँ कि नचिकेता की तरह जो उपलब्ध हुए भूलोक के समग्र वैभव तथा स्वर्ग लोक के भी सम्पूर्ण सुख साधनों का त्याग कर देता है, वही सत्यधर्मा कहा जाता है। वही परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने और देखने का अधिकारी होता है। यमराज नचिकेता के प्रसंग से यह भी ज्ञात होता है कि उत्तम अधिकारी शिष्य को प्राप्त कर उसके न पूछने पर भी तत्त्वद्रष्टा गुरु द्रवित हो उसे श्रेष्ठतम तत्त्व बोध प्रदान करने के लिये विवश हो जाता है। नचिकेता ने यद्यपि मृत्यु के पश्चात् परमात्मा की अस्ति और नास्ति के विषय में ही उपदेश करने का वर मांगा है, किन्तु आत्मा और अनात्मा से परे, दोनों का परमाश्रय उस परात्पर तत्त्व परमेश्वर का संकेत करते हुए यमराज ने उससे कहा—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।

(कठ० 1/ 2/12)

"जो बहुत ही कठिनाई से देखा जा सकता है, ऐसे गूढ़ स्थान में प्रविष्ट हुआ, छिपा हुआ, हृदयरूपी गुहा में स्थित, इस संसाररूपी गहन वन में रहने वाला, सनातन आत्मा को अध्यात्मयोग द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक को त्याग देता है। यहाँ पर हृदय-गुहा में स्थित जिस आत्म-तत्त्व का निर्देश किया गया है, वह जीवात्मा नहीं, परमात्मा है, क्योंकि आगे के मंत्रों में उसी की महिमा का

वर्णन है और उसे जानकर आनन्द की प्राप्ति का उपदेश किया गया है। गुरु की उदारता को देख शिष्य के हृदय में उस परम-तत्त्व को जानने की उत्कंठा हो जाती है। वह गुरु से उस परम तत्त्व के विषय में उपदेश करने की प्रार्थना करते हुए कहता है—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।।

(कठ० 1/2/14)

"हे भगवन् ! जिस तत् पदार्थ को अर्थात् परमेश्वर को धर्म से अन्य, अधर्म से भी अन्य तथा कृत और अकृत अर्थात् कार्य-कारण संपूर्ण जगत् से भी अन्य और भूत, वर्तमान एवं भविष्य, तीनों कालों से तथा इनसे संबंधित विश्व प्रपंच से भी अन्य आप देखते हैं, जानते हैं, उस परमेश्वर के विषय में मुझे बताइये।" इस मंत्र में "यत् तत् पश्यसि तद् वद" यह वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है। शिष्य की अभिलाषा है, जिस गूढ़तम परम रहस्यमय तत्त्व को गुरु सदैव साक्षात्कार कर रहा है, उस परम तत्त्व के विषय में ही हमें उपदेश करें। कठोपनिषद् का यह प्रसंग बड़ा ही गंभीर एवं मनोहर है। इस प्रसंग को यहाँ पर सुनाने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि आप लोग सत्यधर्मा के यथार्थ स्वरूप को समझ लें। नचिकेता सत्यधर्मा है, वह उस परम तत्त्व को जानने का, प्रयत्न करने का परम अधिकारी है। इसलिए उसे परम-तत्त्व को प्रत्यक्ष करने का रहस्य बताते हुए यमराज कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।।

(कठ० 1/2/22)

"यह परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से प्राप्त हो सकता है। जिसको यह वरण कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह परमात्मा उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।" इस मंत्र में परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रवचन, श्रवण तथा मेधा आदि साधनों को निरर्थक बताया गया है। इनके द्वारा ज्ञान की उपलब्धि होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है, परमात्मा की नहीं। कोई मेधावी व्यक्ति बहुश्रुत हो सकता है, मंत्रवित हो सकता है, प्रवचनकर्त्ता कुशल व्याख्याता हो सकता है, किन्तु इन साधनों से वह सत्यद्रष्टा नहीं हो सकता। परमात्मा के दर्शन का अधिकारी केवल वही हो सकता है जिसको वह वरण कर ले।

यहाँ एक शंका होती है कि जब सारे ही जीव परमात्मा के ही अंश हैं, उनमें

भी मनुष्य परमात्मा की श्रेष्ठतम संतान है, तो वह सभी को स्वीकार क्यों नहीं कर लेता? वह सभी के समक्ष अपने स्वरूप को क्यों नहीं प्रकट कर देता? इसका उत्तर ईशोपनिषद् की श्रुति ने पहले ही दिया है। प्रभु के दर्शन की पात्रता केवल सत्यधर्मा में ही हुआ करती है। जो तन, मन, वचन से प्रभु को ही वरण किये हुए हैं, प्रभु के ही आश्रित हैं, उन्हीं को प्रभु भी वरण कर लेते हैं। गीता में प्रभु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता 4/11)

"जो जिस प्रकार से जैसी भावना लेकर मेरी शरण में आता है, उसको मैं भी उसी भाव से भजता हूँ।" अभिप्राय यह है कि जो जिस प्रकार की भावना लेकर प्रभु के पास जाता है, प्रभु उसके भावानुसार उसी प्रकार की उसकी पूर्ति करते हैं। जो संसार के भोगों की कामना लेकर प्रभु की शरण में आते हैं, प्रभु उनकी कामना पूर्ण कर उन्हें उसी में संतुष्ट कर देते हैं। आप लोग जानते हैं कि बालक जब रुदन करने लगता है तो माँ उसके रुदन को सुन कर दौड़ी आती है। वह बच्चे को चुप कराने के लिए कई प्रकार के मिष्ठान वा खिलौने प्रदान करती है। यदि बच्चा उनसे संतुष्ट हो जाता है, खेलने में लग जाता है तो उसे वह गोद में नहीं उठाती और यदि वह बालक किसी भी प्रकार के साधनों से संतुष्ट न हो, माँ की गोद के लिए ही अपने बल का प्रयोग करता रहता है, वह माँ के दिये हुए मिष्ठान वा झुनझुनों को, खिलौनों को फैंक देता है। "बालानाम् रोदनं बलम्।" बालकों का रोना ही बल है, अभिप्राय कि बालक यदि रोता ही जाता है तो माँ उसे गोद में उठा कर हृदय से लगा लेती है। इसी प्रकार से यह जीव जब तक दुनिया के पद-पदार्थ रूपी खिलौनों में रुचि रखता है, तब तक वह ईश्वर की गोद में विश्राम पाने का अधिकारी नहीं होता। साधना में लगे हुए व्यक्ति के समक्ष जो अनेक प्रकार की सिद्धियां उपस्थित हो जाती हैं, इन्हें भी आप लोग खिलौने ही समझिये। जो साधक इन सिद्धि रूप खिलौनों से खेलने लगता है, वह प्रभु को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। प्रभु किसे वरण करते हैं? इस विषय में उन्होंने स्वयं दसवें अध्याय में कहा है–

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

(गीता 10/10)

"उन निरन्तर मेरे से युक्त हुए प्रेम पूर्वक भजन करने वाले भक्तों को मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिससे वे मेरे को ही प्राप्त होते है।" यहाँ पर निरन्तर प्रभु से युक्त हो प्रीतिपूर्वक प्रभु की सेवा में जो निरत हैं, वे ही प्रभु के

अनुग्रह के भाजन बनते हैं। प्रभु उन्हीं को वह बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिससे वे प्रभु के साथ अभिन्नता को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु जो लोग इस प्रकार से प्रभु से प्रभु को पाने की प्रार्थना न कर, दुनिया के अन्य किसी भी प्रकार के पद-पदार्थ की आकांक्षा करते हैं, ऋद्धि-सिद्धि की आकांक्षा करते हैं, वे प्रभु से बहुत दूर हो जाते हैं। ये अनेक प्रकार की सिद्धियां साधक को व्यामोहित कर उसे ऐसी अवस्था में ले जाकर गिरा देती हैं, जहाँ से उसका निकलना कठिन हो जाता है। बड़ी मुश्किल से ही उनकी मोहकता से मुक्त हो पाता है, यह मेरा निजि अनुभव है। इसलिए मैं साधकों को इस सम्बन्ध में सावधान कर रहा हूँ। साधक को सदैव सत्यधर्मा होना चाहिये, तभी प्रभु उसके ऊपर अनुग्रह कर अपनी माया के आवरण को दूर कर देते हैं और स्वयं के स्वरूप को उसके सामने प्रकट कर देते हैं, उसे प्राप्त करा देते हैं। यही सत्य की घोषणा कठोपनिषद् की यह श्रुति कर रही है–

यमेवैष वृणते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।

(कठ० 1/2/22)

इतनी विवेचना से आप लोग समझ गये होंगे कि परमात्मा जिसे स्वीकार करता है, उसी को प्राप्त होता है, उसी के लिए अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। वह उन्हीं को स्वीकार करता है जो सर्वभाव से उस को ही स्वीकार करते हैं। जो सत्यधर्मा हैं, वह उन्हीं के समक्ष अपने आपको प्रकट करता है। आप लोग जानते हैं कि दुनिया में आस्तिकों की संख्या कम नहीं है। सभी आस्तिक प्रभु से प्रार्थना करते हैं किन्तु प्रभु को पाने के लिए नहीं, प्रभु को देखने के लिए नहीं बल्कि उन पदार्थों को पाने के लिए जो कभी भी उनके अपने होने वाले नहीं हैं। आप लोग विचार करके देखें, जिन चीज़ों के लिए आप प्रभु से प्रार्थना करते हैं, वे तो उनको भी प्राप्त हैं, जो प्रभु में विश्वास नहीं करते। नास्तिक भी धनवान होता है, उच्च पदाधिकारी होता है, पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न होता है। जो वस्तुएँ प्रारब्ध वा परिश्रम से प्राप्त होने वाली हैं, उनके लिए प्रभु से प्रार्थना करना कितनी औछी बात है। यह सृष्टि प्रवाह रूप से नित्य है, इस सृष्टि प्रवाह में अनेकों बार जन्में हैं और अनेकों बार मरे हैं। जितनी बार जन्में हैं, उतनी बार माता-पिता, भाई-बन्धु, पति-पत्नी तथा सन्तानादि होते रहे हैं। कितनों के हम पिता बने हैं, माता बने हैं और कितने हमारे माता-पिता बने हैं। भला, सोचियें तो, जो सृष्टि के प्रवाह में सहज ही प्राप्त होने वाला है, उसके लिए प्रभु से क्या प्रार्थना करनी है, किन्तु हमारी आदत बन गई है, अनेकों जन्मों से यही करते आ रहे हैं। संसार

और उसके सम्बन्धी ही हमें सत्य प्रतीत होते हैं और उन्हीं के लिए हम प्रभु से याचना करते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं–

अरब खरब लौं द्रव्य हो उदय अस्त हो राज।
तुलसी जो निज मरण है तो आवे केहि काज।।

दुनिया का वैभव भरा हुआ हो, यदि मृत्यु सामने आ जाये तो यह सब किस काम का ! और यह कोई नहीं कह सकता कि मृत्यु कब आ जायेगी। कबीर कहते हैं–

हम देखत जग जात है जग देखत हम जात।
अपुआं ठढ़े राह में औरन को पछतात।।

कितना बड़ा आश्चर्य है यह, हम देखते हैं कि जगत् के लोग मृत्यु की तरफ जा रहे हैं और जगत् देखता है हम मृत्यु की ओर जा रहे हैं। मृत्यु के रास्ते पर खड़े हुए उनके लिए पश्चाताप कर रहे हैं जिनकी मृत्यु वा जिनका अन्त हो गया है। यह याद रहे, जितने प्रियजन हैं उनका वियोग एक दिन अवश्य होना है। उनमें से कुछ हमें छोड़ कर चले जायेंगे और कुछ को हम छोड़ कर चले जायेंगे। सृष्टि का यही अटल सत्य है, इसको कोई बदल नहीं सकता। फिर भी यह मनुष्य कितना भोला है कि यह सब कुछ देखते, जानते हुए भी उन्हीं में उलझा रहता है, उन्हीं असत् प्रदार्थों के लिए प्रभु से प्रार्थना करता रहता है।

ईशोपनिषद् का यह पन्द्रहवां मन्त्र इसी का हमें अवबोधन कराते हुए कह रहा है कि यह संसार का स्वरूप बड़ा ही सुनहरा है, इसी के द्वारा सत्य का मुख ढका हुआ है। उस कारुणीक पिता से प्रार्थना करो, वही अपनी कृपा से इस सुनहरे आवरण को दूर कर अपने सत्य-स्वरूप का दर्शन करा सकेगा। इसके लिए शर्त केवल इतनी है कि हमें सत्यधर्मा बनना होगा। सत्-असत् का बोध प्राप्त कर हमें असत् का त्याग और सत् में अनुरक्त होना होगा। जिसकी नित्य सत्ता है वही सत्य है, जिसकी नित्य सत्ता नहीं है वह असत् है। संक्षेप में सत् और असत् का यही स्वरूप है। सत्य में पूर्ण आस्था, निष्ठा, अनन्य भाव से उसका नित्य स्मरण करते हुए उसे प्रत्यक्ष करने की प्रभु से प्रार्थना, यही उसके दर्शन का सुलभ मार्ग है। प्रभु ने स्वयं गीता में सुलभ मार्ग का उपदेश किया है–

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (गीता 8/14)

इस सुलभ मार्ग में प्रभु की केवल एक ही शर्त है, वह है अनन्यचेता होना। अनन्यचेता का अर्थ होता है, प्रभु के अतिरिक्त किसी अन्य का आश्रय ग्रहण न

करना। महात्मा नारद कहते हैं—"अन्याश्रयाणां त्यागो अनन्यता।" अन्य सभी आश्रयों का त्याग ही अनन्यता है। ईमानदारी के साथ हम स्वयं को देख सकते हैं, जान सकते हैं कि हमारा कोई अन्य भी आश्रय है वा नहीं। यह याद रहे, दुनिया के सभी आश्रयों का त्याग तो करना ही होगा, चाहे आज कर दें वा कुछ दिन बाद कर दें। जब तक संसार का, परिवार का, शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का आश्रय है, तब तक प्रभु में अनन्यता नहीं। अनन्य भाव के बिना सारी उपासना, प्रार्थना निरर्थक है। प्रभु कहते हैं, जो अनन्य भाव से नित्यशः मेरा स्मरण करता हुआ, मेरे से सदैव युक्त है, उस योगी के लिए मैं सर्वथा सुलभ हूँ। कितना सुगम सा यह मार्ग है, इसमें कोई भी ऐसी शर्त नहीं जो पराश्रित हो, जिसको एक सामान्य स्थिति वाला मानव भी पूर्ण न कर सकता हो। वेदज्ञान कृच्छ चान्दरायण आदि व्रत, तप, यज्ञादि के अनुष्ठान, ये सभी कुछ सभी के लिए करना सुगम नहीं। प्रभु की प्राप्ति में इन दुर्गम साधनों का कोई स्थान नहीं है। प्रभु स्वयं कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।

(गीता 11/53)

"मैं वेद से, तप से, दान से, यज्ञ से, इस प्रकार से देखने में शक्य नहीं, जिस प्रकार से तुमने मेरे इस विराट स्वरूप को देखा है।" इस स्वरूप का दर्शन तो केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही किया जा सकता है और अनन्यता ही एक मात्र उपाय है। किसी भी देश, काल, परिस्थिति में रहने वाला मानव सुगमता से इस उपाय को अपना सकता है। यह साधन सर्वथा स्वतन्त्र है, स्वाश्रित है। प्रभु श्री राम लक्ष्मण को समझाते हुए कहते हैं—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।।
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना।।

(3/16/2,3)

अनन्य भाव से प्रभु का होकर अपनी निर्बलता और प्रभु की सर्वसमर्थता का अनुभव करते हुए आर्त्त भाव से प्रभु से प्रार्थना ही भक्ति का स्वरूप है। इसके सिवाय उसे जानने, देखने और पाने के लिए जीव के पास अन्य कोई भी उपाय नहीं है। इसी का निर्देश करते हुए श्रुति कहती है—

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। (ईशा० 15)

इस भक्ति युक्त प्रार्थना की अपेक्षा योगादि साधनों से प्राप्त हुआ ज्ञान मनुष्यों के अज्ञानजन्य मोह-भ्रमादि को दूर करने में तो सक्षम होता है, किन्तु उससे माया

का सुनहरा आवरण दूर नहीं हो पाता। इसे एक बार फिर आप लोग सावधानी से समझ लें।

प्रभु की माया बड़ी प्रबल, दुस्तर और विशाल है। वह प्रभु को भी अपनी विशालता से आवृत्त कर सदैव योगनिद्रा में निमग्न रखती है। दुर्गासप्तशती में उसकी महिमा का गान करते हुए भगवान् ब्रह्मदेव कहते हैं–

यथा त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत्।
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः।।

(रात्रिसूक्त 12)

"जो इस अनन्त जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन परमेश्वर को भी जब तुमने निद्रा के आधीन कर दिया है, तो हे मातेश्वरी ! तुम्हारी स्तुति करने में यहाँ कौन समर्थ हो सकता है?" उस माया के विशाल रूप को समझिये, जो इस अनन्त ब्रह्माण्ड की कारणभूता है। जिस पृथ्वी पर आप रहते हैं, वह पृथ्वी प्रकाशपुंज सूर्य का एक अंश है। एक वृहद् अंड टूटता है, उसका निचला भाग पृथ्वी रूप में परिवर्तित हो जाता है और ऊपर का भाग द्यौ रूप में। द्यौ को ही सूर्य कहते हैं। पृथ्वी की आकर्षण की सीमा जहाँ समाप्त होती है, उससे परे और सूर्य के आकर्षण की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है उससे पूर्व, यह मध्य का जो भाग है उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। उस अंड के टुकड़े जो अन्तरिक्ष में बिखर गये, वे ही ग्रह और उपग्रह के नाम से जाने जाते हैं। इन सभी की स्थिति का आधार होने से यह सूर्य ही इस अंड से उत्पन्न हुए अन्य ग्रहों, उपग्रहों का अधिपति है। इस सौर्य परिवार का इतना विस्तार है कि उसके एक अंश का भी मनुष्य पूर्णतयः ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। उसे तो जिस पृथ्वी पर वह रहता है, उसी की जानकारी नहीं है। पृथ्वी तो दूर की बात, जिस शरीर में रहता है, उस शरीर का भी उसे यथार्थ बोध नहीं है, फिर सौर्यमण्डल की तो बात ही क्या। वह माया सौर्यमण्डल तक ही सीमित नहीं।यह सौर्यमण्डल जिस ब्रह्माण्ड का एक अंश है, ज्योतिर्विज्ञान के ज्ञाता उसे इस सूर्य के समान 42 अरब सूर्यों का समूह बताते हैं। इंगिलश में उसे नेबुला कहते हैं। ऐसे अनन्त ब्रह्माण्डों के समूह से निहारिकाओं का निर्माण होता है, जिसे आकाश गंगा कहते हैं। उसमें अनन्त ब्रह्माण्ड समाहित हैं, अंग्रेजी में उन्हें ग्लेक्सी कहते हैं। इस प्रकार विचार करने से यह ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का कहीं अन्त नहीं। इस अनन्त सृष्टि का वह महामाया क्षणमात्र में निर्माण कर देती है। गोस्वामी जी लिखते हैं–

लव निमेष मय भुवन निकाया। रचहिं जासु अनुसासन माया।।

यह अनन्त ब्रह्माण्ड उस माया में उसी प्रकार से स्थित हैं, जिस प्रकार से एक विशाल गूलर के वृक्ष में गूलर के अनेकों गुंच्छे स्थित होते हैं। इन ब्रह्माण्डों में रहने वाले जीवों की वही स्थिति है, जो गूलर में रहने वाले जन्तुओं की होती है। मानस में भगवान् श्रीराम की महिमा का गान करते हुए महर्षि अगस्त्य कहते हैं—

ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया।
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना।।

(रामचरित 3/6,7)

"जैसे गूलर के फल के अन्दर रहने वाले जन्तु फल के बाहर स्थित विशाल वृक्ष तथा उसमें स्थित असंख्य फलों के विषय में कुछ भी नही जानते, उसी प्रकार से इस अंड में रहने वाले जीव इस अंड को ही नहीं जानते। अंड से परे ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड से परे उसकी कारणभूता उस माया को भला कैसे जान सकते हैं?" अगस्त्य जी कहते हैं—

सो फल भक्षक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला।।

मायाजन्य इस अनन्त ब्रह्माण्ड रूपी फल को भक्षण करने वाला वह महाकराल काल है। वह काल भी आपके भय से सदैव भयभीत रहा करता है। अभिप्राय है कि आप उस महाकाल के भी काल हैं—"**भुवनेश्वर कालहुँ कर काला।**" मायापति होने से आप मायाजनित समस्त भुवनों के भी एक मात्र आप ही स्वामी हैं। भुवन भक्षक उस कराल काल के भी आप काल हैं। वेद का कथन है—

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।

(कठ० 2/3/3)

"इसके भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है और इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाचवां मृत्यु देवता अपने कार्य में प्रवृत्त हो रहा है।" अब आप लोग यह समझ गये होंगे कि अनन्त सृष्टि में एक मनुष्य की क्या स्थिति है! भला आप सोचिए, यह अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाला जीव अपनी अल्प बुद्धि से उस अनन्त महिमामयी माया के आवरण को कैसे हटा सकता है? यहाँ पर एक और आशंका हो जाती है कि क्या यह जीव उस माया से परे स्थित प्रभु को जान ही नहीं सकता? ऐसी बात नहीं। इस सम्बन्ध में केनोपनिषद् की श्रुति का कथन है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।। (केन० 2/3)

"जिसका यह मानना है कि वह परमात्मा जानने में नहीं आता, उसका वह जाना हुआ है। जिसका यह मानना है कि परमात्मा मेरा जाना हुआ है, वह उसे नहीं जानता।" जानने वाले के लिए जाना हुआ नहीं है, न जानने वाले के लिए ही वह जाना हुआ है। यह बात थोड़ी अटपटी सी लगती है किन्तु सावधानी से मनन करने पर इसका रहस्य समझ में आ जायेगा। जो ऐसा मानते हैं कि उस परमात्मा को पूर्णरूपेण जान लिया है, यथार्थतः वह उसके विषय में कुछ भी नहीं जान पाये। जो परमात्मा की अगाधता, अनन्तता को अनुभव करते हुए, यह कहते हैं कि वह बे अन्त है, अनन्त है। इस अल्पबुद्धि के द्वारा उस अनन्त को नहीं जाना जा सकता है, यथार्थतः वही उसे जान पाये हैं, वही उसे जानते हैं। प्रभु की अनन्त महिमा को तथा उसकी माया की अनन्तता को अनुभव करते हुए जो उसका ही आश्रय ग्रहण कर उसकी कृपा की ओर निहारते हैं, करुणानिधान अपनी करुणा से उनके लिए अपनी माया के आवरण को दूर कर देता है। उनके समक्ष अपने सत्य-स्वरूप को प्रकट कर देता है, यह इस मन्त्र का आशय है। अपने पुरुषार्थ से, अपने प्रयत्न से, अपने सीमित ज्ञान से, उस अनन्त को जानना-समझना संभव नहीं।

निराश होने वाली बात नहीं है, प्रभु के मंगलमय विधान से जो साधन मनुष्य को उपलब्ध है, यदि उसका वह सदुपयोग करे तो उतने से ही प्रभु की अर्चना कर, उनकी कृपा का भाजन बन सकता है। जैसे किसी व्यक्ति के हाथ में एक मशाल है, उसका प्रकाश सौ गज की दूरी तक राह दिखाता है। अंधेरे में उस व्यक्ति को कई मीलों का रास्ता तय करना है। अब यदि वह सोचे कि पहले उसके पास इतना प्रकाश का साधन हो जाये, जिससे कि वह अपने गन्तव्य तक का मार्ग देख ले, तभी वह उस रास्ते पर आगे बढ़ेगा, इस अल्प प्रकाश के द्वारा वह इतने बड़े रास्ते को कैसे तय करेगा? तो क्या उसके इस विचार को बुद्धिमत्तापूर्ण कहा जा सकता है? नहीं, बिल्कुल नहीं। जितनी दूर के प्रकाश का साधन उसको प्राप्त है, यदि उसी को लेकर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देता है तो निःसन्देह वह सकुशल अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जायेगा। वह सौ गज दूरी तक प्रकाश प्रदान करने वाला साधन देखने में भले अल्प लगता हो, किन्तु वह हज़ारों मील की दूरी के अन्धेरे को दूर करने में सक्षम है। शर्त यह है कि यात्री उसे साथ ले, उसके प्रकाश में अपनी यात्रा प्रारम्भ कर दे। प्रभु का दिया हुआ जो कुछ भी साधन आपके पास उपलब्ध है, बुद्धि, ज्ञान, इन्द्रियां, शरीर, इन सबका सदुपयोग करते हुए, प्रभु की सेवा

में प्रयोग करते हुए, आप सत्यपथ के पथिक बनें, सत्यधर्मा बनें। अधीर होने वाली, निराश होने वाली, घबराने वाली कोई बात नहीं है। आप प्रभु की ही सन्तान हैं, उसी की अंशाभिव्यक्ति हैं, यदि अपने और उसके इस नित्य सम्बन्ध को समझ कर आस्थायुक्त हो, छल-कपट रहित हृदय से उससे प्रार्थना करें, तो उसकी कृपा के भाजन बन सकते हैं, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। प्रभु की भक्ति में एक महान बाधक तत्त्व है, वह है चातुरी। गोस्वामी जी कहते हैं–

यहाँ की सयानप अयानप सहस सम, सूधो सतिभाव कहे मिटती मलीनता।

प्रभु के दरबार में सयानापन वा चातुरी ही सहस्रों अज्ञानता के समान है, वहाँ तो सीधे-सरल भाव से अपनी लघुता, असमर्थता को प्रभु के समक्ष प्रकट कर देने से उनके कृपा-प्रसाद से सम्पूर्ण मलीनता मिट जाती है–

सूधो मन सूधो बचन सूधी सब करतूत।

प्रभु के आस्थावान भक्त का यही जीवन होता है। इस साधना से निर्मल हो प्रभु में निश्छल प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार से मल-विक्षेप से मुक्त हो, माया के आवरण को दूर करने के लिए वह प्रभु से प्रार्थना करने का अधिकारी हो जाता है। प्रभु उसकी प्रार्थना सुन कर आवरण को हटा, उसके समक्ष स्वयं को निरावृत्त कर देते हैं। ईशोपनिषद् के इस मन्त्र का यही सार सन्देश है।

कुछ विद्वान् इस मन्त्र को सूर्यमण्डलस्थ विश्वात्मा के दर्शनार्थ की गई प्रार्थना के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि यहाँ पूषन् शब्द सूर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि वही जगत् का पोषक है। साधक सूर्य की प्रकाश-पुंजमय किरणों के पीछे स्थित उस जगत् की आत्मा का दर्शन करना चाहता है, इसलिए वह उसी से प्रार्थना कर रहा है कि हे देव ! आप अपने इस सुनहरे आवरण को हटा लें, जिससे आपके दर्शन का अभिलाषी, मैं सत्यधर्मा आपके यथार्थ स्वरूप को देख सकूँ। मेरे विचार से सूर्यमण्डलस्थ विश्वात्मा के दर्शन के लिए भी यदि इस मन्त्र की प्रार्थना को माना जाये, तो भी मेरे द्वारा की गई व्याख्या से किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं होता। किन्तु यह ध्यान रखना है कि विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति सहित, उस परम तत्त्व का ज्ञाता ही यहाँ पर प्रार्थी के रूप में वर्णित है। उस प्रार्थी के लिए, उस प्रार्थी की दृष्टि में, इस भुवनस्थ सूर्य की क्या स्थिति हो सकती है, यह आप लोग स्वयं समझ सकते हैं, अनुमान कर सकते हैं। जिस पूषन् को सम्बोधित करते हुए सत्यधर्मा ऋषि सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन की लालसा कर रहा है, आगे

के सोलहवें मन्त्र में उस पूषन् को अन्य जिन नामों से सम्बोधित किया गया है, उनका मनन और चिंतन करने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रार्थी की प्रार्थना भुवनस्थ सूर्य के प्रति है या उन अनन्त सूर्यों के भी सूर्य परब्रह्म परमेश्वर के प्रति। पन्द्रहवें मन्त्र के विषय में अनेक प्रकार के उदाहरणों और युक्तियों द्वारा आप लोगों को समझाने की चेष्टा की गई है। विश्वास है कि आप लोग बहुत कुछ उस सम्बन्ध में समझ गये होंगे। अब यहाँ से आगे सोलहवें मन्त्र पर विचार प्रकट किया जायेगा। विश्वास है कि आप सभी अवधान पूर्वक उसे सुनेंगे और उस पर मनन करते हुए, उसे धारण करने का भी प्रयत्न करेंगे।

इस प्रार्थना के साथ ही इसके सम्बन्ध में बताये हुए अर्थों, भावों का चिंतन करते हुए, आप सभी अपने–२ स्थान को प्रस्थान करेंगे। आज का प्रवचन आप सभी के प्रति मंगलकामना व्यक्त करते हुए यहीं विश्राम पाता है। ऋषि के शब्दों में अब हम सभी प्रभु से प्रार्थना करेंगे–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

(ईशा०–15)

हरि ॐ तत्सत्
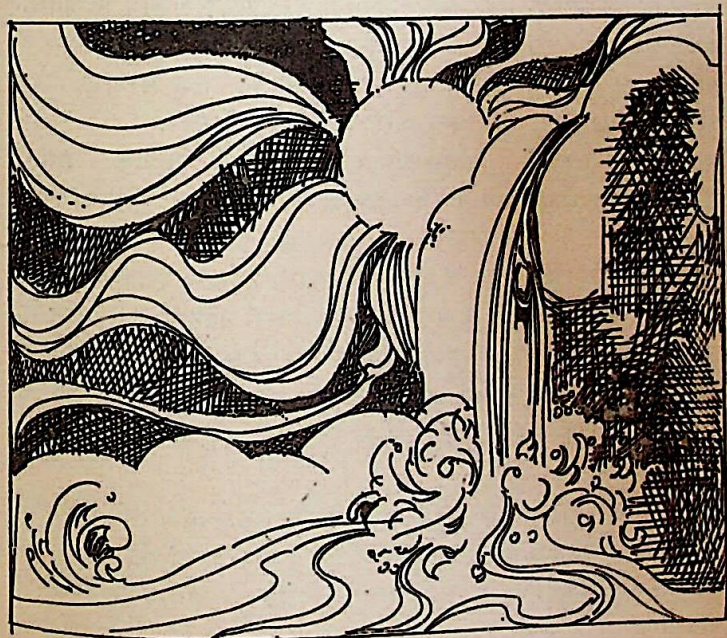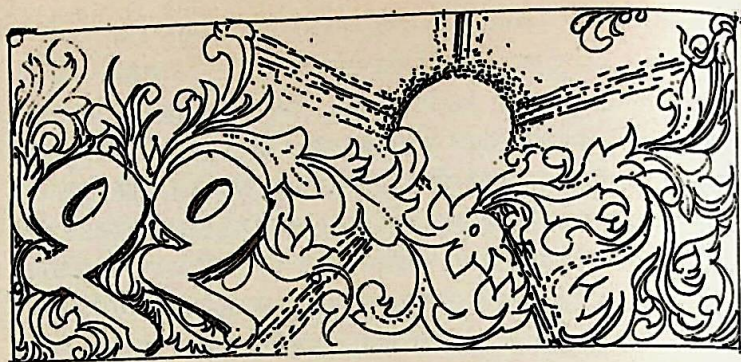
मेरी प्रिय आत्माओ!

प्रभु का मंगलमय विधान आप सभी के लिए सदैव कल्याणकारी हो, इसी शुभकामना के साथ आज हम ईशोपनिषद् के सोलहवें मन्त्र पर विचार प्रारम्भ करने जा रहे हैं। अब तक आप लोग इस उपनिषद् के पन्द्रहां मन्त्रों की व्याख्या विविध प्रमाणों, युक्तियों एवं आचार्यों के विचारों के सहित श्रवण किये हैं। अब आगे केवल तीन मन्त्र ही शेष रह गये हैं। जिस प्रकार से वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समन्वित इस ब्रह्मविद्या के मूल ग्रन्थ का विवेचन सुनते आये हैं, उस पर मनन-चिंतन किया है, उसी प्रकार से आगे भी अवधान पूर्वक उसे सुनेंगे और उस पर मनन-चिन्तन करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। हमारे आज के प्रवचन का आधार ईशोपनिषद् का 16वां मन्त्र है, जिसमें ऋषि उस परमेश्वर से प्रार्थना करते हुए कहता है कि—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राज्यापत्यव्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।
(ईशा० 16)

इस मन्त्र का शब्दार्थ है, "हे पोषण करने वाले! हे एकर्षे अर्थात् ज्ञानस्वरूप द्रष्टा! हे सबके नियन्ता! हे सूर्य परम प्रकाशक! ज्ञानियों के परम लक्ष्य! उत्तम प्रेरणा देने वाले, हे प्रजापति के प्रिय प्रजापालक, आप इन रश्मियों को एकत्र कीजिए, हटा लीजिये वा इस तेज को समेट लीजिये। जो आप का अतिशय कल्याणमय रूप है, उस रूप को मैं देख रहा हूँ। जो वह पुरुष है, वही मैं हूँ।"

इस मन्त्र के पहले दो चरणों में प्रार्थना है और उसके बाद भक्त की प्रार्थना सुन ली गई है। प्रभु ने अपनी अनुकम्पा से सुनहरे आवरण को हटा लिया है और वह प्रभु के यथार्थस्वरूप को, सत्यस्वरूप को देखते हुए आनन्द विभोर हो यह घोषणा करता है कि जो हिरण्मय आवरण से परे पुरुष है, वही मैं हूँ। अभिप्राय

यह कि साधक की दृष्टि में अब स्वयं में और उस परम सत्य में भेद नहीं है, दूरी नहीं है, द्वैत नहीं है। वह अद्वैतानुभूति करते हुए आनन्दातिरेक में इस महावाक्य की घोषणा करता है, "सोऽहमस्मि"। कुछ आचार्यों ने १५ से १८ तक, प्रार्थना के इन चारों मन्त्रों को मरणासन्न व्यक्ति द्वारा की गई प्रार्थना बताया है। आज भी आस्थावान हिन्दू मरणासन्न व्यक्ति को इन मन्त्रों का श्रवण कराता है। मेरे विचार से यह प्रार्थना के मन्त्र मरणासन्न मनुष्य की प्रार्थना नहीं, बल्कि उस उच्चतम अवस्था को प्राप्त हुए सत्यधर्मा साधक की प्रार्थना है जो अपने जीवत्व को पूर्णतयः प्रभु में समर्पित कर प्रभु के साथ अभिन्नता को प्राप्त करने के लिए आकुल है। दूसरे शब्दों में यह मनुष्य के मृत्यु के समय की प्रार्थना नहीं बल्कि यह जीवत्व के मृत्यु के समय की प्रार्थना है, जीवभाव के मृत्यु के समय की प्रार्थना है।

यह मैं आप लोगों को पहले भी बता चुका हूँ कि वेदान्त सिद्धान्त में जीवत्व वा जीव भाव नित्य नहीं। यह चित्तगत चेतन की एक अवस्था विशेष है, जो चिदांश की अभिव्यक्ति के रूप में अहंभाव में उद्भूत होती है। परम चैतन्यघन के यथार्थ बोध से वह चिदांश अपने कारण से अभिन्नता की अनुभूति कर सदा के लिए उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है । उसके प्रकाश से उद्भूत अहंभाव जिसे जीवभाव भी कहते हैं, वह सदा के लिए समाप्त हो जाता है। गीता में भगवान् ने उस अवस्था को ब्राह्मी स्थिति तथा ब्रह्मनिर्वाण के रूप में वर्णन किया है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए ही पूर्णप्रज्ञ ऋषि अपने जीवनाधार सच्चिदानन्द प्रभु से प्रार्थना कर रहा है। इस १६वें मन्त्र के उत्तरार्द्ध में श्रुति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस सत्यधर्मा प्रार्थी की प्रार्थना सुनी गई और वह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर स्वयं को धन्य अनुभव करते हुए आनन्दमग्न हो इस परम सत्य की घोषणा करता है—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। (ईशा० 16)

अब आईये, आगे हम लोग इस मन्त्र के प्रारम्भ में प्रयुक्त हुए प्रभु के पांच सम्बोधनों पर विचार करें। पहला सम्बोधन है 'पूषन्'। प्रभु का यह नाम १५वें मंत्र में भी आ चुका है और इस पर हम विचार कर चुके हैं। सार रूप में इसका अर्थ होता है पोषणकर्त्ता पिता। दूसरा सम्बोधन हैं 'एकर्षे' एक ऋषि। ऋष् धातु का अर्थ होता है निरीक्षण करना, सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से देखना और इसीसे ऋषि शब्द बनता है। 'ऋगतौ' धातु का अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति होता है। जो सर्वज्ञ, सर्वत्र गमन करने वाला और जिसे सब कुछ प्राप्त हो, वह ऋषि है। परमात्मा एकर्षे है, वह एक ही यथार्थतः सर्वज्ञ, सर्वत्र गतिवाला और सर्व का स्वामी है। जैसा कि मैंने पहले भी बताया है कि ऋषि का अर्थ निरीक्षक भी होता

है। परमात्मा ही एक मात्र निरीक्षक है, द्रष्टा है। इस मायारचित वैविध्य और वैचित्र्यपूर्ण सृष्ट जगत् का वही दर्शक है। गोस्वामी जी लिखते हैं–
जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।। (2/127/1)

यह जगत् एक तमाशा है, खेल है, इसको नचाने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। हे प्रभो ! आप ही इस तमाशा के तमाशबीन अर्थात् द्रष्टा हैं, दर्शक हैं। द्रष्टा ही ज्ञाता होता है, इसलिए इस सृष्टि के यथार्थ रूप से प्रभु ही एक मात्र ज्ञाता हैं। गीता में प्रभु स्वयं कहते हैं–

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।
(गीता 7/26)

"हे अर्जुन ! अतीत में जो हो गये हैं, वर्तमान में जो जो स्थित हैं तथा भविष्य में जो होने वाले हैं, उन सम्पूर्ण भूतों को मैं जानता हूँ, परन्तु मेरे को कोई नहीं जानता।" उस परमात्मा को कोई जान भी कैसे सकता है? ऋग्वेद् का नासदीय सूक्त कहता है कि उस परमदेव को तो देवता लोग भी नहीं जानते, क्योंकि वे भी तो उसके बाद ही उत्पन्न हुए हैं। सृष्टि का समग्र ज्ञान वेद और वेदान्त के रूप में अभिव्यक्त है और इन दोनों का मूल स्रोत, दोनों को अभिव्यक्त करने वाला भी तो परमात्मा ही है। गीता के 15वें अध्याय में प्रभु कहते हैं–

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।
(गीता 15/15)

"मैं ही सब प्राणियों के चिदाकाश ब्रह्मचक्र रूपी हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित हूँ। मेरे ही स्मृति, ज्ञान और सदासद्रूप विचार अपोहन होते हैं और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदान्त का कर्त्ता और वेद का ज्ञाता भी मैं ही हूँ।" उपनिषदें वेद को भगवान् की वाणी वा भगवान् के निःश्वास से व्यक्त हुआ घोषित करती हैं। वेद अथवा ज्ञान तत्त्व यथार्थतः परमात्मा का ही स्वभाव है, इसलिए श्रुति कहती है–"सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म"। वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनंत है। हम सनातनी ज्ञान को अपौरुषेय मानते हैं क्योंकि ज्ञान किसी के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं, वह परमात्मा का नित्य स्वरूप है।

विचार करके देखिये, जब आप किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो वह चाह भी तो ज्ञान के प्रकाश में ही उत्पन्न होती है। ज्ञान वृद्धि का प्रयत्न भी तो ज्ञान के प्रकाश में ही किया जाता है। इसलिए आप लोग समझ गये होंगे कि ज्ञानस्वरूप होने से परमात्मा ही एकमात्र ज्ञाता वा द्रष्टा है। इस सृष्टि में

ज्ञाता के रूप में अवस्थित जीव उसी परमात्मा का चिदांश मात्र है। यहाँ अंश माने टुकड़ा नहीं क्योंकि परमात्मा अनन्त है, अनन्त का कभी विभाजन होना संभव नहीं। अंश का अभिप्राय है, अभिव्यक्ति। अव्यक्त परमात्मा का ही अभिव्यक्त अंश जीव कहा जाता है। जिस प्रकार से सर्वव्यापी अग्नि का ही अंश एक दीपक के रूप में अभिव्यक्त होता है, विद्युत् का अंश ही एक बल्ब के माध्यम से अभिव्यक्त होता हैं, उसी रूप से सीमित चित्त के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ चिदांश ही जीवात्मा शब्द से सम्बोधित होता है। यह स्वतंत्र द्रष्टा नहीं, इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है–

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (यो०सू० 1/26)

"वह कालातीत ईश्वर पूर्व में उत्पन्न हुए पुरुषों का भी गुरु है, ज्ञानियों का भी गुरु है।" श्वेताश्वतरोपनिषद् कहती है–जो पूर्व में ब्रह्मा को उत्पन्न कर उसे ज्ञान से परिपूर्ण कर देता है, उस परमात्मा की हम मुमुक्षुजन शरण ग्रहण करते हैं। एक मन्त्र में कहा है "जो प्रथम उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को ज्ञान से भर देता है।" इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि वेद के प्रथम वक्ता चतुर्मुख ब्रह्मदेव में ज्ञान को प्रकट करने वाला तथा विश्व के आदिदर्शन सांख्यशास्त्र को प्रकट करने वाले परमर्षि कपिल देव को ज्ञान से भर देने वाला, वह परमेश्वर गुरुओं का भी गुरु है। उसका ज्ञान सातिशय नहीं, निरतिशय है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (यो० सू० 1/25)

वह किसी अल्पज्ञ की अपेक्षा से, तुलना में सर्वज्ञ नहीं कहा जाता, उसमें स्वभावतः सर्वज्ञता का बीज निहित है। गीता, उपनिषद् और दर्शनशास्त्र, जिस सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञाता की महिमा का गान करते हैं, वही इस मंत्र में एकर्षे कह कर सम्बोधित किया गया है। यथार्थतः प्रभु ही इस दृश्य के एक मात्र द्रष्टा हैं, एकर्षे शब्द का यही अभिप्राय है। उसकी दृष्टि में ही पराशक्ति परमेश्वरी प्रकृति चराचर को उत्पन्न कर, पालन और उनका सम्वरण करती है। गोस्वामी जी कहते हैं–

भृकुटि विलास सृष्टि लय होई। (3/284)

भगवान् स्वयं कहते हैं–

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गीता 9/10)

अधि-अक्ष का अर्थ होता है, दृष्टि के सान्निध्य में, दृष्टि के सामने। प्रभु कहते हैं–"मेरी दृष्टि के सान्निध्य में ही प्रकृति इस चराचर विश्व का प्रसव करती है।" यहाँ एक बात और याद रखें, 14वें अध्याय में प्रभु ने जो प्रकृति में

गर्भाधान की बात कही है, उसका अभिप्राय केवल प्रभु का देखना मात्र है। प्रभु की दृष्टि मात्र से, प्रभु के प्रकाश मात्र से, दूसरे शब्दों में प्रभु के सान्निध्य मात्र से प्रकृति गर्भित हो, चेतनायुक्त हो, चराचर जगत् का प्रसव करती है, चराचर विश्व को प्रादुर्भूत करती है। वह पूर्णप्रज्ञ ऋषि इस रहस्य का ज्ञाता है, इसलिए वह प्रभु को एकर्षे शब्द से सम्बोधित कर रहा है।

प्रभु का तीसरा सम्बोधन है यम। 'यम' शब्द का अर्थ होता है, नियमन करने वाला, नियन्ता। यह सृष्टि त्रिगुणात्मक है, तीनों गुणों के भिन्न-२ स्वभाव हैं। इनको यदि स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये, तो ये कभी भी सुव्यविस्थत रूप में सृष्टि की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। उस परमात्मा के नियन्त्रण में, नियमन होने से ही, ये एक-दूसरे से युक्त हो सुव्यवस्थित सृष्टि की रचना करते हैं। परमात्मा की नियामक शक्ति द्वारा ही इस अनन्त आकाश में पिंड, अंड और ब्रह्माण्डों की यथावत रूप से अवस्थिति है। यह उपग्रह, ग्रह और निहारिकाऐं, सब उस परमेश्वर की नियामक शक्ति से ही नियन्त्रित हो, अपने-२ केन्द्र में स्थित रहकर गतिशील हैं। इस सृष्टि की विचित्रता को देख वर्तमान का वैज्ञानिक भी आश्चर्यचकित रह जाता है, क्योंकि सृष्ट जगत् में सर्वत्र सुव्यवस्था एव अनुशासन का दर्शन होता है। हम सभी जानते हैं कि आकाश से लेकर पृथ्वी तक, सभी तत्त्वों का गुण, धर्म, स्वभाव, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। फिर भी वे सभी एक दूसरे के सहयोगी हो, इस सुन्दर सुव्यवस्थित संसार का सृजन कर रहे हैं। यह सब कुछ जिसके नियन्त्रण में हो रहा है, उस परमात्मा को ही यम कहते हैं। 'यम' शब्द का एक अर्थ होता है, मनुष्य को बुरे रास्ते से, गल्त रास्ते से हटाने वाला। जैसा कि व्यवहार में देखा जाता है कि पिता बालक के लिए सर्वविध पोषणकर्ता होने से पूषन्, सुन्दर सीख देने से, उसके जीवन का निरीक्षण करने से ऋषि और उसे बुरे कर्मों से, बुरी आदतों से, बुरे संस्कारों से, बुरे व्यक्तियों से दूर रखने के नाते यम के समान ही व्यवहार करता है। उसी प्रकार से वह सर्वपिता परमात्मा, परमेश्वर समष्टि जीवों का पालक है, निरीक्षक है, ज्ञानदाता है, नियमनकर्ता है। एक दिन और भीं पहले बताया था कि जो यमराज है, वही धर्मराज है। इसलिए यहाँ श्रुति ने यम के साथ ही आगे चौथा संबोधन 'सूर्य' किया है। प्रभु ही सबके नियामक हैं, वे ही मनुष्यों को दुरित से दूर कर, भद्र से भर देते हैं। वे ही उन्हें अंधकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर चलने की दिशा प्रदान करते हैं, इसलिए यहाँ पर श्रुति उन्हें यम शब्द से संबोधित करती है। सृष्टि में सर्वत्र जो न्याय की व्यवस्था है, कर्मानुसार फल की व्यवस्था है, पाप और पुण्य के

परिणाम की व्यवस्था है, ये सब कुछ उस नियन्ता द्वारा ही निर्धारित विधान है। सृष्टि उसके विधानानुसार ही चल रही है, इसलिए उस सृष्टि के विधायक को, नियन्ता को श्रुति यम शब्द से संबोधित करती है।

परमेश्वर का चौथा अभिधान 'सूर्य' है। सूर्य शब्द का अर्थ होता है प्रकाशपुंज तथा प्रेरक। वह परमात्मा ही अनन्त प्रकाशकों का भी प्रकाशक है। इसलिए श्रुति कहती है–"**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**"। उसके प्रकाश में ही संपूर्ण विश्व के प्रकाशपुंज प्रकाशित होते हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं–

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।

(1/117/6)

विश्व में प्रकाशित होने वाले जितने प्रकाश पुंज हैं, इन सभी प्रकाशकों का जो परम प्रकाशक है, वही अनादि अवधपति श्रीराम हैं। परमात्मा के अनन्त गुणों से संबंधित अनन्त नाम हैं, उनमें यह सूर्य नाम बड़ा ही रहस्यमय और महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक, सर्वप्रकाशक। वेद कहता है–"**सूर्य एकाकी चरति**"। समस्त विश्व में सूर्य ही अकेला गतिमान है। सृष्टि में जहाँ भी कहीं गति है, वह सूर्य से ही है। उपनिषद् की श्रुति कहती है–"**सूर्यो यथैको भुवनस्य चक्षुः।**" इस सृष्टि में जितने चक्षुवन्त नेत्रवान प्राणी हैं, उन सबका चक्षु, उन सबकी दृष्टि एकमात्र सूर्य है। इससे सूर्य ही विश्व का द्रष्टा वा ज्ञाता भी है। सूर्य का ही एक नाम सविता है। सविता का अर्थ होता है "**देवानाम् प्रसविता।**" विश्व की दिव्य शक्तियों को उत्पन्न करने वाला सूर्य सबका जनक भी है। ऋग्वेद कहता है–"**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थु षश्च।**" सूर्य ही इस जगत् की आत्मा रूप में स्थित है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में सूर्य शब्द से परमात्मा के अनेक गुणों का, कार्यों का वर्णन किया गया है। जगत् की आत्मा, भुवन का नेत्र, सृष्टि का उत्पादक, परम प्रकाशक, विश्व का प्रेरक और प्राणीमात्र का प्रेरणा स्रोत, ये सब कुछ होने से परमात्मा ही सूर्य कहा गया है। सारांश रूप से वह परमात्मा ही सूर्य रूप में समस्त जीवों का साधन और साध्य दोनों है, उसका यह सूर्य नाम यहाँ प्रार्थी द्वारा स्मरण किया जाना सर्वथा सार्थक है।

परमात्मा का पाँचवां अभिधान इस मंत्र में 'प्राजापत्य' है, अर्थात् सबका प्रजावत पालन करने वाला। कुछ महापुरुषों ने इस शब्द को 'अपत्य' रूप में भी स्वीकार कर इसका अर्थ प्रजापति का पुत्र और कुछ ने प्रजापति का प्रिय, ऐसा किया है। लेकिन यह मंत्र परमात्मा की व्याख्या कर रहा है, वह परमात्मा

किसी का पुत्र नहीं। यहाँ पर अपत्य अर्थ में इसका अर्थ करना अनुचित होगा। वैदिक साहित्य में परमात्मा के लिए प्रजापति शब्द अनेकों बार प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ होता है, जिससे यह अनन्त चराचर विश्व उत्पन्न हुआ है, जो इस चराचर विश्व का पालक है, रक्षक है। यहाँ यह प्राजापत्य शब्द सबका प्रजावत अर्थात् पुत्रवत पालनकर्त्ता है। वह परमात्मा ही समस्त जीवों का अपने अगाध वात्सल्य से पुत्रवत पालन करता है, इसलिएं वह प्राजापत्य कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने प्रजापति जो हिरण्यगर्भ है, उसकी उत्पत्ति और विलय का जो सामाश्रय है, वह प्राजापत्य है, ऐसा भी अर्थ किया है। यहाँ पर एक बात याद रखनी चाहिए कि साधना की उच्चतम अवस्था में पहुँचे हुए पूर्णप्रज्ञ भक्त द्वारा परमात्मा की प्रार्थना में प्रयुक्त हुए ये शब्द हैं। इन शब्दों का अर्थ यहाँ अभिप्राययुक्त तथा सार्थक ही होना चाहिए। ऋषि कहता है, हे जगत् के पोषक ! हे विश्व के द्रष्टा, ज्ञाता, हे विश्व के नियामक, हे विश्व के प्रकाशक, हे विश्व के पुत्रवत् पालक, "व्यूह रश्मीन्" अपनी रश्मियों को समेट ले। व्यूह शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ अभिप्रेत है, संग्रह करना, एकत्रित करना, बटोरना, क्योंकि इन किरणों से ही सत्य का मुख आवृत्त है। इन किरणों से ही हमारे नेत्र चौंधिया गये हैं, चकाचौंध में पड़ गये हैं। इनसे ही हम विमोहित हो गये हैं, इसलिए हे परमसुहृद पिता, आप अपनी इन रश्मियों को बटोर लें, हटाकर एक तरफ कर दें, यह प्रार्थना है। विश्व का समस्त वैभव परमात्मा की किरण मात्र है। यह जगत्, यह जीवन, यह सब, उसकी किरणों का पसारा है। इन रश्मियों में ही जीव व्यामोहित हुआ स्वयं के यथार्थ स्वरूप को भूल गया है। सत्यधर्मा के लिए अब इन रश्मियों की मोहकता अर्थहीन हो गई है। इसलिए वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि अब इन रश्मियों को आप समेट लें, इन्हें एक तरफ कर दें। इस प्रार्थना से यह भी ध्वनित हो रहा है कि इन रश्मियों को हटाना, दूर करना, मेरे वश की बात नहीं है, इसे तुम ही हटा सकते हो। मानस में भगवान् श्रीराम विभीषण को उपदेश देते हुए कहते हैं—

> जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनुधन भवन सुहृद परिवारा।।
> सबके ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।।
> समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मनमाहीं।।
> अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे।।

प्रभु का कथन है—मनुष्य की ममता के धागे दस स्थानों में फैले हुए हैं। वे दस स्थान हैं—माता, पिता, भाई, पुत्र, पत्नी, शरीर, धन, भवन, प्रियजन और परिवार के लोग। इन दसों स्थानों पर बिखरे हुए ममता के धागों को एकत्रित

करके, उनको बट कर एक डोरी बना लें और उस डोरी से अपने मन को मेरे चरणों में बाँध दे। इस प्रकार से ममतारहित होते ही वह समदर्शी और इच्छा रहित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में उसमें न हर्ष रहेगा, न विषाद होगा और न भय होगा। हर्ष, विषाद और भय से मुक्त हुआ वह सज्जन मेरे हृदय में उसी प्रकार से निवास करता है जिस प्रकार लोभी के हृदय में धन। अभिप्राय कि ऐसा भक्त परमात्मा के लिए अभीष्ट होता है। यथार्थत: यहाँ जिसे ममता के धागे कहा है, वे सभी माया की ही किरणें हैं। वे सुनहरी रश्मियाँ हैं, इनको समेटना सभी के वश की बात नहीं है। जब तक इन रश्मियों को समेटकर इन्हीं भावों से युक्त मन को प्रभु के चरणों में नहीं बाँध दिया जाता, तब तक उसमें एकाग्रता व अनन्यता नहीं आ सकती। एक साधक अपनी विवशता को प्रभु के चरणों में निवेदन करते हुए कहता है–

कबहूँ इत को कबहूँ उत को कबहूँ उत ही उत जाई परे।
कबौं मित्र के संग आनंदित ह्वै यथिक्ष पथ में कबौं नृत्य करे।।
हहरै कबौं देखि के पापन को कबौं पाप की वीथिन में विहरे।
कहौ कैसेक ध्यान में लागि प्रभु मनुआ तो मृगा सी छलांगें भरे।।

मन को संयमित करना जनसामान्य की कल्पना से परे की बात है, उसे एकाग्र कर प्रभु में लगाना बहुत ही कठिन बात है। अर्जुन ऐसा वीर पुरुष भी मन को संयमित करने की बात सुन प्रभु के समक्ष अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहता है–

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

(गीता 6/34)

"हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला, बलवान और दृढ़ है। मेरे विचार से उसका वश में करना उसी प्रकार से दु:साध्य है, जिस प्रकार से वायु की गति को वश में करना। अपने विभूतियोग में प्रभु ने मन को अपनी विभूति कहा है। मन को वश में करने का अभिप्राय होता है प्रभु को वश में करना। इसीलिए अपनी असमर्थता को अनुभव करते हुए ऋषि उस परम कृपालु प्रभु से ही प्रार्थना करता है– "**व्यूह रश्मीन् समूह तेजः।**" हे प्रभो! आप अपनी इस माया-ममता की रश्मियों को बटोर लें और उनके तेज अथवा प्रभाव को भी हमारे सामने से समेट लें। इस मन्त्र में व्यूह तथा समूह दो शब्दों का प्रयोग है। रश्मीन् के साथ व्यूह और तेज के साथ समूह की ऋषि प्रार्थना कर रहा है। दोनों शब्दों की मूल धातु 'ऊह' है। 'ऊह' धातु के कई अर्थ होते हैं। यह

भ्वादिगण की आत्मनैपदी धातु है। इसका ऊहते रूप बनता है। इसके धातुज अर्थ हैं-अंकित करना, अन्वेषण करना, अनुमान लगाना, समझना, सोचना, तर्क, विचार करना, हटाना, दूर करना, रोकना आदि। इसमें 'वि' उपसर्ग लगने से व्यूह शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है व्यवस्थित करना। सम् उपसर्ग लगने से समूह शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है एकत्रित करना, समेटना। यहाँ पर ऋषि प्रार्थना कर रहा है 'व्यूह रश्मीन्'। हे प्रभो! आप अपनी रश्मियों को व्यवस्थित कर लें, एकत्रित कर लें। बिखरी हुई रश्मियाँ ही सत्य के आवरण में हेतु बनी हुई हैं। यथार्थतः जिस हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है, वह रश्मियों के सिवाय और कुछ नहीं है। ये रश्मियाँ अनन्त हैं और अनन्त रूपों में इनकी अवस्थिति है। यह अनन्त ब्रह्माण्ड उन रश्मियों की ही अभिव्यक्ति हैं।

आज का वैज्ञानिक यह बताता है कि समस्त दृश्य जगत् का कारण परमाणुओं का संघात-मात्र है और यह परमाणु स्वयं में प्रकाशमय हैं। इन परमाणुओं का जो मूल है, वह ऊर्जा जिसे इंग्लिश में एनर्जी कहते हैं, वह स्वयं में प्रकृति की तेजोमयी किरणों की समष्टि है। यही परमेश्वर की माया शक्ति है। उपनिषदों में उसे आकाश शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। आकाश शब्द की मूल धातु काश है, जिसका अर्थ होता है चमकना। 'आ' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय से युक्त होकर आकाश शब्द बनता है। वैशेषिक दर्शन में इस आकाश को द्रव्य माना गया है। यह वह द्रव्य है जो प्रकाशमय और स्वच्छ है। तैत्तिरीयोपनिषद् की श्रुति उस प्रकाशमय तत्त्व को परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ घोषित करती है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।

(तैत्तिरीय० 2/1)

'निश्चय ही उस सर्वप्रसिद्ध इस परमात्मा से आकाश आविर्भूत हुआ।' यहाँ आकाश तत्त्व सृष्ट जगत् का कारण होने से प्रकाशमयी प्रकृति का ही अवबोधक है। यह निश्चित है कि कार्य ही कारण का आवरक हुआ करता है। जनसामान्य की दृष्टि कार्य तक ही जाती है, कारण तक नहीं पहुँच पाती। शक्ति ही शक्तिमान् की अवबोधिका है और वही उसकी आवरक भी। यहाँ पर ऋषि प्रभु से प्रार्थना कर रहा है कि हे प्रभो! आप अपनी उस आवरक शक्ति को व्यवस्थित कर लें, हटा लें।

यह याद रहे कि इस सृष्टि में जो कुछ भी वैशिष्ट्य है, वह परमात्मा का ही अंश है, उसी की किरण है। गीता में अनेक स्थानों पर प्रभु ने अपनी विभूति के

रूप में उसका वर्णन किया है। दसवें अध्याय में प्रभु कहते हैं—"इस सृष्टि में जो कुछ भी विभूतिमत, श्रीमत और अर्जित पदार्थ हैं, उन सबको तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान।" गंभीरता से विचार करने से यह ज्ञात होता है कि यह सारी सृष्टि इन त्रिविध रूपों में ही अभिव्यक्त है। इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ स्वयं में ऐश्वर्यमय, कांतिमय और शक्तिमय है। इसलिए यह सभी प्रभु के तेज के अंश से ही आविर्भूत हुआ है। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाए कि तेज अंश से उत्पन्न हुआ अनन्त रूपों में अभिव्यक्त यह विश्व ही वह आवरक तत्त्व हिरण्मय पात्र है और ये ही उस परमेश्वर की किरणें हैं, रश्मियाँ हैं, जिन्हें हटाने की साधक प्रार्थना कर रहा है, तो इसमें अतिशयोक्ति न होगी। परमात्मा की किरणें ही अनन्त जीवों के रूप में भी प्रकट हुई हैं। केवल प्रकाशमयी ऊर्जा, प्रकाशमय परमाणु ही नहीं, वह चेतनांश भी जो अनन्त जीवों के रूप में प्रकट है, परमात्मा की रश्मि ही है। इतना ही नहीं अधिदैव जगत् में अनन्त देवताओं के रूप में भी उसी की अभिव्यक्ति है। वेद में जिन 12 देवताओं का वर्णन आता है, वे अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत, विश्वदेवा, बृहस्पति, इंद्र और वरुण,ये सभी उस परमात्मा के अंश वा रश्मि रूप ही हैं। सृष्टि की समस्त दिव्य शक्तियाँ इन्हीं द्वादश रूपों में समाहित हैं। वैदिक साहित्य में देवता शब्द स्त्रीलिंग है—"या देवी सा देवता।" जिसे देवी कहते हैं उसे ही देवता कहते हैं। यहाँ जिन देवताओं का वर्णन है, वे हिन्दी में प्रायः पुलिंग रूप में ही प्रयोग किये जाते हैं। यें सभी उस परमदेव की दिव्य शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, इन्हीं के प्रकाश से यह सारा विश्व प्रकाशित हो रहा है। विविध प्रकार की दिव्य शक्तियों के स्रोत होने के नाते इन्हें "देवता" शब्द से संबोधित किया गया है। "दिवि प्रकाशने" धातु से देवता शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है तेजयुक्त, प्रकाशयुक्त, शक्तियुक्त। यह आप लोग फिर समझ लें कि उस परमदेव परमात्मा की दिव्य शक्ति के आविर्भाव के माध्यम का नाम ही देवता है।

कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि वैदिक धर्मानुयायी बहुदेव उपासक हैं। पश्चिमी विद्वानों ने तो यहाँ तक लिखने का दुःसाहस किया है कि वैदिक ऋषियों को एक परम तत्त्व का यथार्थ बोध ही नहीं था। इसलिए वे जो कुछ भी प्रकाशयुक्त, तेजयुक्त, शक्तियुक्त देखते थे, उसी को ईश्वर मानकर उसकी स्तुति और आराधना करने लग जाते थे। मेरे विचार से पाश्चात्य पंडितों की यह मान्यता उनके वैदिक साहित्य की अनभिज्ञता का ही अवबोधन कराती है। ऋग्वेद की घोषणा है—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" भला, जिस ऋषि ने इस रहस्य का उद्‌घोष किया है, क्या उसे उस

परात्पर तत्त्व का बोध नहीं था? इस प्रकार के एक नहीं अनेकों मंत्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट रूप में ज्ञात होता है कि वे प्रत्यक्ष-धर्मा ऋषि इस परम सत्य के पूर्ण ज्ञाता थे कि एक ही परमदेव की शक्ति अनन्त देवताओं के रूप में अभिव्यक्त हुई है। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।

(श्वेता० 6/11)

वह एक देव सर्वभूत प्राणियों में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों की अंतरात्मा है। वही सभी कर्मों का अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतों का निवास स्थान, सबका साक्षी, चेतन स्वरूप, सभी को चेतना प्रदान करने वाला, एक अद्वितीय और गुणातीत है। जिस देव की बात ऋषि यहाँ कर रहा है वह समस्त देवताओं का अधिवास है, निवास स्थान है। इससे यह समझ लेना चाहिए कि वैदिकधर्म बहुदेववादी नहीं, बहुदेवतावादी और एक देववादी है।

यहाँ यह बात और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि देवता अनन्त हैं। उस परमात्मा से कितनी दिव्य शक्तियों का अविर्भाव हो सकता है, यह कौन कह सकता है? उस देव की शक्ति का आविर्भाव कितने माध्यमों से हो सकता है, इसकी कौन गणना कर सकता है? इस अनन्त सृष्टि में अनन्त जीव हैं और उन अनन्त जीवों के साथ ही अनन्त रूपों में परमेश्वर की दिव्य शक्तियों का आविर्भाव हो रहा है, इसलिए ये सभी देवता शब्द से ही संबोधित किये जा सकते हैं। उपनिषदों में जहाँ मूलरूप में तैंतीस देवताओं का वर्णन है, उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि व्यक्ति और विश्व के जीवन के संचालन में इनका प्रमुख स्थान है। याज्ञवल्क्य और शाकल्य के संवाद में इस विषय में बड़ा ही रोचक प्रश्नोत्तर मिलता है, यह बृहदारण्यक उपनिषद् की कथा है। शाकल्य का प्रश्न है याज्ञवल्क्य से—देवगण कितने हैं? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र हैं, इसप्रकार कुल संख्या तीन हज़ार तीन सौ छः होती है। शाकल्य ने फिर पूछा—देव कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा, तैंतीस। फिर पूछा—देव कितने हैं? कहा—छः। देव कितने हैं? कहा—तीन। देव कितने हैं? कहा—दो। देव कितने हैं? कहा—डेढ़। देव कितने हैं? कहा—एक। शाकल्य ने कहा—ठीक है। जो कुछ आपने बताया है, सब ठीक है किंतु वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र देव कौन से हैं? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि ये देवगणों का विस्तार तो केवल महिमामात्र है,

देवगण तो तैंतीस ही हैं। वे तैंतीस देव कौन से हैं? उत्तर में बताया आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इंद्र और प्रजापति। यहाँ पर इन तैंतीस देवताओं की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य ने समझाया है—अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चंद्रमा और नक्षत्र, ये आठ वसु कहे जाते हैं। इन्हीं में यह संपूर्ण सृष्ट जगत् बसता है, इसलिए इनका नाम वसु है। मनुष्य के शरीर में पाँच प्राण, पाँच उपप्राण और ग्यारहवाँ आत्मा, इन्हीं को एकादश रुद्र कहा जाता है। उपनिषदों में प्राण शब्द का अभिप्राय इन्द्रियों से भी लिया जाता है। यहाँ पर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, यही दस प्राण हैं और मन को ही आत्मा कहा गया है। यही एकादश रुद्र हैं। शरीरांत होने पर यही इस शरीर को छोड़कर के चले जाते हैं, जिसके परिणाम में उसके संबंधी रुदन करते हैं, इसीलिए इन्हें रुद्र कहा जाता है। याश्काचार्य ने रुद्र की व्याख्या करते हुए कहा है—जो रुलाता है वह रुद्र है। गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि यह एकादश इंद्रियाँ ही इस जीव के लिए समस्त आपत्तियों, विपत्तियों, दुःखों, पीड़ाओं की उत्पत्ति में कारण बनती हैं। इन्हीं के असंयमित होने से यह जीव जन्म-जन्मान्तरों से रोता हुआ चला आ रहा है, इसलिए इनकी संज्ञा रुद्र है। इससे आप लोग समझ गये होंगे, इन ग्यारह के असंयमी होने पर व्यक्ति रोता है और शरीर छोड़कर चले जाने पर व्यक्ति के सम्बन्धी रोते हैं, इसलिए इन्हें रुद्र कहते हैं।

संवतसर के अवयवभूत यह बारह महीने ही बारह आदित्य कहे जाते हैं। इन्हें आदित्य क्यों कहा जाता है? क्योंकि ये बारह महीने ही संपूर्ण प्राणियों की आयु और कर्मफल को आदान अर्थात् ग्रहण करते हैं—"**आददानायन्ति तस्मात् आदित्या।**" ये सभी की आयु और कर्मफल का भक्षण करने वाले हैं, इसीलिए इनको आदित्य कहते हैं। आप सभी जानते हैं, शरीर के जन्म से लेकर उसकी स्थिति, वृद्धि, विकास, क्षय और नाश आदि, इन महीनों वा संवतसर चक्र में ही संपन्न हुआ करता है, इसीलिए संवतसर को आदित्य कहा जाता है। शरीरगत विद्युत तत्त्व ही इंद्र है और अधियज्ञ ही प्रजापति। प्रजा शब्द का अभिप्राय शरीर के समस्त अवयवों से है। इन सबका धारक, पालक और पोषक होने से इस शरीर में स्थित जीवत्मा ही अधियज्ञ है और वही प्रजापति कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यज्ञ को पशु कहा है। "**कतमो यज्ञ इति पशव इति**" यह वाक्य है। कुछ विद्वानों ने पशव शब्द का अर्थ सामान्य पशु किया है, किन्तु मेरे विचार से यह उचित नहीं। अविद्यापाश में बंधा हुआ चित्तासक्त चेतन ही पशु कहा गया है। उसी की उपस्थिति में शरीरगत समस्त अवयव स्थित हैं, सुरक्षित हैं, संगठित हैं, इसीलिए उसे प्रजापति कहा जाता है। यही तैंतीस देवता

हैं। जहाँ प्राण को प्रजापति कहा गया है, वहाँ पर प्राण का अभिप्राय भी इस जीवात्मा से ही है। प्राण की उपस्थिति में ही शरीर में ताप बना रहता है। वही ताप जिसे अंग्रेजी में टैंपरेचर कहते हैं, इंद्र कहा जाता है। समस्त इंद्रियों को सक्रिय रखने में शरीरगत ताप ही कारण होता है, इसलिए वह इंद्र है। अब आप लोग समझ गये होंगे कि ये तैंतीस देवता जिस प्रकार से आपके शरीर में विद्यमान हैं, उसी प्रकार से इस सृष्टि के समस्त शरीरधारियों के शरीर में भी उनकी उपस्थिति है। प्रजापति से लेकर अष्टवसुओं तक इन संपूर्ण देवताओं की क्या कहीं इति की जा सकती है? इन समस्त देवताओं का अधिपति जो महादेव है, वही चैतन्यघन आत्मा है। इन संपूर्ण देवताओं के माध्यम से उस आत्मदेव की शक्ति का ही प्रकाश हो रहा है।

यह पहले भी मैं बता चुका हूँ कि इस ब्रह्माण्डगत सत्य को समझने के लिए अपने पिंडगत सत्य का अनुसंधान करना है क्योंकि जो कुछ इसमें है, वही ब्रह्माण्ड में है। आप लोग समझ गए होंगे कि जिस प्रकार इस व्यष्टि शरीर के आधारभूत सम्पूर्ण देवताओं का नियन्ता, प्रकाशक और मूल स्रोत वह एक आत्मदेव है, उसी प्रकार से इस अनन्त ब्रह्माण्डगत परिव्याप्त सम्पूर्ण देवताओं का आदि आधार, वह परब्रह्म परमात्मदेव है। वैदिक साहित्य में उसी परमात्मदेव के दर्शन तथा बोध से जीव की कृत-कृत्यता बताई गई है। ईशोपनिषद् के इस सोलहवें मंत्र में उसी परमदेव से ऋषि प्रार्थना कर रहा है **"व्यूह रश्मीन् समूह तेजः।"** इससे आप लोग समझ गए होंगे कि वैदिक धर्म अनेक देवतावादी नहीं बल्कि वह एक देव का ही उपदेश देता है। यहाँ पर मैं आप लोगों को एक और भी रहस्यपूर्ण विषय समझा देना चाहता हूँ, उसे अवधानपूर्वक सुनें। वैदिक ऋषि कहते हैं कि यदि उस परमदेव की प्रसन्नता चाहते हो तो उसकी उपासना, आराधना करो। यद्यपि वह परमदेव निर्गुण, निराकार, अवाङ्मनसगोचर है, इन्द्रिय, मन , बुद्धि से सर्वथा परे है किन्तु उसकी उपासना इन देवताओं के माध्यम से ही की जा सकती है। परमदेव की प्रसन्नता के लिए देवताओं की उपासना, आराधना ही एकमात्र साधन है। हमारे यहाँ पूर्वमीमांसा द्वारा प्रतिपादित संपूर्ण यज्ञ-विज्ञान इन देवताओं के माध्यम से ही उस परमदेव की प्रसन्नता का विधान करता है। कुछ अविवेकी लोग ऐसा मानते हैं कि हमें उस परमदेव की ही सीधी उपासना, आराधना करनी चाहिए, इन देवताओं के माध्यम से उसे सन्तुष्ट करने की क्या आवश्यकता है? उनका कथन है कि उस परमदेव की प्रसन्नता वा उसके अनुग्रह के लिए इन देवताओं का आश्रय क्यों लिया जाए? इस विषय में मेरी राय

है कि देवताओं की आराधना के बिना उस परमदेव को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में देवताओं के माध्यम से ही हम उस परमदेव तक पहुँच सकते हैं, उसे जान सकते हैं, उसको प्रत्यक्ष कर सकते हैं और अन्ततोगत्वा उसमें प्रविष्ट हो उससे एक भी हो सकते हैं। वेद कहता है, ये देवगण उसकी महिमा हैं। महिमा के बिना महिमावान को नहीं देखा जा सकता, नहीं जाना जा सकता, उस तक नहीं पहुँचा जा सकता। जो इस रहस्य को नहीं जानते, वे वैदिक सिद्धान्त को कभी भी यथार्थरूप से नहीं समझ सकते।

जैसा कि पहले भी मैंने बताया है कि ब्रह्माण्डगत सत्य को समझने के लिए पिंडगत सत्य को समझना ही एकमात्र उपाय है। आध्यात्मिक दृष्टि से जो कुछ पिंड में है, वही अधिदैव रूप से ब्रह्माण्ड में अवस्थित है। अब आप ज़रा विचार कीजिए, यदि आप अपने आत्मदेव को तृप्त करना चाहते हैं, तुष्ट करना चाहते हैं, प्रसन्न करना चाहते हैं, तो उसके लिए कौन सा साधन अपनाएँगे? यथार्थतः आपकी आत्मा के सम्बन्ध में श्रुति कहती है--वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से सर्वथा परे है। गीता में स्वयं भगवान् कहते हैं–

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। (गीता 3/42)

विषयों से परे इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से भी जो परे है, वह तुम्हारा अपना आप है। भला, उस आत्मदेव की पूजा, आराधना कोई कैसे कर सकता है? किन्तु यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि संसार में जितने व्यवहार हो रहे हैं, इन सभी का प्रयोजन आत्मा की तुष्टि और तृप्ति मात्र है। उस आत्मदेव की तृप्ति और तुष्टि के लिए उसके तेजांश से आविर्भूत हुए शरीरगत देवताओं को ही माध्यम बनाया जाता है और शरीर में भी केवल एक देवता से ही संपूर्ण कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता। विभिन्न कार्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न देवताओं का आश्रय लिया जाता है। वैदिक सिद्धान्त में बताया गया है कि अग्नि ही समस्त देवताओं का मुख है। अग्नि में दी हुई आहुति से संपूर्ण देवतागण तृप्त और तुष्ट होते हैं। अग्नि के अनेक नामों में हव्यवाहन भी एक नाम है और उसे 'जातवेदाः' भी कहते हैं। यह कितना गम्भीर विषय है, ऋषियों की कितनी गम्भीर अनुभूति है, इसे आप लोग सावधान हो सोचें और समझें। 'जातवेदाः' का अर्थ होता है जो भी सृष्टि में उत्पन्न हुआ तत्त्व है, उन सबका जानने वाला। हव्यवाहन का अर्थ होता है-उन संपूर्ण उत्पन्न हुओं को आहार पहुँचाने वाला। अब आप इस का रहस्य अपने में ही समझिए। आप के शरीर में जितने अवयव हैं, जितने अंग हैं, ये सभी देवता हैं। इन सभी देवताओं के

भिन्न-२ कार्य हैं। आपके शरीर में एक भी ऐसा परमाणु नहीं है जो निष्प्रयोजन हो। अब आप बताइए, शरीरगत इन सम्पूर्ण देवताओं को पुष्ट करने के लिए, तृप्त करने के लिए, आप जो कुछ भी आहार देते हैं, वह किसे समर्पित करते हैं, किसके द्वारा इन सब को आहार पहुँचाया जाता है? इन सब की पुष्टि में, तृप्ति में, साधन कौन बनता है? क्या आप हाथ की पुष्टि के लिए भोजन हाथ में रखते हैं, पांव की पुष्टि के लिए पांव में बांध देते हैं, मस्तिष्क की पुष्टि के लिए क्या आहार सिर पर रख लेते हैं? श्रवण, नेत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा आदि इन समस्त देवताओं की तृप्ति और पुष्टि के लिए, इन्हें आहार की आवश्यकता होती है वा नहीं? यदि होती है तो इन देवताओं की तृप्ति का साधन आप किसे बनाते हैं? आप यही कहेंगे न, कि आप आहार को मुख में समर्पित करते हैं, उदर में समर्पित करते हैं और उदर में पाचन-क्रिया के द्वारा उससे रस का निर्माण होता है और वही रस सम्पूर्ण अंगों को पुष्ट करता है, तृप्त करता है। इसी रहस्य का उद्घाटन वेद कर रहा है। परमेश्वर के मुख से ही अग्नि का आविर्भाव हुआ है-"**मुखादग्निरजायत्।**" वही अग्नि व्यक्ति के शरीर में वाक् होकर मुख में प्रतिष्ठित है—"**अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्।**" वही अग्नि वैश्वानर रूप में उदर में स्थित है। हम जो कुछ भी आहार समर्पित करते हैं, हम जिस किसी भी देव की पुष्टि की कामना करते हैं, उसकी पूर्ति के लिए अग्नि ही एकमात्र हमारे पास माध्यम है। जैसे अपने मुख द्वारा उदर में समर्पित किया हुआ आहार शरीरगत समस्त देवताओं तक पहुँच जाता है, सभी को पुष्ट और तृप्त कर देता है, उसी प्रकार से अग्नि को समर्पित किया हुआ हव्य ब्रह्माण्डगत देवताओं की तृप्ति एवं तुष्टि में हेतु होता है। जिस प्रकार से अग्निदेव का कार्य है सम्पूर्ण देवताओं को हव्य पहुंचाना और यह कार्य वे तभी सम्पन्न कर सकते हैं, जबकि सम्पूर्ण देवताओं का उन्हें ज्ञान हो। उसी प्रकार से जो अन्य देवता हैं, उनका भी एक कार्य विशेष है और वह कार्य वे ही सम्पन्न कर सकते हैं, दूसरे द्वारा उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। जैसे मुख का कार्य नेत्र नहीं कर सकता ऐसे ही नेत्र का कार्य मुख नहीं कर सकता। जिह्वा का कार्य नेत्र नहीं कर सकता, श्रवण का कार्य जिह्वा नहीं कर सकती, हाथ का कार्य पांव से नहीं लिया जा सकता, पांव का कार्य भी हाथ नहीं कर सकता, इसी प्रकार से प्रत्येक देवता का अपना एक कार्य विशेष है और वह उसी के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है दूसरों के द्वारा नहीं। जिस प्रकार शरीर के किसी भी एक अंग के न होने पर शरीरी अपंग वा अधूरा कहा जाता है, उसी प्रकार से इस सृष्टि में स्थित देवताओं की भी महत्ता है। जैसे शरीरगत सभी देवता मिलकर इस आत्मदेव की महिमा और शोभा की

अभिव्यक्ति कर रहे हैं, उसी प्रकार से सृष्टिगत देवताओं के द्वारा ही वह परमेश्वर महिमावान हो रहा है। जैसे किसी का आदर करने के लिए हम उसके चरण को स्पर्श करते हैं, यद्यपि यह जानते हैं कि आत्मा का निवास चरण में नहीं ब्रह्मचक्र में है। साहसयुक्त काम करने वाले की हम पीठ ठोकते हैं, यद्यपि साहस हृदय का धर्म है, पीठ का नहीं। हम यदि अपने व्यवहार को देखें तो यह ज्ञात हो जाएगा कि किस प्रकार से शरीरगत आत्मदेव की तुष्टि और तृप्ति के लिए इन देवताओं का ही आश्रय लेते हैं। यह उपनिषद् रहस्यविद्या है। उसका अभिप्राय यही है कि एक अशरीरी की उपासना शरीर द्वारा कैसे की जाती है? एक निराकार की आराधना साकार द्वारा कैसे की जाती है? एक आत्मदेव की आराधना इन अनेक देवताओं के माध्यम से किस प्रकार से होती है?

एक बात और समझ लें आप लोग। हमारा सारा शरीर विभिन्न देवताओं के रूप में ही विभाजित है। पांव के देवता विष्णु, हाथ के देवता इन्द्र, मुख के देवता अग्नि, जननेन्द्रिय के देवता प्रजापति, मलेन्द्रिय के देवता यम, नेत्र के देवता सूर्य, श्रवण के देवता दिशा, नासिका के देवता अश्विनीकुमार, जिह्वा के देवता वरुण और त्वचा के देवता वायु हैं। मन का देवता चन्द्रमा, अहं का देवता शिव, बुद्धि का देवता ब्रह्म और चित्त का देवता महान् है। इस प्रकार हमारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीर के अंगों के देवताओं की समष्टि ही यह हमारा व्यक्तित्व है और इन सम्पूर्ण देवताओं का आश्रय वह परमदेव परात्पर प्रभु परमात्मा अथवा ब्रह्म शब्द से अभिहित किया जाता है। हमें उस परात्पर देव की आराधना इन देवों के माध्यम से ही करनी होती है। इन देवताओं के माध्यम के बिना हम उस परमदेव का पूजन नहीं कर सकते। यद्यपि देवताओं का पूजन हमारा लक्ष्य नहीं किन्तु इन देवताओं की उपासना के बिना, सान्निध्य के बिना क्या कभी हम उस देव के अनुग्रह के भाजन बन सकते हैं? जैसे हम अपने गुरुदेव की उपासना करते हैं, सेवा करते हैं तो उसमें क्या करते हैं? उनकी चरणसेवा, उनके स्नान आदि की व्यवस्था, भोजन, वस्त्रादि की व्यवस्था। ये सब कुछ किससे सम्बन्धित है? केवल स्थूल शरीर से। किन्तु इस शरीर की सेवा के माध्यम से ही हम उनके अनुग्रह के भाजन बन जाते हैं।

यहाँ पर वेद हमें यह समझाता है कि तुम्हारा लक्ष्य देवताओं की उपासना नहीं, देवताओं में रति नहीं, उनका यथार्थ बोध प्राप्त कर उनके मूल आधार रूप परमदेव का अनुग्रह प्राप्त करना है। अविद्या और विद्या, असम्भूति और

सम्भूति के प्रसंग में ऋषि ने इसी प्रसंग को समझाया है। इन्द्रियों की तृप्ति के लिए यदि हम कोई कार्य करते हैं और उसी में रत हो जाते हैं तो वह हमारे लिए घोर पतन का कारण बन जाएगा। किन्तु यदि इन इन्द्रियों के माध्यम से उस परम प्रकाशक की तृप्ति के लिए, उसके अनुग्रह के लिए, इन्हें साधन रूप में ही स्वीकार करते हैं, तो वे ही परमसिद्धि में सहायक हो जाते हैं। मैंने आप लोगों को एक दिन इन्द्र और वैरोचन की कथा सुनाई थी। वैरोचन भ्रमवश शरीर को ही आत्मा समझ बैठा। दूसरे शब्दों में देवताओं को ही परमदेव समझ बैठा। परिणामतः उसने अपने और अपने समाज के लिए भी पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया और इन्द्र ने शरीर के परमाश्रय को जानने की साधना की। दूसरे शब्दों में उसने देवताओं से परे उस परमदेव को जानने कर प्रयत्न किया और उसे जानकर वह अपने और अपने समाज के लिए उत्थान में हेतु बना, अमरत्व को प्राप्त किया। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि वैदिक साहित्य में किस प्रकार से देवताओं के माध्यम से उस एक देव की उपासना, आराधना कर उसके अनुग्रह को प्राप्त करने का विधान किया गया है। सरल शब्दों में आप लोग यह समझ लें कि जिस प्रकार शरीर के माध्यम से ही शरीरी की आराधना ही जाती है, पूजा की जाती है, शरीर को प्यार किया जाता है, उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाती है, उसी प्रकार से विभिन्न रूपों में प्रकट हुए प्रकाशस्वरूप इन देवताओं के माध्यम से ही उस परमदेव की आराधना, उपासना, पूजा और उसकी भक्ति की जाती है। जैसे इस स्थूल शरीर का आधार वह शरीरी आत्मा है, इसी प्रकार से इन अनन्त रूपों में प्रकट देवतारूप शरीर की आत्मा वह परमदेव है। उस परमदेव की सन्तुष्टि के लिए ही इन समस्त देवताओं का आश्रय लिया जाता है। ये सभी उसके अंग हैं और वह इन सब का अंगी है। यजुर्वेद का यह सोलहवां मंत्र इन समस्त प्रकाशपूर्ण देवताओं को ही रश्मि और तेज के रूप में सम्बोधित कर रहा है। वह उस परमदेव से प्रार्थना करते हुए कह रहा है कि –"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजो।" यहाँ पर प्रयुक्त हुए ये सभी नाम परमात्मा के ही हैं। इन नामों के माध्यम से परमात्मा के पोषक, निरीक्षक, नियामक, प्रकाशक, प्रवर्त्तक तथा पालक आदि गुणों का वर्णन किया गया है। साथ ही उससे अपने इस परमसत्य स्वरूप को दिखाने के लिए, उसके तेजांश से उत्पन्न हुए अनन्त देवतारूप रश्मियों और उनके प्रभाव रूप तेज को हटा लेने तथा समेट लेने की याचना भी की गई है क्योंकि जब तक इनकी स्थिति हमारे समक्ष होगी तब तक इनके पीछे छुपा हुआ वह

परमसत्य दिखाई नहीं दे सकेगा।

गोस्वामी जी ने लिखा है कि वह परमात्मा यथार्थतः अनामी है, अरूपी है, किन्तु ये सम्पूर्ण नाम, सम्पूर्ण रूप उसीके हैं क्योंकि उसीसे हैं। इसीलिए वे उसकी स्तुति करते हुए कहते हैं–

जय निर्गुन जय जय गुन सागर।

एक जगह लिखते हैं–

नाम अनेक अनाम निरंजन।

जिस प्रकार से अपने इस शरीर के आवरण से आवृत्त अपने आत्मदेव का यथार्थ बोध नहीं हो पाता, दर्शन नहीं हो पाता, उसी प्रकार से उन देवताओं के, रश्मियों के आवरण से इस परमात्मदेव का भी साक्षात्कार नहीं हो पाता। किन्तु जिस प्रकार से इस शरीर के द्वारा शरीरी की सत्ता का, उसके होने का, उसकी स्थिति का हमें बोध प्राप्त होता है, उसी प्रकार से विश्व की इन दैवी शक्तियों के होने से ही इनके आधारभूत उस परात्परदेव के होने का हमें बोध प्राप्त होता है। जैसे शरीर के सदुपयोग से ही, इसके द्वारा ही हम आत्मदेव का अनुभव कर सकते हैं, उसी प्रकार से इन दिव्य शक्तियों के समुचित प्रयोग से, इनके माध्यम से ही हम उस परमदेव तक पहुँच सकते हैं, उसे जान सकते हैं। जैसे आत्मा का कोई नाम नहीं वह अनामी है, जितने नाम हैं, वे शरीर के हैं, उसके अंगों के हैं, उसी प्रकार से उस परमेश्वर का भी कोई नाम नहीं, जितने नाम हैं, उसकी इन दिव्य शक्तियों से ही सम्बन्धित हैं। क्या आप लोग बता सकते हैं कि आपकी आत्मा का क्या नाम है? ज़रा सोचिए और ध्यान दीजिए। एक कवि ने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया है। उसका कथन है–

केश शीश जूड़ भाल वृहणि पलक नयन, गोलक
कपोल गंड नासा मुख श्रवण हैं।
ठेढ़ी ओठ दाढ़ दन्त रसना मसूढ़ा ताल, चिबुक
कंठिका कंठ कंध करमोल हैं।
कांख कीट भुजा नाड़ि नाभि कुच पेट पीठ,
अंगुली, हथेली नख जंघा-स्थल जौन हैं।
नितम्ब लोम चरण ऐते नाम सब अंगन के
या में तो विचार नर तेरो नाम कौन है?

जितने नाम गिनाए हैं, ये सारे शरीर के अंगों के ही हैं, इनमें से तुम्हारा कौन सा नाम है? किसको तुम "मैं" कहते हो, कभी इस पर विचार किया? यदि

गम्भीरता से मनन करोगे तो इसका स्वयमेव अनुभव हो जायेगा कि वह आत्मा यथार्थतः नाम और रूप दोनों से ही परे है, फिर भी वह नाम-रूप के द्वारा जाना जाता है। जो स्थिति इस शरीरगत आत्मा की है, वही स्थिति विश्वगत उस परमात्मा की भी है। आत्मस्वरूप को जानने के लिए इस रूप और नाममय आवरण को अलग कर इसके अन्दर प्रवेश करना होगा। इसके पीछे जो इसका परमाश्रय है, उस तक पहुँचना होगा, तभी उसे जान पाओगे। उसी प्रकार उस परम सत्य को जानने के लिए भी इस नामरूपात्मक जगत् का विश्लेषण करना होगा, इसके यथार्थ स्वरूप को जानते हुए, इसके मूल कारण तक पहुँचना होगा। इस आवरण के पीछे जो वह परम सत्य है, फिर उसका साक्षात्कार हो सकेगा।

आप अपने प्रयत्न द्वारा, अपनी साधना द्वारा, अपनी आत्मा को जान सकते हैं, समझ सकते हैं। अपने आत्मबल द्वारा इस आत्मा के प्रकाश में प्रकाशित होने वाले, स्थित रहने वाले इस शरीर रूपी आवरण को हटाकर इसके अन्दर तो प्रवेश कर सकते हैं, अपने आत्मदेव की एक झलक पा सकते हैं, किन्तु उस परमात्मा की एक झलक पाने के लिए जिस आवरण को दूर करना है, उसकी सामर्थ्य आपमें नहीं है। उसके दिव्य तेज को, उसकी दिव्य रश्मियों को हटाने में आप सक्षम नहीं, इसके लिए तो उसी से प्रार्थना करनी होगी। इसी सत्य की सीख देने के लिए ऋषि स्वयं प्रभु से प्रार्थना कर रहा है—"**पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राज्यापत्य व्यूह रश्मीन् समूहः।**" इस प्रकार की प्रार्थना ही एकमात्र साधन है उस परम सत्य को देखने और जानने में।

एक बार एक सज्जन मेरे पास आए और कहने लगे, स्वामी जी ! मैं तो साइंस का प्राध्यापक हूँ, मैंने शुरु से ही निरीक्षित ओर परीक्षित सत्य को स्वीकार करनी की शिक्षा पाई है। मैं किसी भी ऐसे तत्त्व में विश्वास नहीं करता जो विज्ञान के द्वारा निरीक्षित और परीक्षित न हो। मैंने पूछा—क्या आप अपने आप में विश्वास करते हैं? बोले, हां, क्यों नहीं, ऐसा कौन होगा जो अपने आप में विश्वास नहीं करेगा? क्या आपने अपने आप को कभी देखा है? कभी उसका निरीक्षण और परीक्षण किया है? आपके होने का आपके पास क्या प्रमाण है? मैं हूँ, यह तो प्रत्यक्ष है। क्या प्रत्यक्ष है? इसका प्रमाण दे सकते हैं? बोला—मैं बैठा हूँ, मैं बोल रहा हूँ, क्या इतना ही प्रमाण काफी नहीं? मेरे पास रेडियो रखा था, उसके बटन को दबाते ही उसमें से आवाज़ आने लगी। मैंने कहा—यह भी रखा है और यह भी बोल रहा है, क्या इतने से ही यह मान लिया जाए कि यह भी एक व्यक्ति है? नहीं , यह स्वयं नहीं बोल रहा, इसके माध्यम से कोई दूसरा बोल

रहा है। क्या उस बोलने वाले को आप देख रहे हैं, क्या वह प्रत्यक्ष है? यदि नहीं, तो आप यह कैसे कह सकते हैं कि बोलने वाला कोई दूसरा है, क्योंकि जो नहीं देखा, उस पर तो आप को विश्वास है ही नहीं, उसे आप मानते ही नहीं। यदि मैं कहूँ कि आपके शरीर के माध्यम से कोई दूसरा ही बोल रहा है तो आप इसे कैसे इन्कार कर सकेंगे? टेप रिकार्डर का बटन दबाते हुए मैंने कहा-देखिए, आवाज़ तो इसमें से भी आ रही है, क्या इसके भी पीछे से कोई बोल रहा है? नहीं, इसमें तो किसी की आवाज़ भरी गई है। यदि यही बात मैं आपके विषय में कहूँ तो आप उसे कैसे गलत साबित कर सकेंगे? जब आप पैदा हुए थे, उस समय आपकी कोई भाषा नहीं थी। जो भाषा अब बोल रहे हैं इस से आपका परिचय नहीं था। आपकी यह जन्मजात भाषा नहीं। यह भाषा आपमें भरी गई है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि यह भाषा आपके मस्तिष्क में रिकार्ड कर दी गई है, इसलिए उसी को आप बोल पाते हैं। जो भाषा आपके मस्तिष्क में रिकार्ड नहीं हुई, क्या आप उसे बोल सकते हैं? नहीं, यह असम्भव है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि यथार्थतः जो आप हैं वह प्रत्यक्ष नहीं, वह निरीक्षण और परीक्षण दोनों से ही परे है, केवल बोलने मात्र से या सक्रिय होने मात्र से किसी के व्यक्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि इतने से ही किसी के व्यक्तित्व को सिद्ध किया जाए तो कम्पयूटर के व्यक्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकेगा। क्या उसे आप व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सकते हैं? नहीं, ऐसा संभव नहीं। यथार्थतः इस प्रत्यक्ष देखने वाले शरीर के पीछे, बोलने वाली बाणी के पीछे, इतना ही नहीं विचार करने वाली बुद्धि के पीछे, जो इन सब का परम आश्रय है, जिससे इन सब की स्थिति है, वह आपका अपना स्वरूप है। निरीक्षण और परीक्षण की सीमा केवल स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों तक ही सीमित है। वेद का कथन है–

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मना न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद्व्याचचक्षिरे।। (केन० 1/3)

उस आत्मतत्त्व तक न चक्षु इन्द्रिय पहुँच सकती है न वाक् इन्द्रिय ही। यहाँ चक्षु इन्द्रिय से समस्त ज्ञानेन्द्रियों और वाक् इन्द्रिय से समस्त कर्मेन्द्रियों की असमर्थता बताई गई है। न मन ही उस तक पहुँच सकता है। यह मन शब्द अन्तःकरण का संकेत करता है। अभिप्राय यह है कि बाह्य करणों और अन्तःकरण की पहुँच से वह सर्वथा परे है। जिस प्रकार इस आत्मा के विषय में बतलाया जाए कि वह ऐसा है, इस बात को न तो हम स्वयं ही जानते हैं

और न दूसरों से सुनकर ही जान पाते हैं, क्योंकि वह जाने हुए अथवा ज्ञेय पदार्थों से भिन्न है और न जाने हुए से भी ऊपर है, ऐसा उन पूर्वाचार्यों से सुनते आए हैं, जिन्होंने हमें उस परमतत्त्व का भली-भाँति अवबोधन कराया है। श्रुति का यह कथन जिस सत्य की ओर संकेत करता है, वह भौतिकविज्ञान की प्रक्रियाओं की पहुँच से सर्वथा परे है। उसकी महिमा को देख पहले उसे मानना होता है फिर उसे जानने की साधना में प्रवृत्त होना पड़ता है। वह तर्क की पहुँच से परे है। गोस्वामी जी कहते हैं—

मन समेत जेहि जान न बानी। तर्कि न सकैं सकल अनुमानी।।
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एक रस रहई।।

मन समेत वाणी जिसे नहीं जानती, तर्कविद्या के निपुण तार्किक जिसके विषय में अनुमान तक नहीं लगा सकते। जिसकी महिमा का वेद न इति, न इति, कहकर गान करता है, जो तीनों काल में एकरस अवस्थित रहता है, उस परमेश्वर को जानने तथा उस के सत् स्वरूप को देखने के लिए मनुष्य के पास उस परम सुहृद परमेश्वर से प्रार्थना करने के सिवा और कोई साधन नहीं है। इसीलिए ऋषि प्रभु से प्रार्थना करते हुए कह रहा है कि आप अपनी रश्मियों को हटा लें, अपने तेज को समेट लें, जिससे हम आप के सत् स्वरूप को देख सकें। आप लोग भी अपने अन्तर्तम में एकाग्रचित्त हो ऋषि के शब्दों में अब प्रार्थना करें—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूहरश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।

इस प्रार्थना के साथ ही आज का यह प्रवचन विश्राम पाता है। कल पुनः इस मंत्र के शेष अंश पर विचार किया जाएगा।

हरि ॐ तत्सत्
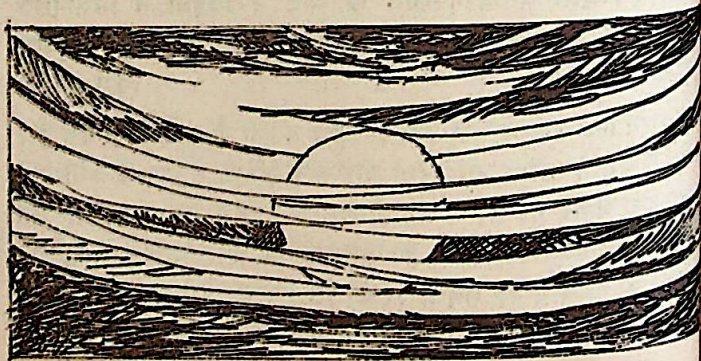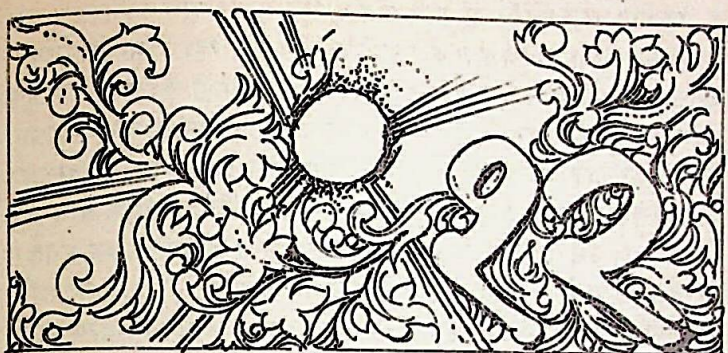
मेरी प्रिय आत्माओ !

प्रभु का मंगलमय विधान आप सभी के लिए सदैव कल्याणकारी हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना। आप लोग ईशोपनिषद् के सोलहवें मंत्र की व्याख्या सुन रहे हैं। कल इसके संबंध में बहुत सी बातें बताई गई थी। मेरे विचार से उपनिषद् की दृष्टि से यह सोलहवां मंत्र आखिरी मंत्र है। इसमें उपनिषद् का लक्ष्य पूर्ण हुआ दिखाई देता है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है जीव को शिव तक पहुंचाना, नर से नारायण बना देना, पुरुष को पुरुषोत्तम से अभिन्न कर देना। इसका प्रमाण हमें श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्राप्त होता है।गीतोपनिषद् का प्रारम्भ विषादयोग से होता है और उसका पर्यवसान पुरुषोत्तम योग में। विद्वानों की राय है कि गीता के पंद्रहवें अध्याय में ही उसके उपदेश का प्रयोजन पूर्ण हो गया है। आगे के तीन अध्यायों को वे खिल भाग मानते हैं। इसी प्रकार इस उपनिषद् में साधक के लिए जो कुछ प्राप्तव्य है, उसकी प्राप्ति उसे इस सोलहवें मंत्र के तीसरे चरण में हो जाती है और इसके चौथे चरण में वह अपनी उपलब्धि का उद्घोष भी कर देता है।वह अपने सीमित भाव को असीम में विलय कर उससे अभिन्न हो गया है। अब उसका संपूर्ण रूपान्तरण हो चुका है। जीव से शिव, नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम रूप में परिवर्तित कर देना ही ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है। भौतिक को अभौतिक रूप में परिवर्तित कर देना ही इसका लक्ष्य है और इस मंत्र के अन्तिम चरण में वह लक्ष्य पूर्ण हो गया है।

इस उपनिषद् के पहले वाक्य में ही हमें दो तत्त्वों का दर्शन होता है। ईश और इदम् और इन दोनों के सम्बन्ध का भी उसी मंत्र में व्याप्त और व्यापक के रूप में अवबोधन कराया गया है। इदम् में ईश बसा हुआ है। इदम् शब्द से जिसका निर्देश किया गया है, वह भौतिक असत्, अनृत तथा परिवर्तनशील है

और यह सब कुछ एक सत्, ऋत तथा नित्य ईश तत्त्व से आवासित है, परिपूर्ण है, यह श्रुति का कथन है। इस सोलहवें मंत्र में सत्यधर्मा ऋषि ने इसका प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया है।अब ईश और इदम् का भेद नहीं रहा,अभिन्नत्व अथवा अद्वैत का प्रत्यक्ष हो गया है, यही ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है, जो इस मंत्र में पूर्ण हो गया है। इस पूर्णत्व की प्राप्ति में साधक का पुरुषार्थ नहीं, करुणानिधान प्रभु की करुणा ही कारण बनी है। उनके अनुग्रह से ही इस निगूढ़तम रहस्य का उद्घाटन हो सका है। अनुग्रह की प्राप्ति में साधन बनी है प्रार्थी के अन्तरतम की प्रार्थना। उसे सत् और असत् के भेद का बोध प्राप्त हो गया है, वह असत् से विरत हो सत्य में अनुरक्त हो गया है, अब वह सत्यधर्मा है। इस सत्यधर्मा शब्द में बहुब्रीहि समास है। जिसका सत्य ही धर्म है अथवा जो सत्य का ही उपासक है, वह सत्यधर्मा है। प्रार्थी का जीवन अब पूर्णरूप से सत्य के लिए समर्पित हो चुका है। सत्य को प्रत्यक्ष देखने के लिए वह प्रभु से प्रार्थना कर रहा है।"**पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राज्यापत्य व्यूह रश्मीन् समूहः तेजः।**" यह प्रार्थी के हृदय की ऐसी पुकार है जो प्रभु के यहाँ सुनी जाती है। रटे हुए शब्दों को दुहराना प्रार्थना नहीं, प्रार्थना सीख कर नहीं की जाती। सीखी हुई प्रार्थना तो प्रार्थना का कार्टून है। कुछ मंत्र, श्लोक वा शब्द याद करके उसे बड़बड़ाते रहना प्रार्थना नहीं, वह प्रार्थना का नाटक है। संसार की समस्त स्थितियों से निराश हो, उनसे पूर्ण विरत होकर, सत्य की जिज्ञासा लिए हुए, उसके दर्शन की लालसा से पूरित हृदय, उसकी पूर्ति में स्वयं की असमर्थता का अनुभव करते हुए, पूर्ण आस्थायुक्त हो वह जब प्रभु को पुकारता है, तो वही सच्ची प्रार्थना कही जाती है। यह याद रहे, जब आप असत् से ऊपर उठ जाएँगे, सत् के दर्शन की उत्कट अभिलाषा जागृत होगी, उस प्रबल अभिलाषा की पूर्ति के लिए जब आपको अपने पास कोई दूसरा साधन नहीं दिखाई देगा, उस अवस्था में जो आपके अन्तर की पुकार उठेगी, वही सच्ची प्रार्थना होगी। इसी प्रार्थना को प्रभु सुनते हैं।

इस उपनिषद् के पन्द्रहवें मंत्र में जो प्रार्थना की गई है, उसी से सम्बन्धित सोलहवें मंत्र के प्रथम चरण में प्रार्थी परमेश्वर के दिव्य गुणों का चिन्तन करते हुए, प्रभु के साथ अपने सम्बन्ध का भी संकेत करते हुए उन्हें सम्बोधित करता है और जिस हिरण्यमय पात्र को हटा देने की प्रार्थना कर रहा है, उसको स्पष्ट करते हुए वह यहाँ पर कहता है- प्रभो ! वह हिरण्यमय पात्र और कुछ नहीं, आपकी ही रश्मियाँ हैं, आपका ही तेज है, अनुग्रह करके आप अपनी इन रश्मियों हो हटा लें, अपने इस तेज को समेट लें, तभी मुझे वह आपका सत्य

स्वरूप दीख सकेगा, जिसकी लालसा लिए हुए मैं आपको पुकार रहा हूँ। विचार कीजिए, इस मंत्र में भक्ति का कितना श्रेष्ठतम सुन्दर स्वरूप है। जो लोग ज्ञानाभिमान में भक्ति को द्वितीय श्रेणी की साधना समझते हैं, जो उपनिषदों को केवल कोरे ज्ञान की ही प्रतिपादिका मानते हैं, उन्हें सावधानी से इन मंत्रों पर विचार करना चाहिए। इन मंत्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अतद्वैतानुभूति अपने पुरुषार्थ से नहीं प्रभु के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है। गीता में भी भगवान् ने भक्ति के द्वारा ही स्वयं को प्रत्यक्ष करने का उपदेश दिया है। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि ज्ञान निरर्थक है, उसका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति, इनके यथार्थ स्वरूप को समझने में ज्ञान ही कारण होता है और इनकी यथार्थता को जानने के पश्चात ही साधक सत्यधर्मा बन पाता है। यह सत्यधर्मा ही यथार्थतः भक्त की संज्ञा प्राप्त करता है। प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए की गई प्रार्थना ही भक्ति का श्रेष्ठतम स्वरूप है। प्रार्थी तन्मय होकर जब प्रभु को पुकारता है तो सर्वव्यापी प्रभु तुरन्त उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। उन्हें वह प्रत्यक्ष अपने अन्तर्चक्षु के समक्ष ही उपस्थित पाता है। तभी तो वह कहता है- **"यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि।"** जो आपका वह कल्याणतम स्वरूप है, उसे मैं देखता हूँ। यहां पर एक बात और समझ लेनी है कि साधक प्रभु के जिस सत्य स्वरूप का यहां दर्शन कर रहा है, वह कहीं अन्यत्र से आकर उसके समक्ष प्रकट हो गया है, ऐसी बात नहीं है। उस सत्यस्वरूप से ही तो यह सब कुछ परिव्याप्त है। पहले मंत्र में ही श्रुति ने इसका निर्देश कर दिया है किन्तु वह इतना सूक्ष्म है कि एकाएक सामान्य दृष्टि का विषय नहीं बन पाता। उसकी सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् की श्रुति कहती है- **"दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः।"** केवल सूक्षमदर्शियों द्वारा ही वह सूक्ष्मतम बुद्धि से देखा जाता है।

यह सभी जानते हैं कि बीज ही वृक्ष का कारण है। विशाल वट वृक्ष उसके उस नन्हें से बीज में ही निहित होता है किन्तु बीज सर्वथा अदृश्य है, वह दृष्टि का विषय नहीं हो सकता। ज्ञानदृष्टि से ही उसे देखा जा सकता है, जाना जा सकता है। जनसामान्य के लिए तो यथार्थ में बीज क्या है, यह समझना ही कठिन है। जैसे वट बीज के रूप में एक जो नन्हा सा पदार्थ दिखाई देता है, वस्तुतः वह बीज नहीं वह तो बीज का आवरण मात्र है। दूसरे शब्दों में उसे 'बीज का प्रथम आहार भी कहा जा सकता है। किसी भी बीज को तोड़िए उसमें आपको दो भाग दिखाई देगा। उन दो भागों के मध्य में बहुत सूक्ष्म सा आकाश

है, उस आकाश में निहित सूक्ष्मतम तत्त्व ही बीज है, जिसे हमारी आँखें देख नहीं सकती। भूमि में पड़ने पर उसकी ऊष्मा से उत्तेजित हो वह बीज गतिशील हो जाता है और सर्वप्रथम उसके आवरक पदार्थ ही उसके आहार बनते हैं, फिर वही बीज अंकुर के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि बीज दृश्य नहीं अदृश्य है, आकाश से भी सूक्ष्म है, किन्तु उस अदृश्य से ही प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह विशाल वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। यह कहानी केवल वृक्ष की ही नहीं, मनुष्य शरीर की भी यही स्थिति है। उपनिषदों में उसे भी वृक्ष कहा गया है। इतना ही नहीं, यह ब्रह्माण्ड भी एक विशाल वृक्ष ही है। उपनिषद् और गीता इस अनन्त ब्रह्माण्ड को अश्वत्थ वृक्ष के रूप में ही देखती है और वर्णन करती हैं। गोस्वामी जी ने अपनी रामायण में भी इस विश्व रूपी वृक्ष का वर्णन किया है और इसके बीज को अव्यक्त कह कर सम्बोधित किया है। उनका कथन है—

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध शाखा पंच बीस अनेक पर्ण सुमन घने।।
फलजुगल बिधि कटु मधु बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।।

इस संसार रूपी विशाल वृक्ष का वह मूल बीज अव्यक्त है, अदृश्य, अवांगमनसगोचर है। उसकी इसी अदृश्यता के नाते भगवान् बुद्ध ने उसे शून्य कहा है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि वह कारण तत्त्व सर्वथा अदृश्य है तो उसे कैसे जाना जा सकता है? इसका सरल-सा, सीधा-सा समाधान यह है कि जिस ज्ञान से यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् जाना जाता है, देखा जाता है, वह ज्ञान भी अदृश्य है। जिस शब्द के माध्यम से ज्ञान का आदान-प्रदान करते हैं, यद्यपि वह शब्द भी अदृश्य है किन्तु उसे आगोचर नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह श्रवण इन्द्रिय का विषय है। शब्द स्वयं में ज्ञान नहीं, वह ज्ञान का वाहक है। ज्ञान यथार्थतः वाणी और मन आदि का विषय नहीं, वह ज्ञाता का स्वरूप है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि वह परम सत्यस्वरूप परमेश्वर जो अनन्त ब्रह्माण्ड रूप दृश्यों का मूल कारण है, सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सामान्य दृष्टि का विषय नहीं, सामान्य दृष्टि तो उसकी महिमामयी किरणों को ही देख पाती है, उसके तेज को ही जान पाती है। तभी तो ऋषि प्रार्थना करते हुए कहता है- हे विश्व पोषक ! हे सर्वज्ञ प्रभो ! हे विश्व नियामक ! हे परम प्रकाश स्वरूप ! हे सर्वपालक ! मुझ सत्य के अभिलाषी पर अनुग्रह कर, आप अपनी इन रश्मियों को बटोर लीजिए, आप अपने इस तेज को समेट लीजिए, जिससे मैं आपके सत्य

स्वरूप को देख सकूँ। यहां रश्मि और तेज ये दोनों ही आवरक तत्व हैं किन्तु इन दोनों का उस सत्य से अभिन्न सम्बन्ध है। ये दोनों ही सत्य की महिमा हैं। सत्यधर्मा ऋषि अब इनकी यथार्थता को जान गया है, इसलिए अब वह न तो इनकी उपासना करना चाहता है और न इनमें अनुरक्ति ही। जिसे प्रार्थना के पूर्व के मंत्रों में अविद्या और विद्या कहा गया है, वे ही यहाँ पर रश्मिन् और तेज शब्द से सम्बोधित किये गये हैं। जो रश्मियों की उपासना करने वाले हैं, जो तेज में अनुरक्त होने वाले हैं, वे सत्य के यथार्थ दर्शन से वंचित ही रह जाते हैं किन्तु जो इनकी यथार्थता को जान जाते हैं, वे इनसे विरत हो इनके परम आश्रयरूप उस परमसत्य का साक्षात्कार करने के लिए आकुल हो जाते हैं। आकुल हृदय की पुकार वह सर्वसुहृद परमपिता परमात्मा सुन लेता है और द्रवित हो उस सत्यधर्मा के लिए इन आवरणों को हटा देता है, उसके समक्ष स्वयं को प्रकट कर देता है। तभी तो ऋषि कहता है- "यत् ते कल्याण तमं रूपं तत् ते पश्यामि।" यह उपनिषद् वाक्य सिद्ध करता है कि प्रार्थी की प्रार्थना प्रभु ने सुन ली और उसके सामने अपने सत्-स्वरूप को प्रकट कर दिया है।

मंत्र के इस तीसरे चरण में परमात्मा के इस सत् स्वरूप को ऋषि कल्याणतम स्वरूप बता रहा है। यह 'तम' प्रत्यय उत्तमतम विशेषण में प्रयुक्त होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि इससे पूर्व परमात्मा के दो रूप और हैं, जिसे उत्तम और उत्तमतर कहा जाता है। ऋषि उन दोनों स्वरूपों का भी दर्शन प्राप्त कर चुका है तभी तो अब प्रभु के इस सत्-स्वरूप को कल्याणतम घोषित कर रहा है। मेरे विचार से रश्मि और तेज, ये दोनों ही प्रभु के कल्याणमय और कल्याणतरमय स्वरूप हैं। दूसरे शब्दों में जिसे अविद्यामय क्षर जगत् कहा जाता है, वह प्रभु का कल्याणमय रूप है। जिसे विद्या तथा अक्षर कहा जाता है, वह प्रभु का कल्याणतर रूप है और वह जो इन दोनों का परम आश्रय सत्स्वरूप है, वह प्रभु का कल्याणतम रूप है। गीता में इसे क्षर, अक्षर और अव्यय कहा गया है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि यह विराट् विश्व प्रभु का कल्याणमय रूप है। यथार्थतः इसे कल्याणमय कहा जाना अनुचित नहीं है क्योंकि यह प्रभु की विभूति है। अनादि अविद्याग्रसित जीवों के कल्याणार्थ ही प्रभु के इस कल्याणाकारी विश्व का आविर्भाव होता है। यह प्रभु का महिमामय स्वरूप है। जो लोग प्रभु के इस स्वरूप को मिथ्या, भ्रमपूर्ण तथा अकल्याणकारी मानते हैं, वे वैदिक विचारधारा के सर्वथा विपरीत विचार वाले हैं। मेरे विचार से उनकी वैदिक विज्ञान से अनभिज्ञता ही इसमें कारण है। यहाँ पर एक बात और भी ध्यान रखना है कि प्रभु का कल्याणमय, कल्याणतर तथा कल्याणतम स्वरूप

भिन्न-भिन्न नहीं है, यह उसकी समग्रता के ही अवबोधक हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इन्हें ही भोग्य, भोक्ता और प्रेरिता के रूप में वर्णन किया गया है-

भोक्ता भोग्य प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।।

(श्वेता० 1/12)

प्रभु का कल्याणमय रूप यह आधिभौतिक जगत् है, जिससे हमें सब प्रकार के साधन उपलब्ध होते हैं। इन साधनों से ही हमें सुख-सुविधा की प्राप्ति होती है। यदि हम इसी की उपासना में लग जाएँ तो अन्धकार में ही प्रवेश पाएँगे, अभिप्राय यह कि जन्म-मरण के प्रवाह में ही पड़े रहेंगे। प्रभु का दूसरा रूप अक्षर है, वह अधिदैव जगत् है। गीता में उसे **"पुरुषश्चाधिदैवतम्"** कहा है। यह अधिदैव पुरुष ही विद्या तत्त्व है, इसमें रमण करने वाले भी उस सत्य से दूर ही रह जाते हैं। यद्यपि यह अक्षर है, अमृतस्वरूप है, फिर भी यही जीव के जीवन का साध्य नहीं, यहां द्वैत भाव बना रहता है। परिणाम,ताप, संस्कार रूपी दु:खों की संभावना यहां भी बनी रहती है। यद्यपि यह कल्याणतर स्वरूप है फिर भी इसमें रमण करने वाले घोरतम अंधकार में प्रवेश पाते हैं क्योंकि वे स्वर्गीय सुखों के उपभोग में इतने उन्मुक्त हो जाते हैं कि उन्हें प्रभु के सत् स्वरूप को जानने की अभिलाषा ही नहीं होती। इसीलिए तो श्रीरामचरितमानस में प्रभु की स्तुति करते हुए स्वयं ब्रह्मदेव इस कल्याणतर रूप में रमण करने वाले अमृतत्त्व को प्राप्त हुए देव जीवन को धिक्कारते हुए कह रहे हैं-

कृत कृत्य बिभो,सब बानरए। निरखंति तवानन सादरजे।।
धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भवभूलि परे।।

"हे विभो ! ये सब बानर कृतकृत्य हो गए हैं, क्योंकि ये आदर एवं अनुराग सहित आपके मुखार्विन्द का दर्शन कर रहे हैं। हम देवगणों का तो जीवन ही धिक्कार के योग्य है क्योंकि भोगासक्त हो हम आपकी पावन भक्ति को ही भुला कर, इस संसारगर्त में पड़े हुए हैं।" देवलोक में भी द्वैत भाव बना रहता है, भेदभाव का प्राबल्य रहता है। जहाँ द्वैत है, भेद है, वहां भय से मुक्ति नहीं। भय स्वयं में एक महा क्लेश है, दु:ख रूप है, इसीलिए ब्रह्मदेव प्रार्थना करते हुए कह रहे हैं- **"अब दीन दयाल दया करिए। मति मोरि विभेदकरी हरिए।।"** हे दीनों पर दया करने वाले प्रभो! अब मुझ पर दया करके मेरी विभेदकारी मति को हर लीजिए, हमें अभेद का बोध हो, ऐसी मति प्रदान कीजिए। यह अभेद बुद्धि वा अभेद दृष्टि प्रभु की कृपा से ही प्राप्त हो पाती है। उसको प्राप्त कर ही

साधक परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करता हैं।

इस विवेचन से आप लोग समझ गए होंगे कि सत्यधर्मा साधक प्रभु के जिस स्वरूप को प्रत्यक्ष देख रहा है, वह उनका कल्याणतम स्वरूप है। इस के दर्शन से ही भेदभाव का अवसान हो जाता है। इसे फिर एक वार समझ लें, प्रभु का अधिभूत रूप कल्याणमय है, अधिदैव रूप कल्याणतर है और परात्पर स्वरूप कल्याणतम है। अधिभूत में त्रैतभाव, अधिदैव में द्वैतभाव की स्थिति बनी रहती है। प्रभु के इस परात्पर स्वरूप का साक्षात्कार होने से ही अद्वैत की अवस्था प्राप्त होती है। वहां पर पहुँच कर अविद्या और विद्या, दोनों के बीज निःशेष हो जाते हैं, आवागमन का चक्र सदा के लिए समाप्त हो जाता है, आनन्द को प्रत्यक्ष कर साधक आनंदमय हो जाता है। उसकी आनन्दानुभूति आह्लादमय शब्दों में प्रस्फुटित हो जाती है और वह परमानंद में निमग्न हो पुकार उठता है- **"योऽसावसौ पुरुष : सोऽहमस्मि।"** द्वैत समाप्त हो गया, भेद समाप्त हो गया, अब यहाँ न साधक रहा, न साधन और न साध्य ही। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी समाप्त हो गई। ब्रह्मविद्या का प्रयोजन पूर्ण हो गया, यही उपनिषद् का अन्तिम प्राप्तव्य है।

भारत दार्शनिकों की जन्मभूमि है, उसका एक नाम आर्यावर्त्त भी है। श्रेष्ठ पुरुषों का बार-बार यहाँ आविर्भाव होता रहता है। भारत शब्द स्वयं में भी **'भायाँ रतम्'**, इस निर्वचन से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होता है प्रकाशरत। वेद में **'भारतम् जनाः'** कह कर यहाँ के निवासियों की महिमा गाई गई है, जिसका अर्थ होता है प्रकाशरत लोग। भारत की पवित्र भूमि में ऐसे प्रकाशरत, विवेकरत, तत्त्वद्रष्टा महापुरुषों का आविर्भाव होता रहता है। यही कारण है कि इस पावन भूमि में आविर्भूत हुए सभी मनीषियों, सत्यद्रष्टा ऋषियों का यहाँ समान रूप से आदर होता रहा है और आज भी होता है। उस परम सत्य की विविध अवस्थाओं, विविध स्थितियों में रहते हुए देखने वाले सुधीजनों ने विविध प्रकार के सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की है। अनादि तथा अपौरुषेय वेदवाणी उन सभी सिद्धान्तवादियों का, उनकी स्थिति अनुसार समर्थन करती है, किन्तु वेद का अन्तिम उद्देश्य अभेद की प्रतिष्ठा है। परमसत्य की अनुभूति ही इस अभेदानुभूति का मूल कारण है। भारत में वैदिक साहित्य में आस्था रखने वाले आचार्यों ने अपनी अनुभूति के अनुसार अनेक प्रकार के वादों की प्रतिष्ठा की है। वेद के कर्मकांडात्मक, उपासनात्मक मंत्रों में उन सभी वादों का समर्थन प्राप्त हो जाता है किन्तु जिसे वेदान्त कहते हैं, वहां

भेद के लिए स्थान नहीं रह जाता। ईशापनिषद् का यह सोलहवां मंत्र वेदान्त शब्द को सार्थक करता है और यह घोषित करता है कि अद्वैतानुभूति ही परमसत्य है, वही जीव का परम लक्ष्य है। यद्यपि इसे त्रैतवादी, द्वैतवादी स्वीकार नहीं करते, द्वैताद्वैतवादी तथा विशिष्टाद्वैतवादी भी इस वेद की स्पष्ट घोषणा को स्वीकार करने में कतराते हैं, किन्तु बात बिल्कुल स्पष्ट है, सीधी है, इसमें हेर-फेर के लिए कहीं कोई गुंजायश नहीं। जो लोग यह कहते हैं कि जीव कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता, यह बात बिल्कुल सत्य है, किन्तु यहां जीवत्व और ईश्वरत्व की बात नहीं है। यह मैं पहले ही बता चुका हूं कि जीवत्व नित्य तत्त्व नहीं, वह चित्तगत चेतनांश की अवस्था विशेष है। हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान, अहमिति और अभिमान, ये उसके स्वाभाविक धर्म हैं, किन्तु ये सब कुछ उसे प्रिय नहीं। वह जिस चैतन्यघन का अंश है, वह आनंदस्वरूप है, रसस्वरूप है और स्वभावतः अंशी के गुण-धर्म अंश में भी विद्यमान रहते हैं। इसलिए वह जीवभाव को प्राप्त हुआ चेतनांश सदैव अपने सत् स्वरूप की खोज में निरत रहता है। सद्गुरु कृपाप्रसाद से जब कभी वह उपलब्ध साधनों का समुचित प्रयोग करता हुआ जगत् और जीवन के यथार्थ स्वरूप को जान जाता है, तो इनसे विरत हो वह अपने कारणस्वरूप परात्पर प्रभु के दर्शन की उत्कट लालसा से आकुल हो, उन्हीं से प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना सुनी जाती है और वह अपने कारण के साथ अभिन्नानुभूति करते हुए सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। उसकी इस कृतकृत्यावस्था में द्वैत तथा नानात्व समाप्त हो जाता है और सोऽहमस्मि की अनुभूति उसे आनन्द से भर देती है। वह स्वयं में पूर्ण तथा तृप्त हो जाता है। यह है ब्रह्मविद्या का सार-सर्वस्व।

साधक की साधना में प्रकृति के दोनों रूपों का प्रयोग होता है। योगदर्शन में प्रकृति का प्रयोजन पुरुष के लिए भोग और मोक्ष की सिद्धि बताया है। प्रकृति के दो भेद हैं- परा और अपरा। उन्हीं को विद्या और अविद्या भी कहा जाता है। यजुर्वेद के ऋषि ने उन्हें ही- **श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।** हे प्रभो ! श्री और लक्ष्मी, ये दोनों ही आपकी पत्नियां हैं। इसमें लक्ष्मी भोगप्रदा और श्री मोक्ष की प्राप्ति में, पूर्णत्व की प्राप्ति में सहायक होती है। श्री को ही प्रभु की आह्लादिनी शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है, यही भक्तिस्वरूपा कही गई है। जीवों पर अनुग्रह कर उसे प्रभु के सन्मुख करना श्री का सहज स्वभाव है। यही जीवों की मां भी कही जाती है। भगवान् ने गीता के सातवें अध्याय में इसे जीवभूता कहा है। परमात्मा की इन द्विविध शक्तियों के द्वारा ही जीव के जीवन का प्रयोजन सिद्ध होता है। प्रभु की अनन्त महिमा की अनुभूति भोग है और उनके सत्

स्वरूप में अनुरक्ति ही मोक्ष कहा जाता है। ईशोपनिषद् के सोलहवें मंत्र का अन्तिम चरण उसी मोक्षावस्था, पूर्णावस्था की घोषणा करता है- 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।' इस मंत्र के तीसरे चरण में ऋषि ने प्रभु के सत् स्वरूप का दर्शन किया है, इसीलिए वह कहता है- 'ते तत् रूपं पश्यामि।' "मैं तुम्हारे उस रूप को देखता हूँ।" यजुर्वेद का एक मंत्र कहता है- 'तदपश्यत् तदभवत्, तदासीत्।' उसको देखा, वही हो गया क्योंकि वही था। अभिप्राय यह है कि माया वा उसकी महिमा के आवरण से ही वह स्वयं को भिन्न मानता था,प्रत्यक्षदर्शन से अज्ञानजन्य मान्यता समाप्त हो गई। उसको देखते ही वही हो गया। श्रुति इसका समाधान करते हुए कहती है कि यह उसकी अद्वैतानुभूति आगन्तुक नहीं, नई नहीं, वह वही था। तदासीत्, यथार्थतः जो था उसी का अनुभव हो गया, कल्पित द्वैत मिट गया, प्राप्तव्य व कर्त्तव्य, सभी कुछ सदा के लिए समाप्त हो गये।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यदि जीवात्मा यथार्थतः परमात्मा से अभिन्न है तो उसकी अनुभूति सभी के लिए सुलभ क्यों नहीं? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि यह अभिन्नानुभूति सभी के लिएउतनी ही सुगम है जितनी इस वैदिकऋषि के लिए है। कठिनाई अनुभूति में नहीं,अनुभूति करने वाले की लालसा में है। जब तक आधिभौतिक जगत् के उपभोग की लालसा है, जब तक आधिदैविक जगत् के सुख की लालसा है, तब तक उस परमतत्त्व के दर्शन की लालसा जागृत ही नहीं होती। सूर्य की उपस्थिति कुछ भी अर्थ नहीं रखती यदि आपकी आँखें उसकी तरफ न जाएँ। इसी रूप से यदि आप की चाह, आपकी दृष्टि उस परम सत्य को देखने के लिए लालायित न हो, उसका होना वा उससे अभिन्न संबंध का होना क्या अर्थ रखेगा? आप लोगों ने भगवान् बुद्ध की कहानी सुनी होगी। जिस कोचवान ने उन्हें वृद्ध, रोगी और मृत व्यक्ति को दिखाया था, जिन दृश्यों का देखकर राजकुमार सिद्धार्थ को अपने राज्यपद से विरक्ति हो गई थी, जिनको देखकर वे राज्य छोड़ कर भिक्षु बन गए थे, उन दृश्यों को दिखाने वाले कोचवान ने अपनी कोचवानी नहीं छोड़ी थी। इसमें संदेह नहीं कि वह परात्पर प्रभु ही सभी जीवों का मूल स्रोत है, सभी जीव उससे हैं और उसमें हैं, वही सब का परम आश्रय है, किन्तु इस परम सत्य का प्रत्यक्ष हुए बिना अक्षय सुख की उपलब्धि नहीं होने की। उसके साक्षात्कार में कितना समय लग सकता है? उस परम सत्य का बोध होने में कितने समय की आवश्यकता है? इसके उत्तर में महर्षि वशिष्ठ ने योगवशिष्ठ में कहा है कि जितनी देर एक पके हुए फल का डाल से टूटने में लगता है, उतना समय ही उस परम सत्य का बोध होने में

लगता है। आप कहेंगे पके हुए फल को गिरने में तो कोई देर नहीं लगती? यह बात सही है कि फल को गिरने में समय नहीं लगता किन्तु उसको पकने में तो समय लगता है? यहां यह एक बात और समझ लें, यदि किसी आँधी से, तूफान से, कोई कच्चा फल गिर जाए तो वह निरुपयोगी ही सिद्ध होता है, उससे नए बीज का जन्म नहीं होता, उसी प्रकार से साधन द्वारा विशुद्ध चित्त में ही उस परम सत्य के दर्शन की लालसा जागृत होती है, वही उसके दर्शन का यथार्थ अधिकारी हो पाता है। यदि कोई किसी दुर्घटनावश, आघातवश या किसी परिस्थितिवश संसार से विरत हो जाए, तो वह एकाएक उस परमसत्य के दर्शन का अधिकारी नहीं बन जाता। साधन, स्वाध्याय द्वारा शुद्ध हुए चित्त में ही संसार की यथार्थता का बोध होता है। बोध ही विरक्ति में हेतु बनता है। विरक्त चित्त में सत्य के प्रति अनुरक्ति का उदय होता है, तभी वह उसके दर्शन का पात्र बनता है।

इस मंत्र के अंतिम चरण में "**यः असो असौ पुरुषः सः अहम् अस्मि**" ऐसा कहा गया है। यहां "असौ" शब्द का अभिप्राय सूर्य में स्थित पुरुष से है, ऐसा कुछ विद्वानों का कथन है। वह जो पुरुष है वह मैं हूँ। बृहदारण्यक उपनिषद् में सूर्य मंडलस्थ पुरुष का वर्णन है। यहां पर साधक उसी के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव कर रहा है, ऐसा कुछ आचार्यों ने माना है। किन्तु मेरे विचार से यह जो "असौ" शब्द का प्रयोग है, वह सूचित कर रहा है कि ऋषि इस वाक्य से उस पार वाले पुरुष की तरफ संकेत कर रहा है। यहां पर यह भी स्मरण रखना है कि उपनिषद् का यह ऋषि अविद्या और विद्या, असंभूति और संभूति, दोनों से पूर्णरूपेण अवगत है और उनसे परे उनका आश्रय जो सत्स्वरूप पुरुष है, उसके स्वरूपदर्शन की प्रार्थना कर रहा है, सूर्यमंडल और तदस्थ पुरुष की नहीं क्योंकि यह विद्या से परे नहीं है। यहां उस पुरुष की बात की जा रही है, जिससे परे और कुछ नहीं है, जिसके विषय में कठोपनिषद् की श्रुति कहती है-

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।

(कठ० 1/3/11)

यह उपनिषद् जिस पुरुष को परमगति के रूप में संकेत कर रही है, उसी पुरुष की बात ईशोपनिषद् की यह श्रुति भी कर रही है। कठोपनिषद् द्वारा प्रतिपादित पुरुष से पूर्व अव्यक्त की स्थिति बताई गई है, वही अव्यक्त इस उपनिषद् के पन्द्रहवें मंत्र में हिरण्यमय पात्र कहा गया है। इसलिए अव्यक्त से परे जो पुरुष है, सोलहवें मंत्र का ऋषि उसी का दर्शन कर रहा है। अव्यक्त के

कार्य ही यहां रश्मियां हैं और अव्यक्त का स्वरूप जो उस परम चैतन्य से प्रकाशित हो रहा है वही तेज है। सत्यधर्मा ऋषि अव्यक्त के कार्य-कारण, दोनों स्वरूपों को रश्मि और तेज के रूप में संकेत करता हुआ, उस परात्पर पुरुष से उसे हटा लेने और समेट लेने की प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना सुनी जाती है। दयासागर प्रभु उस प्रार्थी पर दया कर अपनी उस अव्यक्त माया को उसके कार्य और स्वरूप सहित समेट लेते हैं। अब वह सत्यधर्मा प्रभु का प्रत्यक्ष दर्शन करता हुआ कहता है कि वह उस पार का जो पुरुष है "वह मैं हूँ"। यह अभिन्नानुभूति ही उसकी परमगति है, जिसे वह प्राप्त कर लिया है। यही उपनिषदों का सार है, यही गीता प्रतिपादित बुद्धियोग का चरम लक्ष्य है।

यहां पर जो बातें इस मंत्र की व्याख्या में बताई गई हैं, वे सुनने में जितनी रोचक और मधुर हैं, करने में उतनी ही कठिन। यही मानव जीवन का ध्येय है। जो व्यक्ति जहां है वहीं से उस ध्येय को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हो, यही उसके लिए उचित है। केवल साध्य की महिमा सुनकर अपनी स्थिति का बिना विचार किए, यदि कोई किसी ऐसे साधन को अपना लेता है जो उसकी स्थिति के अनुकूल नहीं होता, उससे उसे केवल निराशा ही प्राप्त होती है। इसीलिए इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही साधक को क्रमिक विकास करने की विधि समझाई गई है। त्याग के साथ भोग तथा भौतिक पदार्थों में आसक्त न होना, लालची न बनना, कर्मानुष्ठान करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की लालसा करना, ये सब बातें साधक की प्रारम्भिक अवस्था के लिए ही बताई गई हैं। यदि समझ कर अवस्थानुसार साधन अपनाया जाएगा, तभी उसमें सफलता प्राप्त हो सकेगी अन्यथा नहीं। वेद का यह महावाक्य "सोऽहमस्मि" साधक की चरमावस्था का अवबोधन कराता है। उस अवस्था को प्राप्त हुए बिना यदि इस महावाक्य का उद्घोष किया जाए तो गोस्वामी जी के शब्दों में व्यक्ति के अधःपतन में ही कारण बनेगा। गोस्वामी जी कहते हैं—

ब्रह्मग्यान जान्यो नहीं करम दिया छिटकाए।
तुलसी ऐसी आत्मा सहज नरक को जाए।।

जिसे यथार्थतः परमतत्त्व की अनुभूति नहीं हुई और अपने कार्यकर्मों का त्याग कर दिया है, ऐसे व्यक्ति की आत्मा अधःपतन को ही प्राप्त होती है। यहाँ अधःपतन को ही नरक शब्द से सम्बोधित किया गया है।

शास्त्रकारों का कथन है कि मनुष्य को बहुत सजगता के साथ साधन मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए। आवेश में आकर किसी साधनपथ पर छलांग लगाने

की आवश्यकता नहीं, जहां हैं वहीं से अपनी यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिए। प्रभु का कथन है 'अनिर्विणचेत्तसा' अर्थात् बिना उकताए हुए चित्त से धैर्य के साथ ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्ति मार्ग का आश्रय ले साधनपथ पर अग्रसर होना चाहिए, सफलता अवश्य मिलेगी, इसमें संदेह नहीं। यह याद रखें, इस पथ पर चलने वालों के लिए प्रभु की घोषणा है "न मे भक्ताप्रणश्यति" मेरे भक्त का कभी भी नाश नहीं होता, पतन नहीं होता। विषयासक्त मनुष्य के लिए गीता के दूसरे अध्याय में प्रभु ने स्वयं कहा है "बुद्धि नाशात्प्रणश्यति"। किन्तु यह स्थिति प्रभु की प्राप्ति के पथ पर चलने वालों के समक्ष नहीं आती। दृढ़ विश्वास तथा धैर्य के साथ सत्यधर्मा होकर परमतत्त्व को प्राप्त करने की, उसको प्रत्यक्ष करने की दृढ़ लालसा लिए हुए प्रभु को पुकारो, वे तुम्हारी पुकार अवश्य ही सुनेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

साधक के लिए संसार से पलायन की बात वेदान्त नहीं सिखाता, वह केवल इतना ही बताता है कि जो कुछ तुम्हारे आस-पास है जिससे तुम्हारा सम्बन्ध है, जिसका तुम उपयोग वा उपभोग कर रहे हो, वह सब प्रभु का है और उन सब में प्रभु का वास है। इतनी बात सदैव याद रखनी है कि किसी वस्तु का होना बंधन में कारण नहीं, उसमें आसक्ति का होना ही बंधन में कारण है। इसीलिए श्रुति प्रारम्भ में ही आदेश देती है "मा गृधः"। इस आदेश में पदार्थ का निषेध नहीं किया गया है बल्कि उसके प्रति गृध दृष्टि वा आसक्ति का निषेध है। इसी प्रकार से "तेन त्यक्तेन भुंजीथा"। इस वाक्य में भी भोग का निषेध नहीं बल्कि त्यागपूर्वक भोग की विधि बताई गई है। इस सारे विवेचन से आप लोग समझ गए होंगे कि वैदिक सिद्धांत मनुष्य के लिए कितना प्रैक्टीकल है, कितना व्यावहारिक है? इसके साथ ही एक बात और भी याद रखनी है कि जिस प्रकार एक सुयोग्य विद्यार्थी अपने अध्ययन के साथ ही अन्य विद्यार्थियों के लिए भी अपनी योग्यता का उपयोग करता रहता है, जैसे बड़ी कक्षा में पढ़ने वाला बड़ा भाई अपने छोटे भाईयों को भी साथ-साथ पढ़ाता रहता है, उनका मार्गदर्शन करता रहता है, उसी प्रकार से आप लोग भी अपनी साधना में निरत रहते हुए अपने अन्य साथियों को भी इस दिशा में प्रेरित करें। अपनी योग्यता और समझ के अनुसार उनकी साधना में सहायक बनें, तभी आप इस ब्रह्मविद्या प्रतिपादित तत्त्वविज्ञान को जनमानस तक पहुँचाने में सहयोगी बन सकेंगे। तैत्तिरीय की श्रुति ने स्वाध्याय के साथ ही प्रवचन का आदेश दिया है- "स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।" जिस प्रकार स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करने का आदेश है, उसी प्रकार सुने हुए, जाने हुए, समझे हुए ज्ञान के

प्रवचन में भी प्रमाद न करने का श्रुति आदेश देती है।

मुझे विश्वास है कि जिस ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित विज्ञान का आप लोग श्रवण कर रहे हैं, उसका मनन करते हुए उसे स्वयं के जीवन में भी प्रतिष्ठित करेंगे और साथ ही अन्य जिज्ञासुजनों तक उसे पहुँचाने का भी प्रयत्न करेंगे। यह याद रखें, साधना की प्रारम्भिक अवस्था में कर्मत्याग की विधि नहीं है, कार्यकर्मों के अनुष्ठान का आदेश है। किन्तु वह आदेश विवेकयुक्त कर्म के लिए है, वासनायुक्त कर्म के लिए नहीं। जिस प्रकार से दोनों पंखों से पक्षी उड़ता है, उसी प्रकार से बोधयुक्त कार्यकर्मों के साथ ही उस परमेश्वर तक पहुँचने की साधना की जाती है। इस प्रकार के साधन से ही साधक मल और विक्षेप का निराकरण कर पाता है। मल-विक्षेप रहित अवस्था को प्राप्त होने पर ही वह सत्यधर्मा मायारूपी आवरण को दूर करने की प्रभु से प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना सुनकर प्रभु अपने अनुग्रह से आवरण को हटा देते हैं, जिससे वह उस परमपुरुष का साक्षात्कार कर उसके साथ अभिन्नता की अनुभूति कर आनन्द में निमग्न हो यह उदघोष करता है

यत ते कल्याणतमं रूपं तत ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।

ऋषि के शब्दों में आप लोग भी इस महावाक्य का स्मरण करते हुए, स्वयं को धन्य बनावें। इसी शुभकामना के साथ आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है।

हरि ॐ तत्सत्
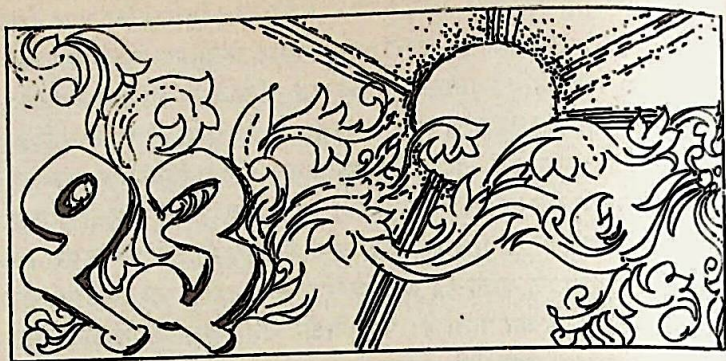
मेरी प्रिय आत्माओ !

आप लोग ईशोपनिषद् की व्याख्या सुन रहे हैं। कल मैंने सोलहवें मंत्र के अन्तिम चरण का विवेचन करते हुए यह बताया था कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य उस परमात्मा के साथ अभिन्नानुभूति है। उपनिषद् के शब्दों में जिसे "सोऽहमस्मि" कहा गया है, उस अवस्था को प्राप्त करके ही अविद्या, अज्ञान, अभाव, भय तथा मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है, वही परमशान्ति एवं नित्यानंद की अनुभूति की अवस्था है। उपनिषद् उस अवस्था को प्राप्त किए हुए महापुरुष के विषय में कहती है- "सः स्वराट भवति।" वह स्वयं का सम्राट हो जाता है। अभिप्राय यह कि वह स्वराज्य अर्थात् आत्मराज्य को प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति में "—न विभेति कुतश्चनः।" वह किसी से भयभीत नहीं होता क्योंकि उसके अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं रह जाती। भगवान् ने गीता में उस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि -"ब्रह्मविद ब्रह्मणिस्थितः।" ब्रह्मवेत्ता पुरुष उस सच्चिदानंदघन ब्रह्म में स्थित है। वहां दूरी नहीं है, भेद नहीं है, द्वैत नहीं है। अद्वैत की, एकत्व की अनुभूति के साथ ही ऋषि उस परम सत्य की घोषणा कर रहा है "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"। श्रुति का कथन है कि किंचित मात्र भी यदि भेद की स्वीकृति रह जाए तो साधक मृत्यु के भय से कभी भी मुक्त हो नहीं सकता क्योंकि दूरी में द्वैत और द्वैत में भय सदैव बना रहता है। भेद की अवस्था में जो सुख, शान्ति की कल्पना की जाती है, वह केवल कल्पनामात्र ही होती है। उस अवस्था में सुख की उपलब्धि नहीं केवल सुख का आभास मात्र होता है। परम शान्ति और शाश्वत सुख की उपलब्धि तो अद्वैत का ही प्रतिफल है। ब्रह्मविद्या का वही प्राप्तव्य है। यहां पर एक बात और समझ लें। सोलहवें मंत्र के अन्तिम चरण में ऋषि जिसके साथ अभेद की अनुभूति कर रहा है, उसको वह पुरुष शब्द से

सम्बोधित करता है। सांख्य दर्शन में 'पुरुष' शब्द विशुद्ध चैतन्यघन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वैदिक साहित्य में इस शब्द का प्रयोग परम चैतन्यघन सच्चिदानन्द के अर्थ में भी हुआ है, विराट रूप में अभिव्यक्त कार्यब्रह्म के लिए भी हुआ है और व्यक्ति रूप में अवस्थित जीव के लिए भी हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है-"पुरिशेते इति पुरुषः, पुरीतति शेते पुरुषः, पुरः आविशत् पुरुषः।" बृहदारण्यक में इस प्रकार से पुरुष शब्द की व्याख्या की गई है। इस शरीर रूपी पुर मे अथवा ब्रह्माण्ड रूपी पुर में जो विश्राम कर रहा है, वह पुरुष है। इस विषय मे मैं पहले भी बता आया हूँ कि इस मंत्र में आया हुआ पुरुष शब्द उस परब्रह्म परमात्मा का अवबोधक है, जिसकी व्याख्या 'पूर्वम अर्षत् इति पुरुषः;' के रूप में की जाती है। ईशोपनिषद् के चौथे मंत्र में इसी भाव को अभिव्यक्त किया गया है। वह पूर्व का अर्थात् सृष्टि के आदि का भी ज्ञाता है। दूसरे शब्दों में जो सर्वज्ञ, सर्वरूप, सर्वद्रष्टा है, उस परात्पर पुरुष को ही ऋषि देख रहा है और उस के साथ एकत्व की अनुभूति कर रहा है। उसी को "यत् ते रूपंकल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"—इस मंत्र में अभिव्यक्त किया गया है। इस मंत्र के चार चरणों में साधक की चार अवस्थाओं का वर्णन है। पहले चरण में प्रभु की सत्ता और महत्ता का अनुभव करते हुए उनके साथ अपने नित्य संबंध का अनुभव करता है। दूसरे चरण में प्रभु के यथार्थ स्वरूप के दर्शन में जो आवरक तत्त्व है, उसे हटा लेने की प्रार्थना करता है। तीसरे चरण में साधक प्रभु का साक्षात्कार कर लेता है और चौथे चरण में उससे एकत्व की अनुभूति कर कृतकृत्य हो जाता है।

साधना के सम्बंध में चर्चा करते हुए मैंने एक दिन आपको बताया था कि साधना का प्रारम्भ त्रैतभाव से होता है और उसका पर्यवसान अद्वैत की अनुभूति में। इसकी तीन अवस्थाएं होती हैं, जिसे तवास्मि, त्वदेवासि और त्वमेवासि के रूप में अनुभव किया जाता है। पहली अवस्था में स्वीकार किया जाता है-हे प्रभु मैं तेरा हूँ। संसार से पूर्ण विरत हुआ साधक प्रभु के साथ अपने सम्बंध को जोड़ते हुए यह स्वीकार करता है कि अब मैं संसार का नहीं, किसी देश, जाति, व्यक्ति, परिवार का नहीं, केवल तुम्हारा हूँ। ऐसा निश्चय कर जब वह साधना में आगे बढ़ता है तो चित्त शुद्धि के साथ ही उसे यह अनुभूति होने लगती है कि मैं तुम्हारे से हूँ 'त्वत् एव असि'। इस अवस्था में किंचित् द्वैत शेष रह जाता है। किन्तु जब आवरक तत्त्व का निरसन हो जाता है, आवरण दूर हो जाता है, तब वह इस परम सत्य को प्रत्यक्ष करते हुए कहता है- 'त्वम् एव असि', तू ही है।

इस अवस्था में सर्वरूप में सर्वेश्वर का ही साक्षात्कार होने लगता है। भगवान् ने गीता में कहा है–

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

(गीता 6/30)

इस अवस्था को प्राप्त हुए महात्मा की प्रशंसा करते हुए प्रभु स्वयं कहते हैं- **"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।"** सर्वरूप में वासुदेव ही है, ऐसी अनुभूति को प्राप्त हुआ महात्मा दुर्लभ है। अभिप्राय यह कि लाखों में कोई एक इस अवस्था को प्राप्त कर पाता है।

वैदिक विचारधारा में साधना की दो प्रक्रियाएँ प्रचलित हैं। वर्तमान में उन्हें प्रायः लोग ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग नाम से जानते हैं। ज्ञानमार्ग में आत्मानुरक्ति को परम लक्ष्य माना है और भक्ति मार्ग में परमात्मानुरक्ति को। ज्ञानमार्ग में भी उपासना की महत्ता है, उसे अहंग्रह उपासना कहते हैं। इस मार्ग का साधक उच्चत्तम अवस्था में पहुँच कर अपनी आत्मा को ही सर्वरूप से अनुभव करता है। इसी प्रकार से जिनके विषय में पहले आप लोगों को बताया है, वे भक्ति मार्ग के पथिक जो 'तवास्मि' से अपनी साधना प्रारम्भ करते हैं, वे सिद्धावस्था में सर्वरूप में परमात्मा का ही साक्षात्कार करते हैं। तत्त्वतः इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों में कोई अन्तर नहीं है। एक ही अवस्था की दो रूपों में व्याख्या है। साधना भेद से ही यहाँ पर अनुभूति में भेद की बात कही गई है। लक्ष्य दोनों का एक है, प्राप्तव्य दोनों का एक है। यहां पर हिरण्यमय पात्र से आवृत्त जिस सत्य को प्रत्यक्ष करनें की प्रार्थना ऋषि ने की थी, आवरण हट जाने से अब उसे उसने देख लिया है और उसके साथ अपनी एकता को जान लिया है। वेद की इस प्रक्रिया में हमें श्रद्धा और मेधा दोनों का पूर्ण रूप से समन्वय दिखाई देता है। गीता में इसी समन्वय मार्ग का उपदेश है। भगवान् ने इस समन्वय मार्ग को बुद्धियोग के नाम से अभिहित किया है। मूल बात तो यह है कि जीव के चित्त में दोष रूप से आए हुए मल, विक्षेप और आवरण को दूर करना है। इनमें भी मूल तत्त्व आवरण है, वही मल और विक्षेप का भी हेतु है। शास्त्रकारों ने वासना को ही आवरण कहा है। वही इच्छा और कामना के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ करती है। इस वासना के चार भेद हैं- भोग वासना, भेद वासना, भाव वासना और अभाव वासना। इन चारों प्रकार की वासनाओं का मूल हेतु अविद्याजन्य अज्ञान है। अज्ञान के दूर होने पर ही इनका समूल नाश होता है। अज्ञान की सात अवस्थाएँ हुआ करती हैं। जिस प्रकार ज्ञान की सात भूमिकाएँ कही हैं,

उसी प्रकार अज्ञान की भी सात अवस्थाएँ हैं-बीज जागृत, जागृत, महाजागृत, जागृत स्वप्न, स्वप्न, स्वप्न जागृत और सुषुप्ति। इनको आप लोग और विस्तार से समझ लें।

चेतन से अभिभूत हुआ चित्त चेतनामय हो जाता है। उस चेतनामय चित्त में ही अहं का स्फुरण होता है। व्यष्टि चित्त के साथ सम्बन्धित हुए चेतन की संयोगावस्था ही बीज जागृत कही जाती है और जब उसमें अहं भाव का स्फुरण हो जाता है तो उसे जागृत कहते हैं। अहं का चित्त के साथ तादात्म्य हो जाना महाजागृत कहा जाता है। जिस अवस्था में "मैं हूँ" की अनुभूति होती है, जिस अवस्था में सीमित 'मैं' परिपुष्ट हो जाता है, वही महाजागृत अवस्था है। अहं के पश्चात् 'मम' का उदय होना स्वाभाविक है। 'मैं' के साथ ही मेरा का जन्म होता है। यह ममत्व की स्वीकृति ही संसार के प्रति उन्मुख होना है। इस अवस्था को ही जागृत स्वप्न कहते हैं और जब चित्तगत चेतन अथवा जीवात्मा उस ममत्व में रम जाता है, आसक्त हो जाता है, तो उसे स्वप्न कहते हैं। जब उसकी यथार्थता को स्वीकार कर उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है, तो उसे स्वप्न जागृत कहते हैं। सौभाग्य से विविध प्रयत्नों द्वारा जब उसे प्राप्त कर उसके भोग में पूर्णरूपेण स्वयं को उसी में खो देता है, उसको सुषुप्ति कहते हैं। यहां पर यह याद रखना है कि दैनिक जीवन में जिस जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति का प्रवाह चलता है, उसका यहाँ जिक्र नहीं है। यहाँ तो अज्ञान की सप्त भूमियों का स्वरूप बताया जा रहा है। इनका सम्बन्ध व्यष्टिरूप में जीवभाव की जागृति और उसका शरीर में ममत्व, उसमें रति, उसको सत्य मानने की भ्रान्ति, उसकी तृप्ति के लिए बाह्य विषयों को प्राप्त करने का प्रयत्न और उनके मिल जाने पर उनके भोग में पूर्णरूप से स्वयं की विस्मृति, जीव की इन्हीं अवस्थाओं की चर्चा की गई है। इस प्रसंग में अज्ञान की सातवीं भूमि को सुषुप्ति कहा गया है। यह सुषुप्ति चेतन की जड़ के साथ अभिन्नता की स्वीकृति और स्वयं मे जड़भाव की प्राप्ति का अवबोधक है। जो लोग पूर्णरूप से संसार मे खो चुके हैं, भूल चुके हैं, जिनके लिए केवल संसार के विषय और उनकी उपलब्धि ही जीवन का सर्वस्व बना हुआ है, यह सुषुप्ति उन्हीं का अवबोधन कराती है। भर्तृहरि के शब्दों में -

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।

वे भोग को नहीं भोग रहे हैं, भोग उनको ही भोगे जा रहा है। अभिप्राय यह कि वे पूर्णरूप से जड़ता को प्राप्त हो चुके हैं, संसार के संताप से संतप्त होते हुए

भी,दुःख-दारिद्रय को सहते हुए भी, चीखते, चिल्लाते, कराहते हुए भी, वे लोग उसी में निगग्न हैं, उस से अलग नहीं होना चाहते, उससे मुक्त होने की न उन्हें चाह होती है न उसकी कल्पना ही कर पाते हैं। उसी दुःख प्रवाह में, उसी संताप को सहते हुए एक नहीं अनेकों जन्म बीत चुके हैं और आगे भी पता नहीं कितने जन्म बीत जाएँगे। वे अविद्याजन्य घोर सुषुप्ति में ही पड़े हुए हैं, यह अज्ञान की घोरतम अवस्था है।

शास्त्र एवं सत्पुरुषों का कथन है कि अनेक जन्मों के प्रयत्न से भी जब जीव को इस जगत् प्रवाह में कहीं सुख, शान्ति की उपलब्धि नहीं होती, जब वह इससे पूर्णतया निराश हो जाता है, फिर इस जगत् और अपने जीवन के स्वरूप को, उसके कारण और प्रयोजन को जानने की इच्छा जागृत होती है। ईश्वरीय कृपा से प्राप्त हुआ सत्पुरुषों का संग ही इस प्रकार की शुभेच्छा में हेतु होता है। यहीं से जीवन के प्रवाह की दिशा परिवर्तित होती है। शास्त्रकारों ने जिस प्रकार से अज्ञान की सात भूमियों में जीव के घोर पतन का इतिहास वर्णित किया है, उसी प्रकार से ज्ञान की सात भूमियों में जीव के उत्थान की कथा का भी वर्णन है। ज्ञान की वे सात भूमियाँ इसी शुभेच्छा से ही प्रारम्भ होती हैं। शुभेच्छा ज्ञान की पहली भूमि है। गोस्वामी जी ने इसे सात्त्विक श्रद्धा के रूप में वर्णित किया है और प्रभु कृपा से ही इस सात्त्विक श्रद्धा वा शुभेच्छा का उदय होना बताया है। वे कहते हैं—

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई।।

पहली भूमि में मनुष्य जगत् से निराश हो इससे पार जाने के लिए किसी उपाय विशेष को ढूँढने में प्रवृत्त हो जाता है। उसकी चाह होती है कि कोई ऐसा सहायक वा मार्ग-दर्शक मिल जाए जिसके सहयोग से, जिसकी कृपा से मैं इस जगत् जाल से मुक्त हो जाऊँ, इस यातना से छूट जाऊँ, मुक्त हो जाऊँ। यह याद रहे कि जब तक संसार के भोगों से, उसके सम्बन्धियों से पूर्णरूप से निराशा नहीं हो जाती, तब तक इस संसार प्रवाह से, इस अज्ञानान्धकार से विमुक्त होने की शुभेच्छा का जन्म ही नहीं होता। जन्म-मृत्यु के प्रवाह से मुक्त होने की प्रबलतम चाह को ही शुभेच्छा कहते हैं। यह शुभेच्छा ज्ञान की पहली भूमि है। इस भूमिका को प्राप्त हुआ व्यक्ति योगदर्शन में विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति कहा गया है। इस अवस्था में पहुँचे हुए व्यक्ति को कहीं भी शान्ति वा स्थिरता नहीं मिलती, वह सदैव बेचैन ही रहा करता है। यह सन्मार्ग की खोज में प्रवृत्त हुए व्यक्ति की अवस्था है। यथार्थतः इस अवस्था को प्राप्त हुआ

व्यक्ति ही शास्त्र तथा सद्गुरु की कृपा का अधिकारी होता है। सौभाग्य से जब उस व्यक्ति को सत्संग वा सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है और उनके द्वारा बताए हुए जीवन और जगत् के यथार्थ स्वरूप को सुनकर, समझकर, उन पर विचार करने लगता है, तो वह ज्ञान की दूसरी भूमि में पहुंच जाता है। इस भूमिका का नाम विचारना है। सत्-असत् का विचार करते हुए स्वभावतः असत् से विरक्ति और सत् में अनुरक्ति का उदय हो जाता है और धीरे-धीरे परिवर्तनशील जगत् के सम्पूर्ण भोगों से तथा भोग साम्राज्य से मन दूर होने लगता है। इनकी तरफ़ बहने वाला मन का प्रवाह मंद होने लगता है, भोग वासनाएँ क्षीण होने लगती हैं। यह विचारना अवस्था का ही परिणाम होता है। इसमें सत्य और असत्य के विचार से असत् अर्थात् परिवर्तनशील पदार्थों की महत्ता क्षीण होने लगती है। यह ज्ञान की तीसरी भूमिका है, इसका नाम तनुमानसी है। तनु शब्द का अर्थ ही है क्षीण, निर्बल। जिसमें विचार के द्वारा अंतःकरण की वासनात्मक वृत्ति क्षीण होकर निर्बल हो जाती है, उस अवस्था को तनुमानसी कहते हैं। वासनाक्षय के साथ ही तमोगुण और रजोगुण का भी धीरे-धीरे क्षरण हो जाता है और साथ ही सात्त्विक आहार-विहार तथा विचार द्वारा सतोगुण की अभिवृद्धि हो जाती है। इस अवस्था में पहुँचा हुआ साधक शरीर, इन्द्रिय तथा मन से भी ऊपर उठ जाता है, मन का साम्राज्य ढ़ह जाता है ओर साधक बुद्धि में स्थित हो जाता है। बुद्धि में स्थित हो जाना यह ज्ञान की चौथी भूमिका है, इसका नाम सत्त्वापति है। बुद्धिस्थ हुआ साधक ही कार्य जगत् के यथार्थ स्वरूप को देख पाता है, जान पाता है और फिर उसके कारण को जानने और समझने में सक्षम हो पाता है। इस जगत् प्रवाह का कारण अविद्या है। यहाँ अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं, अष्टधा प्रकृति है। इस अष्टधा प्रकृति में बुद्धि का श्रेष्ठतम स्थान है, वही अव्यक्त की प्रथम अभिव्यक्ति है। ज्ञान की चौथी भूमिका में साधक उस बुद्धि में ही अवस्थित होता है और वहीं से उसके कार्य-कारण सम्बन्ध को देखता है, जानता है और उससे विमुक्त होने का उपाय ढूंढता है। यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि बुद्धि में स्फुरित होने वाला अहं, उस अपरिछन्न चैतन्यघन का ही अंश है, उसीकी अभिव्यक्ति है। सीमित बुद्धि में आविर्भूत होने से उसे जीव कहते हैं और अनन्त की अभिव्यक्ति होने से आत्मा। यही जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप है। जगत् प्रवाह से उपरत हो बुद्धिस्थ हुआ चेतन अपने कारण की अनुभूति कर बुद्धि और उसके कार्यों से पूर्णतया असंग हो जाता है। यह ज्ञान की पांचवीं भूमिका है, इसको असंसिद्धि कहते हैं, यह असंसर्ग अवस्था है। बुद्धि तथा उसके कारण हुआ सम्पूर्ण संसर्ग धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। इस

असंसर्ग की अवस्था को प्राप्त हुआ साधक ज्ञान की छठी भूमिका में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है। ज्ञान की छठी भूमिका में अविद्या के स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है। प्रकृति के आविर्तिरोभाव की अकथ कहानी समझ आ जाती है। इस छटी भूमिका का नाम है पदार्थभावना अथवा अर्थाभास। इस अवस्था में पहुंच कर जड़ चेतन की ग्रंथि खुल जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो चेतन जड़ के साथ वा चित्त के साथ आत्मभाव बना लिया है, वह समाप्त हो जाता हैं। दूसरे शब्दों में यह आवरणनाश की अवस्था है। इसके साथ ही साधक को ज्ञान की सातवीं भूमिका प्राप्त हो जाती है, जिसे तुरीया कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त हो कर ही वह अनन्त चैतन्यघन के साथ स्वयं की एकता का अनुभव करता है। इस अवस्था में पहुँच कर ही वह "सोऽहमस्मि" का उद्घोष करता है।

इस ज्ञान और अज्ञान की सातों अवस्थाओं की विवेचना से आप लोग यह बात समझ गए होंगे कि जिस प्रकार अपनी यथार्थ स्थिति से इस चेतन के पतित होने में अज्ञान कारण होता है, उसी प्रकार से उस पतित अवस्था में स्वयं का उद्धार करने में प्रभुकृपा एवं सत्संग से जागृत हुई शुभेच्छा ही हेतु होती है और साधक धीरे-धीरे अज्ञान की सातों भूमियों का ज्ञान की सातों भूमियों द्वारा निरसन कर अपने परात्पर स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि यह सब कुछ कहने और सुनने में जितना सरल और सुगम लग रहा है, करने में उतना ही कठिन है। मेरे विचार से ज्ञान और अज्ञान, इन दोनों अवस्थाओं को समझ पाना, जान पाना इतना सरल नहीं है किन्तु बिना इसके जाने और समझे भी अपना कल्याण होने वाला नहीं है। इसलिए स्वयं की वर्तमान स्थिति पर विचार करते हुए, अपनी बौद्धिक अवस्था को जानते हुए, समझते हुए, इस जन्ममृत्यु के प्रवाह से विमुक्त होने के लिए, इस संसार ताप से सदा के लिए छुटकारा पाने के लिए भक्ति वा ज्ञान, किसी एक मार्ग का अवलम्बन ले साधना में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। उपनिषद् के सोलहवें मंत्र के अन्तिम चरण में ऋषि जिस परमसत्य की घोषणा कर रहा है, वह ज्ञान की सप्तम भूमिका को प्राप्त हुए साधक की सत्यानुभूति है-**"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।"**

ईशोपनिषद् की व्याख्या के साथ ही मैं चाहता हूँ कि आप लोग संक्षिप्त रूप से उन सभी बातों को समझ लें, जो वैदिक सनातन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की आधार बनी हुई हैं, जिनका उपनिषद् के इन मंत्रों से कोई सीधा सम्बन्ध

दिखाई नहीं देता। मैं समझता हूँ कि यह ईशोपनिषद् ब्रह्मविद्या का मूल आधार ग्रन्थ है। वेदान्त शब्द इसीमें सार्थक होता है। इसीलिए ब्रह्मविद्या की विवेचना में जो कुछ भी आवश्यक तत्त्व हैं, उन सबका इससे प्रकारान्तर से सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, इसीलिए मैं आप सबको इससे सम्बन्धित सभी विषयों को संक्षेप सें बता देना चाहता हूँ। किन्तु यह सम्भव नहीं हो सकेगा क्योंकि कुछ दिनों में ही वैदिक धर्म के सम्पूर्ण सिद्धांतों को संक्षेप में बता देना भी आसान नहीं है। फिर भी जितना सम्भव है, उससे परिचित करा देने का प्रयत्न अवश्य किया जाएगा। यहाँ एक और महत्वपूर्ण बात आप लोगों को बताने जा रहा हूँ, अवधानपूर्वक इसे सुनने की चेष्टा करें।

वैदिक सिद्धांत में जीवों की तीन श्रेणियां मानी गई हैं, जिन्हें नित्य जीव, मुक्त जीव एवं बद्ध जीव के रूप में वर्णित किया गया है। इनमें नित्य जीव वह कहा जाता है जो सृष्टि के प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डों की आत्मा के रूप में आविर्भूत होता है। ब्रह्माण्ड की पूरी आयु तक उसी रूप में बना रहता है और ब्रह्माण्ड के विलय के साथ ही यह उस परात्पर ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यह नित्य जीव ईश्वर कोटि का होता है, उसमें कभी अविद्या वा अज्ञान का प्रभाव नहीं होता, वह नित्य ज्ञानस्वरूप ही रहता है। वैदिक साहित्य में वर्णित अनेक देवगण ब्रह्माण्डगत ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि इसी कोटि में आते हैं। ये सभी नित्य जीव हैं। जीव उन्हें इसलिए कहा जाता है कि वे ब्रह्माण्डगत आत्मा के रूप में आविर्भूत होते हैं। प्रकृति उनका भी माध्यम बनती है। यथार्थतः वे भी प्रकृति की ही सन्तानें हैं, वे नित्य सतोगुण में ही स्थित रहने के नाते अविद्या वा अज्ञान के शिकार नहीं होते। नित्य जीवों की संख्या भी अनन्त है। तुलसीदास जी ने उनका वर्णन करते हुए लिखा है—

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उड़गन रवि रजनीसा।।
अगनित लोकपाल जमकाला। अगनित भूधर भूमि बिसाला।।

करोड़ों ब्रह्मा, करोड़ों शिव, अनन्त तारागण, सूर्य और चन्द्र की स्थिति है। अगणित लोकपाल, अगणित यमराज, मृत्यु, साथ ही अगणित पहाड़ और पृथ्वियाँ, ये सब कुछ उस विराट के अन्दर समाहित हैं। भुशुण्डि जी कहते हैं-

एकएक ब्रह्माण्ड महुँ रहउँ बरस सत एक।
एहि विधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक।।

इस प्रकार उन अनेक ब्रह्माण्डों के समूहों में वे देखते हैं-

लोक लोक प्रति भिन्न विधाता।
भिन्न विष्णु सिव मनु दिसित्राता।।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मनु और दिग्पालों की स्थिति है, इसीलिए ईश्वर कोटि के जीवों की संख्या भी अमित है। इसकी मिति नहीं, इनकी गणना नहीं की जा सकती। ये सभी प्रकृति के माध्यम से प्रकट होते हैं और अपने ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन और प्रलय आदि का कार्य सम्पन्न करते हैं। इनका ज्ञान नित्य होता है, इसलिए इन्हें ईश्वर कहते हैं। जैसे आपके शरीर की आत्मा है वैसे ही ये ब्रह्माण्ड की आत्मा हैं। उपनिषदों में इनको प्राज्ञ, तैजस, विश्व आदि नाम से सम्बोधित किया गया है। ये सभी अविद्या से परे किन्तु विद्या से उपहित हैं। बंधन और मुक्ति की व्याख्या अविद्या में है, विद्या में नहीं, इसलिए ये ईश्वर कोटि के जीव बन्धन और मुक्ति के दोनों ही भावों से सर्वथा परे हैं। यदि यह कहा जाए कि वह परात्पर पुरुष सच्चिदानंदघन स्वयं समस्त ब्रह्माण्डों की आत्मा के रूप में आविर्भूत हुआ है, तो इसमें अतिशयोक्ति न होगी, इसलिए कुछ आचार्यों ने ईश्वर और ब्रह्म में सर्वथा अभेद माना है। उपनिषदों के गंभीर अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अन्य दो कोटि के जीव जिन्हें मुक्त और बद्ध नाम से पुकारा जाता है, वे इसी नित्य जीव से आविर्भूत होते हैं। मुंडकोपनिषद् इस रहस्य का वर्णन करते हुए कहती है-

यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः सहस्रशःप्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।
(मुण्डक० 2/1/1)

"जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान असंख्य चिन्गारियाँ उन्पन्न हुआ करती हैं, उसी प्रकार से हे सौम्य! उस अक्षर पुरुष से अनन्त भाव उत्पन्न होते हैं और पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं।" यहाँ भाव शब्द का अर्थ जीव समुदाय से है। उस ईश्वर से उत्पन्न हो, उसी में स्थित रहने वाले असंख्य जीवों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है, एक को मुक्त जीव कहते हैं, दूसरे को बद्ध जीव। मुक्त जीव उनकी संज्ञा है जिन्होंने साधना द्वारा अविद्या और तद्जन्य भावों से स्वयं को परे कर लिया है, जिन्होंने अपने कारण रूप ईश्वर से परे जो परम अक्षर परात्पर पुरुष है, उस का साक्षात्कार कर उससे स्वयं की अभिन्नता की अनुभूति कर ली है। इस श्रेणी के जीवों को मुक्त जीव कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी कभी बंधन में थे, कभी अविद्या द्वारा व्यामोहित हो जन्म-मृत्यु के प्रवाह में प्रवाहित हुए हैं, किन्तु अब वे उससे विमुक्त हो स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं और दिव्य भाव में स्थित होते हुए वे

परमानन्द के भाजन बन चुके हैं और साथ ही अपनी सत्यानुभूति द्वारा करुणावश बद्धजीवों के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, सप्तऋषि, व्यास, सुखदेव, नारद, नामदेव आदि ऐसे असंख्य मुक्त जीव अनन्त ब्रह्माण्डों में स्थित जीवों के कल्याण में रत हैं। इन मुक्त जीवों के लिए न तो कोई शास्त्र का प्रयोजन रह गया है और न साधन का ही। यह शास्त्र और साधन सभी कुछ तीसरी श्रेणी में रहने वाले उन बद्ध जीवों के लिए ही प्रयोजन रखते हैं। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि नित्य जीव ईश्वर कोटि में हैं। ये कभी बंधन में नहीं आए, इनके लिए वेदादि शास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं। मुक्त जीव कभी किसी काल में किसी कल्प में बंधन में थे किन्तु अब वे मुक्त हो गए हैं, उनके लिए भी शास्त्र का प्रयोजन नहीं रह गया है। वेद आदि शास्त्रों का प्रयोजन केवल बद्ध जीवों के कल्याणार्थ ही है।

बद्ध जीवों की भी दो श्रेणियाँ हैं, जिन्हें शास्त्रकारों ने बुभुक्षु और मुमुक्षु कहा है। भोक्तुं इच्छा ही बुभुक्षा कही जाती है। जिसे कठोपनिषद् में प्रेय का वरण करने वाला कहा गया है, वे बुभुक्षु हैं। आगे बुभुक्षु जीवों की तीन श्रेणियां कही गई हैं-असुर, मानव और देव। इनमें मानव से नीचे पांच श्रेणियों में विभक्त जीव जो ज्ञानरूपी प्रकाश से वंचित हैं, जो केवल असु-प्राण में ही रमण करते हैं, उन्हें असुर कहा गया है। बुद्धि-प्रधान होने से मृतलोक का निवासी मानव मनुष्य शरीर को प्राप्त हुआ अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति में निरत रहता है। मनुष्य से भी सूक्ष्म पिशाच, राक्षस, गांधर्व, पितर लोक में रहने वाले पित्र्य, देव, ऐन्द्र, प्राजापत्य ओर ब्राह्म, अपने शुभ कर्मों से इन लोकों में निवास करते हुए श्रेष्ठ भोगों को भोगने वाले जीव ही देव श्रेणी में गिने जाते हैं। सांख्यशास्त्र की भाषा में यह चौदह प्रकार का जो भूतसर्ग है, जिसे क्रमशः स्थावर, कीट, सरिसृप, पक्षी, पशु, मनुष्य, पिशाच, राक्षस, गान्धर्व, पित्र्य, दैव, ऐन्द्र, प्राजापत्य और ब्राह्म नामों से कहा गया है, ये सभी बुभुक्षु की श्रेणी में ही आते हैं। ये सभी अपने कर्मानुसार दुःख-सुख को भोगते हुए इस सृष्टि-प्रवाह में प्रवाहित हो रहे हैं। विचाार की दृष्टि से देखा जाए तो केवल मनुष्य लोक में रहने वाले बुभुक्षु जीवों में भी ये तीन प्रकार की श्रेणियाँ दिखाई देंगी। जो तम प्रधान लोग हैं, वे आसरु हैं, जो रज प्रधान हैं, वे मानव और जो सत् प्रधान हैं, उन्हें देव कहा जा सकता है। जो लोग दुनिया के दुःख-सुख का ध्यान न कर केवल स्वयं को सुखी बनाना चाहते हैं, जो दूसरों से छीन कर स्वयं भोगना चाहते हैं, वे आसुरी जीव हैं। जो अपनी मेहनत से, अपने प्रयत्न से, पुरुषार्थ से प्राप्त किए हुए भोगों को भोगने में निरत हैं, वे मानव हैं और जो

पुरुषार्थ से प्राप्त हुई भोग सामग्रियों को इष्ट और पूर्त लोकोपकारी कार्यों तथा यज्ञ-यागादि देव उपासना में प्रयुक्त कर स्वर्गादि भोगों को प्राप्त करने के लिए धर्मानुष्ठान में निरत हैं, वे देव श्रेणी के जीव कहे जाते हैं।

जिस प्रकार से बुभुक्षु जीवों की तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं, उसी प्रकार से मोक्ष की इच्छा रखने वाले जो मुमुक्षुजन हैं उनकी भी दो श्रेणियाँ हैं। यहां यह याद रखना है कि मुमुक्षु श्रेणी के वे जीव हैं, जो भूमंडल के समस्त वैभव तथा ब्रह्मलोकादि दिव्य लोकों में प्राप्त होने वाले समस्त भोगों से विरत हो चुके हैं। जिनके अन्तर में केवल इस जन्म-मृत्यु के प्रवाह से सदा के लिए विमुक्त हो जाने की उत्कट अभिलाषा जागृत हो चुकी है। जिन्होंने देखे ओर सुने हुए सभी प्रकार के भोगों से उपरति प्राप्त कर ली है। गीता का अर्जुन, कठोपनिषद् का नचिकेता इसी प्रकार के श्रेय पथ के पथिक मुमुक्षुओं के आदर्श हैं। बृहदारण्यक की मैत्रेयी और गार्गी, इसी प्रकार की आदर्श मुमुक्षु देवियाँ हैं। ये मुमुक्षु जीव भी दो श्रेणियों में विभाजित हैं। इनका विभाजन शास्त्रों में साधना की दृष्टि से ही किया गया है। इनमें एक को सांख्यमार्गी तथा दूसरे को योगमार्गी कहा गया है। प्रभु ने गीता में स्वयं इन दोनों निष्ठाओं का वर्णन किया है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।

(गीता 3/3)

सृष्टि के प्रारम्भ में ही मुमुक्षुओं के लिए ये दो निष्ठाएँ मेरे द्वारा ही कही गई हैं। सांख्यमार्गियों के लिए ज्ञानयोग की निष्ठा तथा योगमार्गियों के लिए कर्मयोग की निष्ठा का विधान किया गया है। इस श्लोक में सांख्यनिष्ठा को ही ज्ञान मार्ग एवं योग निष्ठा को ही भक्तिमार्ग के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। ये याद रहे गीतोक्त कर्मयोग ही विशुद्ध भक्तियोग है। उपनिषदों में भी इन दोनों निष्ठाओं का हमे दर्शन होता है। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है-

तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।

(श्वेता० 6/13)

सांख्य और योग द्वारा जानने में आने वाले उस परम कारण स्वरूप देव को जानकर ही जीव समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस परमेश्वर को जानने के लिए सांख्य और योग, ये दोनों ही स्वतंत्र निष्ठाएँ हैं और दोनों का प्राप्तव्य वही एक परात्पर परमेश्वर है। गीता के

पाँचवें अध्याय में जिसे सांख्य और योग निष्ठा कहा गया है, बारहवें अध्याय में उसी के विषय मे अर्जुन का प्रश्न है कि जो सगुण उपासक भक्ति मार्ग के पथिक योगनिष्ठ हैं, उन्हें आप योगतत्त्व के श्रेष्ठ ज्ञाता मानते हैं वा जो ज्ञाननिष्ठ परम अक्षर तत्त्व के उपासक हैं, उन्हें आप योगतत्त्व के ज्ञाता मानते हैं? अभिप्राय यह कि बारहवें अध्याय का प्रश्न भी सांख्यनिष्ठ और योगनिष्ठ से ही सम्बन्धित है। कुछ आचार्यों ने योगनिष्ठा को साधन और सांख्यनिष्ठा को उसके साध्य रूप में वर्णित किया है किन्तु मेरे विचार से गीता के किसी भी वाक्य से ऐसा अभिप्राय नहीं निकलता। ये दोनों निष्ठाएँ स्वयं में स्वतंत्र हैं और इन दोनों में से किसी एक का अवलम्बन लेकर साधक परमसिद्धि रूप मोक्षपद को प्राप्त कर सकता है, इसमें संदेह नहीं।

अब आप लोग जीव और उनके तीन भेद और उन भेदों के स्वरूप को अच्छी प्रकार समझ गए होंगे। आप लोग ज़रा अपने अन्तर्तम में झांक कर देखिए तो सही, इनमें से किस श्रेणी में आपका स्थान है? नित्य और मुक्त जीवों की तो बात ही नहीं है, बात है बद्ध जीवों की। उनमें आप बुभुक्षु हैं वा मुमुक्षु, यह स्वयं ही समझ सकते हैं। जो अपने अस्तित्व को पूर्णरूपेण समाप्त करने के लिए तैयार हो, जो अपने अहं को पूर्णरूप से गला देना चाहता हो, वही मुमुक्षु कहा जा सकता है, किन्तु जिसे अपना सीमित अहं प्रिय है, उसको सुरक्षित रखना चाहता है, वह मुमुक्षु नहीं। जैसा कि मैंने पहले आप लोगों को बताया है कि जो लोग संसार के भोग चाहते हैं, वे बुभुक्षु हैं। किन्तु जो संसार के भोग तो नहीं चाहते, संसार में प्राप्त सभी साधनों को लोकहितकारी कार्यों में लगाते हैं- कुँआ, तालाब, धर्मशाला, बगीचा, विद्यालय, देवमंदिर आदि के निर्माण में अपने प्राप्त धन का सदुपयोग करते हैं, साथ ही विविध प्रकार के यज्ञ का अनुष्ठान कर, देवताओं को प्रसन्न कर, लोक में कीर्ति और परलोक के दिव्य भोगों को प्राप्त करना चाहते हैं, वे भी बुभुक्षु की श्रेणी में ही हैं, उन्हें मुमुक्षु नहीं कहा जा सकता।वे यज्ञ, तप, दान आदि द्वारा ईश्वर की आराधना कर लौकिक नहीं पारलौकिक सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। इतना याद रख लें कि जो अपने व्यष्टि भाव को, जीव भाव को सुरक्षित रखते हुए दिव्य भोगों को प्राप्त करने के लिए ईश्वर उपासना आदि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है, वह मुमुक्षु नहीं, बुभुक्षु है। जिस वेदवाद की चर्चा भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय में की है, वह इसी प्रकार के साधक की चर्चा है। मनुष्य के पास जो कुछ भी है, उसका उपयोग लौकिक सुखभोग के लिए किया जाए वा स्वर्गीय सुखभोग के लिए, इसमें मात्रा, क्वालिटी अथवा गुण में अन्तर भले हो किन्तु भोग की इच्छा

में कोई अन्तर नहीं है। संसार के भोगों के लिए प्राप्त साधनों का समर्पण करने वाला छोटा व्यापारी है और दिव्य भोगों के लिए उसका समर्पण करने वाला बड़ा व्यापारी है। यद्यपि छोटे व्यापारी की अपेक्षा बड़ा व्यापारी अधिक समझदार है किन्तु उसे पूर्ण प्रज्ञावान नहीं कहा जा सकता। कुछ विचारकों की तो यह राय है कि प्रत्यक्ष सुख के लिए वा वर्तमान के सुख के लिए प्राप्त शक्ति का प्रयोग करने वाले लोग उन लोगों की अपेक्षा अधिक समझदार हैं, जो कालान्तर में स्वर्गीय भोगों को प्राप्त करने के लिए अपने प्राप्त साधनों का समर्पण करते हैं। भगवान् ने गीता में उन्हें- **"त्रयीधर्म मनुप्रपन्ना"** कहा है, जिसका अर्थ होता है त्रयी धर्म की शरण लेने वाला। यह त्रयीधर्म, त्रयीविद्या पर प्रतिष्ठित है। गीता के नवें अध्याय में भगवान् ने इस त्रयीविद्या के उपासकों के लिए कहा है-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्टवा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
(गीता 9/20)

ऋक्, साम और यजु विद्याओं को ही त्रयी विद्या कहा गया है। ऋक्विद्या से देवताओं के स्वरूप का बोध और उनका आवाहन किया जाता है। सामविद्या के द्वारा देवताओं के गुणों का बखान और उनकी स्तुति की जाती है और यज्ञविद्या द्वारा हव्य का समर्पण कर उन्हें तृप्त और तुष्ट किया जाता है। यज्ञावशेष को सोम कहते हैं। इस प्रकार इस अवशेष को ग्रहण करने वाला सोमपा होता है, इससे वह पापों से मुक्त हो निष्पाप तथा पवित्र होकर स्वर्ग को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। प्रभु ही अधियज्ञ हैं, सर्वयज्ञों के भोक्ता हैं। यज्ञ के द्वारा प्रभु की ही आराधना होती है। त्रयीविद्या के उपासकों के लिए स्वर्ग से श्रेष्ठ और कुछ प्राप्तव्य नहीं होता, इसलिए उस यज्ञपुरुष से वे स्वर्ग को प्राप्त करने की ही प्रार्थना करते हैं। इस यज्ञानुष्ठान के परिणाम से उन्हें क्या प्राप्त होता है, इस विषय में प्रभु कहते हैं-

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।
(गीता 9/20)

वे यज्ञानुष्ठान करने वाले अपने पुण्य के फलरूप में देवेन्द्र के लोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं लेकिन उनका यह भोग स्थाई नहीं होता क्योंकि देवलोक स्वयं में ही स्थाई नहीं है। जैसे मैंने पहले ही आप लोगों को बताया है कि वह प्रकृति का कार्य है, इसलिए देवताओं का चिन्तन करते हुए हम उनसे शक्ति प्राप्त कर प्राप्त साधनों से उन्हीं की

आराधना करने वाले उस देवलोक को ही प्राप्त करते हैं और भोग द्वारा शुभकर्म के परिणामरूप पुण्य का क्षय हो जाने पर पुनः इस भूतल पर आ जाते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रभु कह रहे हैं-

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

(गीता 9/21)

वे याज्ञिक लोग उस विशाल स्वर्गलोक के भोग को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्यु लोक को ही प्राप्त होते हैं। किन्तु यह क्रम इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता,स्वर्ग लोक से आई हुई आत्मा के अन्तर में भुक्त भोग की स्मृति बनी रहती है। मर्त्यलोक में मनुष्य शरीर प्राप्त कर वह पुनः उन्हीं भोगों की साधना में प्रवृत्त हो जाता है और यह स्वर्ग से मृत्यु लोक और मृत्यु लोक से स्वर्ग लोक की यात्रा का चक्कर चलता ही रहता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रभु ने कहा है

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।

(गीता 9/21)

इसी प्रकार त्रयीधर्म की शरण लिए हुए भोगों की कामना वाले पुरुष आवागमन के चक्कर को प्राप्त होते हैं। उपनिषदों में इस प्रकार के देव उपासकों को देवताओं का पशु कहा गया है। जिस प्रकार से एक पशुपालक किसान पशु को खूब चारा खिलाकर पुष्ट कर देता है, वाद में उसको हल में लगा देता है, जब वह थक जाता है तो पुनः उसे छोड़ कर उसकी पीठ ठोंकते हुए चारा आदि खिलाने लगता है, उसी प्रकार मे देवताओं की उपासना करने वालों को देवता इच्छित भोग प्रदान करते हैं, उस स्वल्पकालिक सुख को प्राप्त कर वह व्यक्ति थोड़ा विश्राम पाता है और पुनः नवीन इच्छाओं की पूर्ति के लिए देवताओं की उपासना में लग जाता है। इस चक्र का कहीं भी अन्त नहीं होता।

यहाँ एक बात और भी समझ लेनी है, देवताओं की भी विभिन्न श्रेणियाँ हैं। सांख्य और वेदान्त, दोनों मनुष्य लोक से अधिक विकसित, अधिक सुविधाकर और सुखकर देवलोक को स्वीकार करता है। यह देवलोक आठ श्रेणियों में बटा हुआ है, जिसके विषय में पहले ही आप लोगों को बता दिया है। कठोपनिषद् कहती है, जिन-जिन कामनाओं को इस मर्त्यलोक में पूर्ण करना दुर्लभ है, वे कामनाएँ स्वर्ग में स्वतः ही पूर्ण हो जाती हैं। उन लोकों में वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु का भय नहीं होता। विभिन्न श्रेणियों में रहने वाले देवताओं की उपासना से विभिन्न प्रकार के लोकों की प्राप्ति होती है और पुण्य क्षीण होने पर पुनः

मर्त्यलोक में आना पड़ता है। कहने का अभिप्राय कि यह त्रयीधर्म का आश्रय लेने वाले मुमुक्षु नहीं बुभुक्षु हैं।

मुमुक्षु साधकों की दो श्रेणियाँ हैं जैसा कि आप लोगों को पहले ही बताया गया है- ज्ञानमार्गी ओर भक्तिमार्गी। इन दोनों का लक्ष्य जन्म-मरण से मुक्त हो परमेश्वर की प्राप्ति है। उपनिषदों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि मुक्ति के भी दो भेद हैं- क्रम मुक्ति और सद्यो मुक्ति। क्रम मुक्ति का अभिप्राय है, प्रभु की अराधना द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त करना और ब्रह्मा की आयुपर्यन्त वहां के देवदुर्लभ सुख को भोगते हुए निवास करना और फिर ब्रह्म देव के साथ ही उस परात्पर ब्रह्म में लीन हो जाना। उपनिषदों में जिसे देवयान शव्द से सम्बोधित किया गया है, गीता में जिसे शुक्ल मार्ग कहा गया है, वह उस क्रम मुक्ति का ही मार्ग है। वह योगी सूर्यमंडल को भेदता हुआ आदर सहित ऋचाओं द्वारा ब्रह्मलोक तक ले जाया जाता है और वहाँ रहकर वह अमित काल तक वहाँ के दिव्य भोगों को भोगता है और फिर परात्पर प्रभु में लीन हो परमगति को प्राप्त कर लेता है। वैष्णव सम्प्रदाय में स्वीकार किए गए सालोक्य, सामीपय, सारूप्य और सायुज्य आदि नामों से वर्णित मुक्ति की अवस्थाएँ उस क्रम मुक्ति का ही प्राकारन्तर से वर्णन करती हैं। यद्यपि इन मुक्तियों को प्राप्त करने वाले साधक का जीवभाव अर्थात् सीमित अहं शेष रहता है किन्तु वह दग्ध बीजवत होने से जन्म प्रवाह का कारण नहीं बनता। वासनाशून्य होने से उसकी पुनः अधोगति नहीं होती। अपनी आस्था के अनुसार अमित काल तक अपने आराध्यदेव के सानिनध्य का आनंद लेता है और अंत में अपने इष्ट के साथ ही उस परात्पर तत्त्व में लय हो जाता है। महानारायणोपनिषद् में भगवान् विष्णु के विभिन्न स्वरूपों और उनकी आयुमान का विवेचन प्राप्त होता है। इसी प्रकार देवीभागवत में भी भगवान् विष्णु, नारायण, शिव तथा ब्रह्मदेव की आयु और उनके काल का उल्लेख मिलता है। सरल शब्दों में इतना ही कहा जा सकता है कि जो कुछ भी सगुण साकार है, वह निर्गुण निराकार की ही अभिव्यक्ति है और उसे अंततः अपने कारण में विलीन होना ही होगा। यहाँ पर एक बात और समझ लेनी है कि त्रयीधर्म के उपासकों और इन भागवत् धर्मानुयायियों में क्या अन्तर है? त्रयी धर्मानुयायियों का प्राप्तव्य स्वर्ग है। वे यज्ञ पुरुष की आराधना करते हुए उससे स्वर्ग की कामना करते हैं, इसलिए उन्हें स्वर्ग की ही प्राप्ति होती है। किन्तु प्रभु के सगुण उपासक भागवत धर्मानुयायी प्रभु से स्वर्ग नहीं बल्कि प्रभु को ही प्राप्त करने की यांचना करते हैं, प्रभु के अंग-संग रहने की अभिलाषा करते हैं। वे

कैवल्य मोक्ष की भी उपेक्षा कर केवल प्रभु का सान्निध्य चाहते हैं, इसलिए प्रभु इन्हें अपना सान्निध्य प्रदान करते हैं। यद्यपि इन उपासकों का भी सीमित अहं अर्थात् जीवभाव बना रहता है किन्तु वह वासनाशून्य होने से जगत् प्रवाह का कारण नहीं बनता। यह भागवत् धर्मानुयायी भी भूमंडल और स्वर्ग के समस्त सुखों से विरत हो प्रभु के अनुराग की याचना करते हैं, इसलिए प्रभु उन्हें अपने अनुग्रह से उनकी रुचि अनुसार अपना सान्निध्य प्रदान करते हैं। इस विषय में एक बड़ी रोचक कहानी प्रचलित है।

एक राजा किसी कार्य विशेष से किसी अन्य देश में यात्रा पर गया था। उसकी चार रानियाँ थीं। जब राजा के लौटने की तिथि निकट आई तो उसने पत्र द्वारा उन चारों से उनकी रुचि के सम्बन्ध में जानना चाहा कि वह परदेस से आते समय उनके लिए क्या-क्या लेकर आए? उनमें से उसकी तीन रानियों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न पदार्थ लाने के लिए उसे लिख भेजा किन्तु उसकी चौथी रानी ने अपने पत्र में केवल इतना ही लिखा कि मेरे लिए आपके सिवा और कुछ भी नहीं चाहिए। आप आ जाएँ, बस यही मेरी अन्तर्तम की चाह है। कुछ दिनों बाद वह राजा जब लौट कर आया तो अपनी अन्य तीन रानियों को उनकी इच्छानुसार मंगाई गई वस्तुओं को देकर, वह स्वयं उस चौथी रानी के कक्ष में चला गया, जिसने केवल उसे ही चाहा था। इसी प्रकार से प्रभु के उपासक भी विविध रुचि वाले हुआ करते हैं। प्रभु ने स्वयं उन्हें आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी के नाम से सम्बोधित किया है। इनमें आर्त्त प्रभु को नहीं, अपने दु:ख की निवृत्ति चाहता है। जिज्ञासु भी प्रभु से प्रभु को नहीं, अपनी जिज्ञासा की पूर्ति चाहता है, उसी प्रकार अर्थार्थी भी अर्थ की प्राप्ति के लिए ही प्रभु की आराधना करता है। ये सभी प्रभु के उपासक हैं, इसलिए प्रभु भी उस राजा के सामान ही इनकी इच्छित वस्तुओं को इन्हें दे देता है किन्तु ज्ञानी भक्त प्रभु से प्रभु के सिवा और कुछ नहीं चाहता। यथार्थतः यह ज्ञानी ही मुमुक्षु है, इसलिए प्रभु स्वयं ही उस पर अनुग्रह करउसे अपना सान्निध्य प्रदान कर देते हैं। प्रभु स्वयं कहते हैं- **"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।"** ज्ञानी तो मेरी ही आत्मा है, ऐसा मेरा मत है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि मुमुक्षु वह है, जो प्रभु से प्रभु को ही केवल चाहता है। उसमें ज्ञानमार्गी प्रभु को आत्मरूप में प्राप्त करना चाहता है और भक्त अपने प्रियतम परमाराध्य के रूप में। ज्ञानमार्गी को सद्योमुक्ति प्राप्त हो जाती है और भक्तिमार्गी को क्रममुक्ति। उपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में यह बात समझाई गई है कि ज्ञानी के प्राण, ज्ञानी की आत्मा कहीं उत्क्रमण नहीं करती

अर्थात् उसका कहीं आना -जाना नहीं होता। जैसे क्रममुक्ति प्राप्त करने वालों के लिए सूर्यमंडल को भेद कर सत्यलोक आदि को प्राप्त करने वाले की आत्मा के उत्क्रमण का वर्णन प्राप्त होता है, इस प्रकार से इस शरीर में रहते हुए ब्रह्मयोग के द्वारा ब्रह्मभाव में स्थित योगी के लिए वर्णन नहीं है। बृहदारण्यक की श्रुति का कथन है-

अथ अकामयमानः।योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः।
न तस्य प्राणा उत्क्रामिन्त। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।।

अब कामना रहित साधक की गति का वर्णन है। जिसको कोई कामना नहीं, जो निष्काम भाव को प्राप्त हो गया है; जो आप्तकाम, पूर्णकाम हो गया है, जो केवल आत्मस्वरूप को ही प्राप्त करने की कामना करता है, उसका प्राण उत्क्रांत नहीं होता। वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है। इस प्रकार यहाँ जिस मुमुक्षु की गति का वर्णन श्रुति कर रही है, उसी को ईशोपनिषद् में सत्यधर्मा कहा गया है। मुमुक्षु ही सत्यधर्मा है और प्रभु के अनुग्रह से वह उस परात्पर पुरुष के कल्याणतम स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ यह उद्घोष करता है-'योऽसावसौपुरुषः सोऽहमस्मि।' यह क्रम मुक्ति को नहीं अपितु सद्योमुक्ति को प्राप्त करने वाला आत्मकाम ऋषि है। शरीरान्त के पश्चात् इसके प्राण उत्क्रान्त नहीं होंगे।

आज के प्रवचन में आप लोगों को जीव की विभिन्न श्रेणियों के स्वरूप और उनकी स्थिति का संक्षेप में अवबोधन कराया गया और विशेष कर बुभुक्षु और मुमुक्षु का भेद बताकर उनके द्वारा प्राप्त होने वाली गति का भी वर्णन किया गया है। मुझे विश्वास है कि इससे आप लोग अपनी स्थिति के विषय में समझने के लिए अन्तः निरीक्षण करेंगे। यह याद रहे, कोई भी व्यक्ति किसी भी देश, काल, परिस्थिति में रहता हुआ मुमुक्षु हो सकता है। उसके लिए किसी अवस्था विशेष वा वेश विशेष को धारण करने की आवश्यकता नहीं है। जो कार्य आप बुभुक्षु की अवस्था में कर रहे हैं, मुमुक्षु होकर भी उन्हीं कार्यों को कर सकते हैं। अन्तर, क्रिया में नहीं आन्तरिक चाह में लाना होगा। अभी जो कुछ आप संसार के लिए कर रहे हैं, परिवार के लिए कर रहे हैं, उसी को आगे परमात्मा के लिए करना होगा। इससे आप क्षणिक सुख नहीं परम आनन्द के भागी बनेंगे। उपनिषद् तथा गीता में इस रहस्य को बहुत ही वात्सल्यपूर्ण भाषा में समझाया गया है। यदि आपने प्रभु से विमुख हो संसार का सभी कुछ पा लिया तो वह किस काम का? और यदि सब कुछ से विरत हो प्रभु में अनुरक्ति प्राप्त कर ली तो उससे लोक और परलोक दोनों ही आनन्द से परिपूर्ण हो जाऐंगे। गोस्वामी जी

कहते हैं-

सुर दुर्लभ सुख करि जग माँही। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं।।

इस रहस्य को समझते हुए आप सभी मुमुक्षु बनकर प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों, इससे आपके चित्त का मल और विक्षेप स्वतः समाप्त हो जाएगा। फिर ईशोपनिषद् के ऋषि की तरह आवरण को दूर करने के लिए प्रभु से प्रार्थना करें। परम कारुणीक प्रभु अपनी योगमाया के आवरण को दूर कर अपने सत् स्वरूप को आपके सामने प्रकट कर देंगे। सत्स्वरूप को प्रत्यक्ष कर आप स्वयं को उससे अभिन्न कर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाएँगे, यही ब्रह्मविद्या की सीख है। परमात्मा के स्वरूप की अनुभूति के पश्चात की अवस्था का वर्णन करते हुए १९६२ में मैंने एक पद लिखा था-

प्रिय मोद प्रमोद आनंदमयी, मृदु मूरति ब्रह्म प्रसूत कहैं।
सोई सूरति आपनी जानि सखे, गत द्वन्द्व भयो पर भूत कहैं।।
अरे बावरे बंदत देव सदा, श्रुतियाँ सभी मां का सपूत कहैं।
उन्मत्त फिरौं नित नेह छके, सब लोग मुझे अवधूत कहैं।।

वह आनन्दमयी अवस्था यथार्थतः अवर्णनीय है, अकथनीय है। वह मेरी ही नहीं बल्कि आप सभी के लिए प्राप्त करने योग्य है। श्रुति कहती है,संपूर्ण जीव परमात्मा की ही अभिव्यक्ति तथा उसी के अमृत पुत्र हैं, वह परा प्रकृति सभी श्रेणी के जीवों की मां है और वह परात्पर प्रभु सभी का पिता। अपरा प्रकृति जिसे अष्टधा प्रकृति कहते हैं, वह तो इस जीव की धाय के समान है। जिस प्रकार राजकुमार के पालन-पोषण का कार्य धाय किया करती है, उसी प्रकार से समस्त जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति यह अपरा प्रकृति स्वतः किया करती है। लाचार हो, अधीर हो, इससे अपनी पूर्ति की याचना करना, इसके कार्य रूप जगत् के पदार्थों की याचना करना, यह अज्ञानता का ही परिणाम है। इस रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए एक पद में कहा गया है-

नृप तनय ज्यों शिशुकाल से दासी की गोदी में पला।
अज्ञानबस है मानता सुत धाय का निज को भला।।
है तासुभय रोता दुखित हो किन्तु वह नृप बाल है।
त्यों ही अविद्या बस पड़ा तू ब्रह्म ही का लाल है।।

ब्रह्मविद्या की इस अनुपम सीख को समझते हुए स्वयं को उस परात्पर प्रभु की अमृत सन्तान अनुभव करते हुए, उसके परम सत् स्वरूप को देखने की अभिलाषा से युक्त हो उसी से प्रार्थना करें-

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राज्यापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।

प्रार्थना के साथ ही इसके अर्थ का चिन्तन करते हुए स्वयं को उसकी अनुभूति के योग्य बनाने की चेष्टा करें। करुणानिधान प्रभु अवश्य ही अपनी करुणा से आप सबको इस साधना में सफल बनावेंगे। इसी शुभकामना के साथ आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है।

हरि ॐ तत्सत्
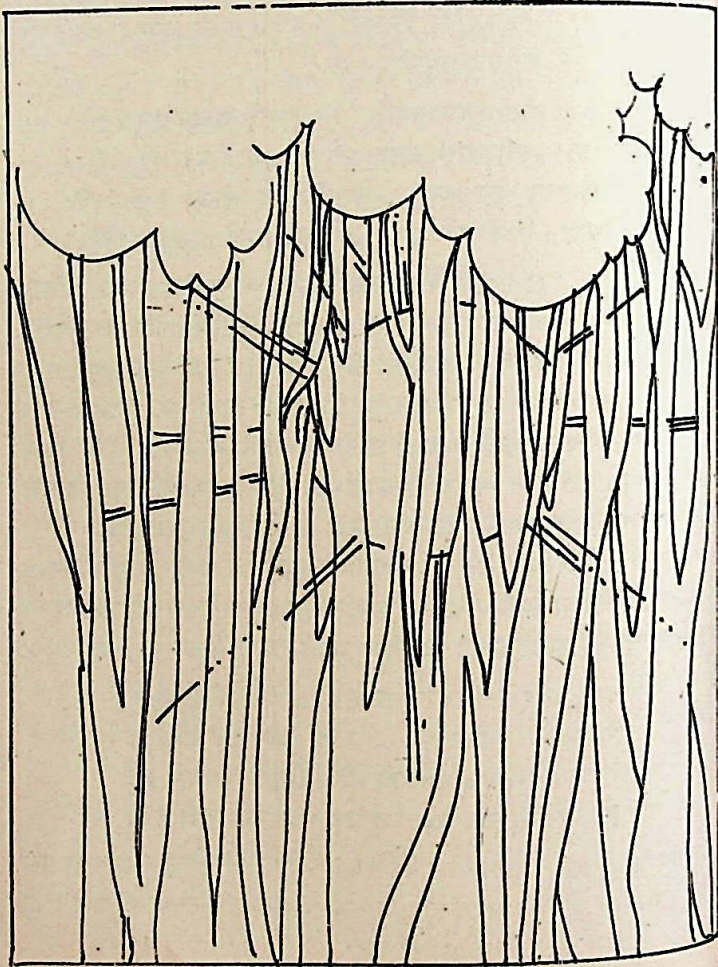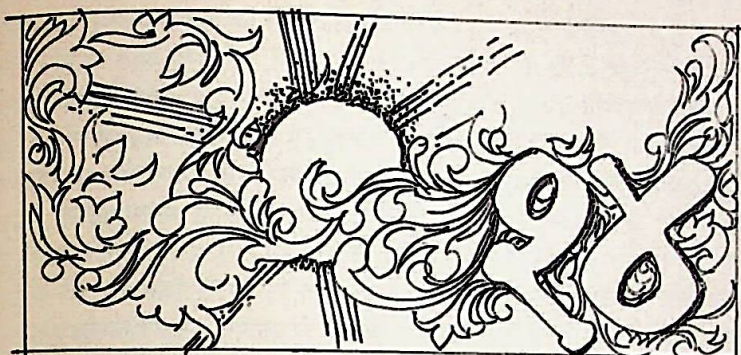
मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् की करुणा सदैव आपके कल्याण का सृजन करे, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना। आप सभी इशोपनिषद् की व्याख्या सुन रहे हैं। कल उसके सोलहवें मंत्र पर विचार करते हुए बहुत सी बातें समझाई गई थीं। साधक अपनी साधना की पूर्णता को प्राप्त कर परमात्मा के साथ अभिन्नता की अनुभूति करते हुए कहता है–**"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।"** वह जो सूर्यमण्डल से भी परे परात्पर पुरुष है, वह मैं हूँ, इस प्रकार की घोषणा करता है। वह परात्परपुरुष परमचैतन्यघन हमारे जीवन का स्रोत है, हमारा कारण है, हमारा अंशी है, वह कोई सातवें आसमान में रहने वाला शासक नहीं, हमारा अपना जीवनाधार, परम सुहृद पिता है। न कोई समय ऐसा था, न है, न आगे कभी होगा, जबकि हम उससे एक क्षण के लिए भी अलग हो सकेंगे। परमात्मा से भिन्न हमारी कोई सत्ता नहीं। हम सब उसकी अंशाभिव्यक्ति-मात्र हैं। माया रूपी आवरण के नाते यद्यपि हमें उस सत्य का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा, फिर भी सत्य तो सत्य ही रहेगा, चाहे उसे हम जानते हों, देखते हों वा नहीं। जब भी कोई साधक प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त कर उस परम सत्य का दर्शन करेगा तो ईशोपनिषद् के ऋषि की भाँति वह भी इसी सत्य का उद्घोष करेगा–**"योऽसावसौपुरुषः सोऽहमस्मि।"**

भारत की पावन भूमि में तत्त्वद्रष्टा मनीषियों द्वारा विविध प्रकार की अनुभूतियों के आधार पर विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की गई है। सभी सिद्धान्तों को यदि गंभीरता से देखा जाए तो उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। इनको हम क्रमशः द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। मेरे विचार से ये तीनों ही वाद साधक की अवस्था विशेष से सम्बन्धित हैं। इन तीनों वादों के आधार क्रमशः तीन

प्रकार के दृष्टिकोण हैं, शरीर दृष्टि, जीव दृष्टि तथा तत्त्व दृष्टि। शरीर के तीन भेद हैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण। ये तीनों शरीर अष्टधा प्रकृति के ही कार्य हैं। कल मैंने आप लोगों को यह बताया था कि यही अष्टधा प्रकृति परमात्मा की दासी है। वही अपरा प्रकृति—क्षर, अविद्या आदि नामों से शास्त्रों में वर्णित है। व्यष्टिभाव में आविर्भूत हुआ चेतन इन त्रिविध शरीरों के आश्रय से ही अपनी भिन्न सत्ता को बनाए हुए है और इस अवस्था में उसे सृष्टि में नानात्व की अनुभूति हो रही है। कारण शरीर रूप चित्त में अवस्थित होने पर भी वह अपना व्यष्टिभाव और अपने समान ही अनन्त जीवों के व्यष्टिभाव को सत्य स्वीकारता है। इस अवस्था में उसे अपने अस्तित्व की भिन्नता के साथ ही उस अस्तित्व के प्रकाशक के रूप में परमात्मा की भी अनुभूति हो रही है। इसलिए वह स्वयं को प्रभु के आश्रित अनुभव करता हुआ अपना सर्वरक्षक स्वामी और स्वयं को उनका दास वा किंकर स्वीकार करता है।सत्त्व प्रधान चित्त में ही इस प्रकार के स्वामी सेवक भाव का उदय होता है। इस भाव का मूलाधार देहदृष्टि है। किन्तु यहाँ देह शब्द केवल स्थूल शरीर के लिए ही नहीं, उसके आधार रूप सूक्ष्म और कारण शरीर तक पहुँचने पर भी यह अनुभूति ज्यों की त्यों बनी रहती है। यह अनुभूति साधक की अस्मिता समाधि तक बनी रहती है। यह सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था है। सम्प्रज्ञात समाधि के छः भेद हैं, सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, आनन्द और अस्मिता। अस्मिता समाधि में जीव का जीवतत्व बना रहता है। उपनिषदों में जहाँ पर अणुरूप धर्म वाले जीव के स्वरूप का निर्देश किया गया है, वह इस अवस्था का ही संकेत है। वही जब सूक्ष्म शरीर से युक्त होता है तो उसे अंगुष्ठमात्र पुरुष कह कर सम्बोधित किया गया है। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में जहाँ अपने व्यष्टिरूप का अनुभव होता है, वहीं परमात्मा की सत्ता और महत्ता का भी बोध प्राप्त होता है। सोलहवें मंत्र के प्रारम्भ में प्रभु के दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए, उनकी रश्मि और तेज का दर्शन करते हुए उसे हटाने की प्रार्थना करने वाला साधक यथार्थतः इस सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुआ साधक है। इस स्थिति में स्वामी-सेवक की भावना का उदय होना स्वाभाविक है। यह जीव का अंतिम लक्ष्य नहीं बल्कि उसकी यात्रा में उसके लक्ष्य का निकटतम पड़ाव है। इससे आगे की अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की है।

असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में पहुँचा हुआ योगी अपने जीवत्व को अथवा अपनी व्यष्टिसत्ता को उस परमात्मा की अभिव्यक्ति के रूप में देखता है। उसे अपने ओर परमात्मा में अभेदता की अनुभूति होती है। यहाँ द्वैत

समाप्त हो जाता है, किन्तु स्वरूपतः अंश-अंशी भाव बना रहता है। इस अवस्था में ही उसे चिद्-अचिद्, विशिष्ट, उस परात्पर तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इस अवस्था में पहुँचे हुए योगी की दो प्रकार की दृष्टि हो सकती है—जिसे स्वरूप दृष्टि और तत्त्व दृष्टि कहा जा सकता है। स्वरूप दृष्टि से अंश-अंशी , शेष-शेषी, अंग-अंगी आदि भावों का उदय होता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ साधक स्वयं को परमात्मा का अभिन्न अंश, परमात्मा की ही ज्योति, परमात्मा की ही अभिव्यक्ति अनुभव करता है। दूसरी तत्त्वदृष्टि है। इस दृष्टि से परमात्मा ही उसके रूप में अभिव्यक्त हुआ है। परमात्मा के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। उसमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत रूप में किसी भी प्रकार के भेद का स्थान नहीं, भेद की कल्पना नहीं। स्वरूप-दृष्टि से अंश-अंशी भाव की स्वीकृति ही विशिष्टाद्वैत है और तत्त्व दृष्टि से एक परमात्मा की सत्ता ही अद्वैत है। भगवान् मारुति के शब्दों में इन तीनों सिद्धान्तों का इसी प्रकार से समन्वय किया गया है। भगवान् श्रीराम के प्रश्न करने पर "ज्ञानिनाभाग्रगण्यम्।" परम भागवत श्रीआँजनेय उत्तर में निवेदन करते हुए कहते हैं, हे प्रभो ! देह की दृष्टि से मैं आपका दास हूँ और आप मेरे स्वामी हैं। स्वरूप की दृष्टि से मैं आपका अंश हूँ, आप मेरे अंशी हैं और तत्त्व की दृष्टि से जो आप हैं वही मैं हूँ, हम में कोई भेद नहीं है, यह मेरा निश्चित मत है। आप लोग जानते हैं भगवान् आंजनेय का सिद्धान्त ही हमारा अपना सिद्धान्त है। हम उन्हीं के पथ के पथिक हैं, वे ही हमारे पामाचार्य हैं। इस समन्वय दृष्टि में कहीं पर किसी भी सिद्धान्तवादी से कोई विरोध नहीं है। जैसा कि मैंने पहले बताया है कि प्रार्थी की अवस्था में प्रार्थना करने वाला दास है। वहाँ पूर्णतया द्वैत की स्थिति है जो कि पन्द्रहवें और सोलहवें मंत्र के दो चरणों में व्यक्त की गई है। सोलहवें मंत्र के तीसरे चरण में जहाँ पर ऋषि स्वरूप दर्शन कर रहा है, वहाँ पर दर्शक और दृश्य में सजातीय संबंध होते हुए भी स्वरूपतः भेद है। इस अवस्था में दर्शक रश्मि और तेज, इन दोनों के परमाश्रय प्रभु के सत्स्वरूप का दर्शन कर रहा है। यही चिद्-अचिद्,विशिष्ट ब्रह्म का साक्षात्कार है। मंत्र के चौथे चरण में ऋषि में तत्त्व दृष्टि का उदय हो गया है और वह 'सोऽहमस्मि' के रूप में अद्वैत का उद्घोष करता है। भगवान् आदिशंकराचार्य इसी तत्त्व दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

सत्यपिभेदापगमे नाथतवाऽहं नमामिकिनस्त्वम्,
सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।।

हे प्रभो ! "यद्यपि मेरे और आप में भेद के लिए कोई स्थान नहीं है फिर भी आपसे मैं हूँ, आप मेरे से नहीं। हे प्रभो ! समुद्र की ही तरंगे हुआ करती हैं, तरंगों

का समुद्र नहीं होता।" कितनी भावपूर्ण अभिव्यक्ति है, कितनी यथार्थ अनुभूति है।

इस सारे विवेचन से अब आप लोग समझ गए होंगे कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत सिद्धान्तों में क्या अन्तर है? सनातनधर्म में प्रतिष्ठित शैव, वैष्णव, शाक्त आदि से सम्बन्धित जितने सम्प्रदाय हैं, चाहे वे किसी भी नाम से क्यों न प्रचलित हों, उन सभी को इन तीन श्रेणियों में ही रखा जा सकता है, इन तीन दृष्टियों से ही देखा जा सकता है, समझा जा सकता है, जाना जा सकता है। इसे देह दृष्टि, स्वरूप दृष्टि और तत्त्वदृष्टि कहा जाता है। देह दृष्टि से सेवक-स्वामी भाव, स्वरूप दृष्टि से अंश-अंशी भाव और तत्त्वदृष्टि से अभेदभाव की प्रतिष्ठा है। इससे आप लोग यह भी समझ गए होंगे कि सभी भाव अपने-२ स्थान पर सही हैं और सत्य का ही उद्घोष कर रहे हैं। ईशोपनिषद् के सोलहवें मंत्र में इन तीनों भावों की स्थिति का हमें दर्शन होता है और यह बात तो अब आप लोग भी समझ गए होंगे कि तत्त्वदृष्टि को प्राप्त हुए योगी के लिए शरीर दृष्टि और स्वरूप दृष्टि का क्या महत्त्व रह जाता होगा? गीता में इस अवस्था को प्राप्त हुए योगी को ब्रह्म स्वरूप कहा गया है। प्रभु का कथन है—"**निर्दोषहिसमंब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।**" सच्चिदानंद ब्रह्म सर्वथा निर्विकार तथा सम है और उस ब्रह्म में ही वह स्थित है। अभिप्राय यह कि उस अवस्था में किसी भी प्रकार की गति वा स्फूर्ति रूपी विकार का उदय नहीं होता। उस अवस्था को प्राप्त हुआ योगी शरीर में रहता हुआ भी सर्वथा उससे परे रहता है। उस की दृष्टि में स्थूल शरीर की तो बात ही क्या, सूक्ष्म तथा कारण शरीर का भी कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता। गीता में कही गई वही ब्राह्मी स्थिति है, इसे ब्रह्मवित प्राप्त कर लेता है। इस मनुष्य शरीर में रहते हुए उस समय उसकी क्या स्थिति होती है, इसका वर्णन करते हुए प्रभु कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।

(गीता 5/20)

निर्बीज समाधि को प्राप्त होने पर भी प्रारब्ध शेष रहने के नाते योगी को इस शरीर में रहना होता है। है यह बड़ी कठिन स्थिति! परमचैतन्यघन का आत्मरूप में प्रत्यक्ष होने पर भी पुनः लौट कर प्रारब्धवशात् इस सीमित शरीर में आना और इसमें रहते हुए व्यवहार करना, कितना कठिन कार्य है! इसका अनुमान लगाना जनसामान्य की बुद्धि से परे है। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि से उत्थान की अवस्था में आने पर योगी पूर्णप्रज्ञ तथा अविचल बुद्धि को प्राप्त हुआ होता है। वह बाह्य दृष्टि से शरीर में रहता हुआ भी तत्त्वतः ब्रह्म में ही

अवस्थित रहता है। प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए प्रिय से न तो उसे किसी प्रकार का हर्ष होता है न अप्रिय को देख उद्वेग ही। वह अपनी उपस्थिति मात्र से सान्निध्य में आए हुए जीवों को कृतार्थ करता हुआ सदैव ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है। यह कितनी विचित्र स्थिति है, इसका अनुमान भला संसारी जीव क्या लगा सकता है! जनसामान्य की तो बात ही क्या है, वेदादि शास्त्रों के महापंडितों के लिए भी उस योगी की अवस्था को समझ पाना संभव नहीं। वह जगत् और जगदीश, दोनों के मध्य में अवस्थित होता है। करुणावशात् अविद्या से विमोहित जीवों की दयनीय दशा को देखकर वह अपने यथार्थ दर्शन द्वारा उन्हें सन्मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। उस महापुरुष का प्रत्येक क्षण भगवद्-कार्य में ही स्वभावतः निरत रहता है। सज्जनता, सद्भाव की वृद्धि, दुर्जनता वा दुर्भाव का निरसन तथा ज्ञान, वैराग्ययुक्त भगवद्-भक्ति रूप सत्धर्म की प्रतिष्ठा, उसके जीवन का सहज कार्य होता है। ऐसी अवस्था में वह जो कुछ कहता है वही सद्शास्त्र, जो कुछ करता है वही सत्धर्म होता है। शास्त्रज्ञ विद्वान् के लिए उस पूर्णप्रज्ञ की अवस्था को समझ पाना इसलिए संभव नहीं होता कि शास्त्रज्ञ अर्थदर्शी होता है और वह महात्मा यथार्थदर्शी वा सत्यदर्शी। यद्यपि उसे इस शरीर में रहना पड़ता है, शरीर प्रारब्ध शेष रहने से सम्बन्धित सहज व्यवहार भी करना होता है, किन्तु इन सब कुछ को करते हुए भी वह सतत् ब्रह्मस्थ ही रहता है। उस स्थिति से क्षणमात्र के लिए वह विचलित नहीं होता। अन्तर समाधि और बाह्य व्युत्थान कितनी विचित्र दशा है उस योगी की! बहुत कठिन होता है व्यवहार में बर्तना। कुछ पदों में उस अवस्था का संकेत किया है। आप लोग भी उसे सुनें और उसका मनन करते हुए आनंदित हों। यह बात 1962 की है। समाधि से उत्थान की अवस्था में आने पर अनुभूति को इन पदों में व्यक्त किया गया था–

सब शास्त्र बताते भले फिर भी, पर संत इसे जो परेखे न होते,
रहती सब बात की बातन्हि में, बहु भाँति अलौकिक लेखे न होते।
अरे बावरे चन्द्र कृसानुऔ भानु, प्रकाशित संग विशेषें न होते,
हम भी नहीं मानते साँची सखे, इस भाँति यहाँ यदि देखे न होते।।
जहाँ कोटिक सूर्य प्रकाश करें, पर नेकहूँ ताप का लेश नहीं है,
बहु पूरन चन्द्र की चांदनी है, पर शीतलता का क्लेश नहीं है।
जलती नित ज्वाला महानल की, प्रिय लागति दाहक शेष नहीं है,
अरे बावरे साँची को माने इसे, जिन्ह देखा अलौकिक देश नहीं है।।
बहती रस की नित धारा जहाँ पर कंज अनेक खिले रहते हैं,
बजते नित राग छत्तीसों जहाँ, वर वीणा के तार मिले रहते हैं।

करते रविचंद्र प्रकाश नहीं, पै प्रकाशक पुंज निले रहते हैं,
हम भी रहते अब मीत वहीं, जहाँ यार मेरे पहिले रहते हैं।।

इन पदों पर विचार करते हुए आप लोग ऋषि की उस स्थिति का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। संत कबीर ने उस अवस्था को उन्मनी अवस्था कहा है–

कह कबीर यह उन्मुनि रहनी सो परगट करि गाई।
दुख सुख से जो परे परम पद तेहि पद रहा समाई।।

दुःख-सुख, नरक-स्वर्ग, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, आदि समस्त द्वन्दों से परे की अवस्था में स्थित हुआ, वह स्थितप्रज्ञ योगी अपने परम कारण स्वरूप परमात्मा के समक्ष किस रूप में अपनी आन्तरिक अभिलाषा को व्यक्त करता है, उसका दर्शन अब हमें आगे ईशोपनिषद् के सत्रहवें मन्त्र में होता है। यहाँ पर यह याद रखना है कि इस मंत्र में की हुई प्रार्थना उस प्रत्यक्षदर्शी महायोगी के, असम्प्रज्ञात समाधि से संस्कार शेषवशात् व्युत्थान की अवस्था में आकर हुए प्रारब्धवशात् इस शरीर में रहते हुए, आकुल हृदय की प्रार्थना है। उसकी स्थिति को समझने में संत कबीर का यह कथन बहुत सहायक होगा। वे कहते हैं–

जा मरने से जग डरे सो सुनि मोहि आनंद।
कब मरिहऊँ कब पाइहौं पूरन परमानंद।।

यथार्थतः जहाँ पर संसारासक्त व्यक्ति के लिए इस भौतिक शरीर से वियोग रूप मृत्यु घोर दुःखदाई हुआ करती है, जबकि उस अवस्था को प्राप्त हुए महायोगी के लिए वह मृत्यु प्रभु का वरदान लगती है। असीम की अनुभूति करने के पश्चात् सीमित में घिरे हुए रहना, कितना विचित्र लगता होगा उस योगी को! तभी तो वह प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है–

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर।।

(ईशा० 17)

अथ वायुः अमृतम् अनिलम् इदंम् शरीरम् भस्मांतम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतम् स्मर क्रतो स्मर कृतम् स्मर।।

हे प्रभो! "अब यह प्राणवायु अविनाशी अमृत, अपार्थिव सच्चिदानंद में तथा यह शरीर अग्नि में भस्म रूप को प्राप्त हो जाए। हे सर्वरक्षक! सर्वरूप प्रभो! आप मुझे स्मरण करें। मेरे किए हुए को स्मरण करें।" इस प्रार्थना में योगी प्रभु से निवेदन कर रहा है, हे प्रभो! मेरी यह प्राणवायु "अन इलम् अमृतम्", अपार्थिव अमृत को प्राप्त हो जाए। यहाँ अनिलम् के दो अर्थ हैं–अन+इलम्

जिसका अर्थ होता है अपार्थिव सच्चिदानंदमय और इलम् माने पार्थिव। इसी को स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि यह प्राणवायु सच्चिदानंद अमृत में लय हो जाए। अनिलम् शब्द का दूसरा अर्थ है समष्टि प्राण। जिसका अर्थ होता है, यह व्यष्टि प्राणवायु उस समष्टि सर्वव्यापी अमृतमय प्राण में लय हो जाए और फिर यह शरीर भस्मसात् हो जाए। अभिप्राय यह है कि अब इस शरीर का प्रयोजन पूर्ण हो चुका है, इसकी आवश्यकता नहीं रही। शरीर को धारण करने वाली प्राणवायु सर्वव्यापी सच्चिदानंद, अमृत में विलीन हो जाए। इस अमृत की प्राप्ति ही जीवन का प्रयोजन रहा है। अब उस प्रयोजन की पूर्ति हो जानी चाहिए। आवरण हट गया, द्वैत मिट गया, वासना नष्ट हो गई। अब इस प्राणवायु के अलग बने रहने की आवश्यकता नहीं रही। अब इसे पुनः शरीर ग्रहण की भी आवश्यकता नहीं रही। इसके प्रकाश में आविर्भूत होने वाली इन्द्रियों का भी प्रयोजन पूर्ण हो चुका है तथा इसके धारक अहं, मन और बुद्धि का प्रयोजन पूर्ण हो चुका है। अब व्यष्टि रूप में इस के बने रहने का कोई हेतु नहीं रह गया, इसलिए हे करुणामय प्रभो! इस सीमित प्राण को आप अपने असीम अमृतस्वरूप में मिला लें और फिर इस शरीर को अग्नि को समर्पित कर भस्मसात् कर दिया जाए। शरीर के रहने का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा। इसके रहते हुए संभव है पूर्व संस्कारवश कहीं ममत्व न हो जाए? इसलिए अब इसको अग्निदेव के हवाले कर सर्वरूप से भस्मसात् हो जाना ही उचित है। किन्तु प्रभो! पहले यह प्राण आपमें विलीन हो जाएँ, फिर इस शरीर को अग्नि में समर्पित कर भस्मसात कर दिया जाए। इससे यह ज्ञात होता है कि वह योगी अपने व्यष्टि भाव को सुरक्षित रखने में किंचित् मात्र भी रुचि नहीं रखता—"**कब मरिहउँ कब पाइहौं पूरन परमानंद**" की लालसा से युक्त हो शेष प्रारब्ध को निःशेष करने की प्रभु से प्रार्थना कर रहा है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि क्या असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुए योगी का भी प्रारब्ध शेष रह जाता है? क्या उस परम सत्य का साक्षात्कार करने के पश्चात् भी प्रारब्ध बना रहता है? इसका समाधान करते हुए मुंडक उपनिषद् की श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

(मुण्डक० 2/2/8)

उस परात्पर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर इस हृदय में पड़ी हुई जड़-चेतन की गांठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। उस अवस्था में उसे कर्मबंधन का भय नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार कुम्भकार द्वारा पात्र बनाने के लिए चलाया गया

चक्कर प्रयोजन पूर्ण हो जाने पर भी वेगवशात् कुछ काल तक चलता रहता है, उसी प्रकार इस शरीर के द्वारा जो कुछ ज्ञातव्य, कर्त्तव्य और प्राप्तव्य है, उसके पूर्ण हो जाने पर भी प्रारब्धवशात् यह शरीर चलता रहता है। यदि परम तत्त्व की अनुभूति के साथ ही प्रारब्ध नष्ट हो शरीर पात हो जाए तो फिर उस अनुभूति का प्रकाश जनसामान्य के लिए तथा साधकों के लिए प्राप्त कैसे हो सकता है? आप लोग जानते हैं कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उन प्रत्यक्षद्रष्टा ऋषियों के माध्यम से ही अवतरित हुआ है। यदि सत्य दर्शन के पश्चात् उनका शरीर पात हो जाता तो यह अमृतमय ज्ञान आज मानव समाज को कहाँ से उपलब्ध होता? इस बात में तो किंचितमात्र भी संदेह के लिए स्थान नहीं है कि असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त होने पर भी शरीर रह रहा है। उस अनन्त की अनुभूति, उस परम सत्य का साक्षात्कार होने पर भी इस सीमित शरीर में रहना अजीब सा तो लगता है किन्तु इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता। हां, कई बार ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जहाँ उस समाधि की अवस्था में ही योगी अपने शरीर को विसर्जित कर देता है, किन्तु सभी के साथ ऐसा नहीं होता। यह कोई शाश्वत नियम नहीं। हां, अपनी रुचि से कोई-२ योगी शरीर त्याग कर देते हैं। इसमें भी दो भिन्न-२ अवस्थाएँ हैं। कुछ ईश्वरीय विधान वा उनकी अनुकम्पा से उनकी प्रेरणा अनुसार, इस अवस्था की अनुभूति के पश्चात् ब्रह्मभाव में स्थित होते हुए, इस जगत् के अन्य अमृताभिलाषी जीवों के लिए मार्गदर्शन का काम करते हैं। वे ही यथार्थतः गुरुपद को सुशोभित करने वाले होते हैं और कुछ दूसरे ऐसे भी होते हैं जो उस परम सत्य का अनुभव करने के पश्चात् सदा के लिए मौन हो जाते हैं। शरीर में रहते हुए भी उस से कोई प्रयोजन नहीं रखते।

1960 की बात है, उन दिनों मैं स्वामी गिरीश्वरानंद जी के साथ रहा करता था। स्वामी गिरीश्वरानंद विवेकानंद के गुरु भाई स्वामी सत्यानंद के शिष्य थे। वे बड़े ही अच्छे विद्वान् सरल वृत्ति के संत थे। बहुत वर्षों तक हिसार, भटिण्डा, गंगानगर आदि स्थानों पर रहते हुए उन्होंने श्रीरामचरितमानस और गीता का जनमानस में प्रचार किया। लगभग 110 वर्ष की आयु में कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने श्रीगंगानगर में शरीर छोड़ा। वे कभी-२ भटिण्डा से कुछ दूर शिपिया गांव में एक तुरीयावस्था को प्राप्त हुए संत के दर्शनों को जाया करते थे। शिपिया एक गांव का नाम है। उस गांव में रहने के नाते उन महापुरुष को भी शिपिया वाले संत कहा जाता था। मैंने उनका दर्शन किया है, वे उसी गांव में पैदा हुए थे। किसी सद्गुरु की कृपा से साधना में प्रवृत्त हुए, किसान परिवार के थे। सद्गुरु के निर्देशानुसार साधन करते रहे और धीरे-२ उन्होंने एक दिन समाधि

अवस्था को प्राप्त कर लिया। बहुत दिनों तक उसी स्थिति में रहे। धीरे-२ समाधि में ही रहने के अभ्यस्त हो गए। परिणाम यह हुआ कि उनका उठना, चलना, फिरना, सभी कुछ छूट गया और वे उसी अवस्था में बैठे रहते थे। कुछ वर्षों बाद उनके शरीर की अवस्था ऐसी हो गई कि वे उठ कर खड़े नहीं हो सकते थे। कुक्कुड़-मुक्कुड़ आसन से ही बैठे रहते थे, उनके घुटने फैल नहीं सकते थे। लगभग 40 वर्ष की अवस्था में उन्हें यह स्थिति प्राप्त हुई थी और जब मैंने उनका दर्शन किया तो 60 वर्ष उनको उसी अवस्था में बैठेहुए हो चुके थे। वहाँ लोगों ने बताया कि वे इसी स्थिति में सदैव बैठे रहते हैं, कभी नेत्र भी नहीं खोलते। यदि कोई कुछ खिला दे तो खा लेते हैं, पिला दे तो पी लेते हैं। उसी जगह बैठे हुए स्वभावतः मलमूत्र हो जाता है। सेवा करने वाले उन्हें उठाकर बगल करके सफाई कर देते हैं। वे एक झोंपड़ी में रहा करते थे और उस झोंपड़ी में मिट्टी के अनेकों बर्तन पड़े हुए थे, मटके, हड़ियाँ आदि। मुझे आश्चर्य था कि ये पात्र वहाँ क्यों पड़े हुए हैं? मैने वहाँ के लोगों से पूछा तो उन्होंने कहा कि आप थोड़ी देर यहाँ पर बैठिए तो जान जाएँगे। थोड़ी देर बाद देखा, एक मटके से एक फनियर सांप निकला, चलता हुआ आया, उनके शरीर के अगल-बगल घूमता रहा, फिर उनके ऊपर से होकर दूसरी तरफ निकल गया। लोगों ने बताया कि जितने पात्र यहाँ पर पड़े हुए हैं, इनमें सांप-बिच्छू आदि ऐसे जन्तु रहते हैं। आप लोगों को यह जिज्ञासा होगी कि आखिर सांप वहां क्यों रहते थे? योगी की एक अवस्था विशेष में उसके शरीर से एक अद्‌भुत प्रकार की सुगन्ध आने लगती है और आप लोग जानते हैं कि सांप सुगन्ध का प्रेमी है, इसीलिए वह चन्दन के वृक्ष से लिपटा रहता है। उन महापुरुष के सान्निध्य में भी, इसीलिए वे जन्तु रहा करते थे। यह सब कुछ मैंने स्वयं देखा है, कहानी नहीं, प्रत्यक्ष घटना है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि उस असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त हुए कई योगी इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। कई बार कई योगी पागल जैसा व्यवहार करने लगते हैं। उनमें से जो सद्‌गुरु कृपाप्रसाद से उनके दृढ़ संकल्पानुसार लोक-कल्याण तथा जन-उद्धार के लिए शरीर धारण करते हैं, वे ही मुमुक्षुजनों के लिए मार्गदर्शक बनते हैं। उस अवस्था को प्राप्त हुए महापुरुष ही सनातन वैदिकधर्म में सद्‌गुरु के रूप में अभिवंदित हैं। वर्तमान में तो गुरु बनना एक व्यवसाय बन गया है। जिन्होंने कभी अध्यात्म साधना की ओर एक पग भी नहीं बढ़ाया, सत्यानुभूति तो दूर शुद्ध सतोगुण की स्थिति को प्राप्त करना भी इन्हें कभी नसीब नहीं हुआ, ऐसे लोग भी आज गुरु तथा आचार्य के रूप में लाखों लोगों के मार्गदर्शक बने हुए हैं। कितनेआश्चर्य की बात है! यह याद रहे कि वैदिक विज्ञान में श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ को ही

सद्गुरु शब्द से विभूषित किया गया है। ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुआ योगी ही ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है। अन्तर जगत् में वह परमसत्य का द्रष्टा होता है और बाह्य जगत् का भी वह ज्ञाता होता है। वह दहलीज़ पर बैठे हुए व्यक्ति के समान होता है जो अन्दर और बाहर दोनों को देख रहा होता है। उसके अन्तर में अखंड आनन्द का समुद्र लहराता रहता है, बाह्य जगत् में जो कुछ कहता है, करता है, उससे धर्म की ही वृष्टि होती है। पतंजलि ने उस अवस्था में रहने वाले योगी की अवस्था को धर्ममेघ समाधि का नाम दिया है। वह मानवमात्र के लिए आदर्श होता है, प्रेरणा का स्रोत होता है। परमार्थपथ के पथिकों के लिए वह यथार्थ मार्गदर्शक होता है। उसका चित्त सदैव करुणा से पूरित होता है, इसलिए वह पर दुःख में दुःखी और पर सुख में ही प्रसन्न रहता है। उसके सान्निध्य में आने वाले संसार के संतप्त जीवों को शीतलता तथा शान्ति की अनुभूति होती है, इसीलिए सदैव सभी जीव उसके सानिन्ध्य की अभिलाषा करते हैं। वह जानता है कि संसार के मनुष्य अपने मोह और अज्ञानतावश ही आनन्द से आविर्भूत हुई, आनन्दमई सृष्टि में दुःख और संताप के भाजन बने हुए हैं। इसलिए वह अपने सान्निध्य में आए हुए लोगों को अपने विवेक के प्रकाश द्वारा अविद्या-अंधकार को दूर करने में निरत रहता है। उसका व्यक्तित्व और अस्तित्व, दोनों ही अब उसके लिए नहीं, केवल जन-कल्याण के लिए ही होता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ वह महायोगी प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।

आप लोगों ने सुना होगा, जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया और सभी पांडव वीर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ अपने शिविर को आए तो भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—भरतश्रेष्ठ! तुम शीघ्र ही गांडीव धनुष और बाणों से भरे हुए इस अक्षय तरकस को उतार लो और फिर स्वयं भी शीघ्र उतर जाओ, इसके बाद मैं उतरुँगा। अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने कहा कि मेरी आज्ञा का पालन करने में ही तुम्हारा कल्याण है। प्रभु का आदेश पाकर अर्जुन ने सब कुछ वैसे ही किया। पंश्चात् भगवान् स्वयं घोड़ों की बागडोर छोड़ कर रथ से नीचे उतर पड़े। उसी समय अर्जुन की ध्वजा में विराजित भगवान् मारुति भी अन्तर्धान् हो गए और फिर सभी के देखते-देखते ही वह विशाल रथ घोड़ों सहित प्रज्वलित अग्नि में भस्म हो गया। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर सभी स्तब्ध रह गए। प्रभु के चरणों में बारम्बार प्रणाम करते हुए अर्जुन ने पूछा, प्रभो! यह आश्चर्यमय घटना एकाएक कैसे घट

गई? इसका रहस्य मुझे बतानें की कृपा करें। प्रभु ने कहा, अर्जुन! द्रोण और कर्ण आदि के दिव्यास्त्रों द्वारा यह रथ तो पहले ही दग्ध हो चुका था किन्तु मेरे बैठे रहने के कारण समर भूमि में भस्म होकर गिर न सका और जब तुम्हारा अभीष्ट पूरा हो गया, इसका प्रयोजन पूर्ण हो गया, तो मैंने इसे छोड़ दिया और यह ब्रह्मास्त्र के तेज से दग्ध हुआ रथ भस्म हो गया।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, जीवात्मा रथी है और बुद्धि सारथि। यहाँ जिस बुद्धि की सारथि रूप में चर्चा की गई है,वह प्रभु प्रसाद से प्राप्त हुई ऋतम्भरा प्रज्ञा है क्योंकि वह प्रज्ञा ही इस जीवात्मा रूपी रथी को उसके लक्ष्य-रूप परमात्मा तक पहुंचाने में सक्षम होती है। गोस्वामी जी ने धर्मरथ का वर्णन करते हुए ईश भजन को ही सारथि बताया है। इस रथ के द्वारा जब जीवात्मा अपने लक्ष्य-रूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, उस समय इस रथ का कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता, फिर अपने सम्पूर्ण अवयवों के साथ अर्जुन के रथ के समान इसका भस्मसात् होना ही उचित होता है। हां, यदि इस शरीर से उस परमतत्त्व का बोध प्राप्त न किया गया तो फिर कठोपनिषद् के शब्दों में पुनः अनेक योनियों में भटकते हुए संताप का भाजन ही बनना पड़ता है। श्रुति कहती है–

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।।
(कठ० 2/3/4/)

इस शरीर के पतन होने से पूर्व इस शरीर में ही परमात्मा को प्रत्यक्ष कर लिया जाए, तभी इसकी सार्थकता है, नहीं तो फिर अनेक कल्पों तक, अनेक योनियों में शरीर धारण करने को विवश होना पड़ता है। इससे आप लोग यह समझ गए होंगे कि जिस प्रयोजन की पूर्ति के लिए यह शरीर मिला है, उसे पूर्ण होने पर ही ऋषि इसके भस्मसात् होने की प्रार्थना करता है। अर्जुन की तरह जब विजयश्री प्राप्त हो जाए, स्वराज्य प्राप्त हो जाए, तभी इस शरीर रूपी रथ का प्रयोजन पूर्ण होता है और उसके पश्चात् ही इसे अग्निदेव को समर्पित कर सदैव के लिए इससे छुटकारा प्राप्त होता है। इसके प्रयोजन के पूर्ण होने से पूर्व यदि इसे अग्नि के हवाले कर दिया जाए, तो यह बड़े दुःख की बात है। इस मंत्र में 'इदं शरीर' शब्द का प्रयोग स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों के लिए ही समझना चाहिए। ज्ञानाग्नि में कारण शरीर, संयमाग्नि में सूक्ष्म शरीर और भूताग्नि में स्थूल शरीर भस्मसात् किया जाता है। वैदिक धर्म में इस क्रिया को सर्वमेध यज्ञ के नाम से कहा गया है। वैदिक ऋषि प्रयोजन पूर्ति के पश्चात् इस शरीर की स्मृति

किसी भी रूप में सुरक्षित रखना नहीं चाहते थे, इसलिए इसे अग्निदेव को समर्पित करने का निर्देश देते हैं। हिन्दू धर्म में जो मृत शरीर को जलाने की प्रथा है, वह इसी मंत्र के आदेश पर प्रतिष्ठित है।

वैदिक धर्म मानव शरीर को परमात्मा तक पहुँचाने का उत्तमतम वाहन मानता है। यदि उस तक पहुँचने से पूर्व ही स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तो उसे भी भस्मसात् करने का आदेश देता है, क्योंकि उसकी उपस्थिति में संस्कारवश जीवात्मा की आसक्ति उसमें बनी रहती है और वह आगे की यात्रा में गतिशील नहीं हो पाता, इसलिए उसकी संस्कारजन्य आसक्ति को नष्ट करने के लिए मृत शरीर को अग्नि को समर्पित कर देना ही उस आत्मा के लिए हितकर सिद्ध होता है। जिन धर्मों में शरीर को सुरक्षित रखने की मान्यता प्रचलित है, उनके यहाँ जीव-विकास के क्रम को स्वीकार नहीं किया गया। मैंने पहले आप लोगों को वैरोचन द्वारा स्थापित किए सिद्धान्त की बात सुनाई है। वैरोचन सम्प्रदाय जिसको आसुर सम्प्रदाय कहा जाता है, उसमें शरीर, मन, आत्मा को एक माना जाता है। शरीर के साथ ही मन और आत्मा की भी मृत्यु होती है और इस विश्वास के साथ शरीर को सुरक्षित रखा जाता है कि एक दिन ऐसा आएगा जबकि वह पुनः आत्मा और मन के साथ जीवित हो जाएगा, किन्तु वैदिक धर्म में इस प्रकार के विश्वास के लिए स्थान नहीं। यह विकासवादी धर्म है। इसके सिद्धान्तानुसार जीव परमात्मा का सनातन अंश है, उसका अमृत पुत्र है, वह सदैव उस अमृतत्त्व को प्राप्त करने के लिए गतिशील है। यह विविध प्रकार के शरीर उसकी उस यात्रा के वाहन हैं। उनमें श्रेष्ठतम वाहन मानव शरीर है। इस मानव शरीर द्वारा वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में, अपने गन्तव्य तक पहुँचने में सफल हो सकता है। यदि एक शरीर से उस लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाता है तो उसके त्याग के पश्चात् ईश्वरीय दिव्य विधान से उसे पुनः नया शरीर प्राप्त हो जाता है और वह इस प्रकार गीता के शब्दों में "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।" अनेक जन्मों के प्रयत्न द्वारा परम गति को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि प्रत्येक शरीर के त्याग के पश्चात् वेद के निर्देशानुसार उसके स्थूल शरीर द्वारा सर्वमेघ यज्ञ सम्पन्न किया जाता रहा है किन्तु इस मंत्र में जिसके लिए ऋषि प्रार्थना कर रहा है, उसकी स्थिति कुछ विलक्षण है।

अब इस शरीर का प्रयोजन पूर्ण हो चुका है, वह स्वेच्छा से इसके सर्वमेघ यज्ञ की प्रार्थना कर रहा है। यह पहले भी मैंने बताया है कि वैदिक धर्म पूर्णतया यज्ञात्मक है। यज्ञ से ही जीवन का प्रारम्भ होता है और यज्ञ द्वारा ही इसका विसर्जन। कितनी विचित्र बात है, ज़रा इसके विषय में आप लोग गंभीरता से

विचार करें। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि पाँचवी आहुति में यह अपस तत्त्व पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो जाता है, इसीलिए श्रुति उसे यज्ञ स्वरूप कहती है—"पुरुषो वाव यज्ञः।" 'पुरुष ही यज्ञ है'। यज्ञ से ही इसका आविर्भाव हुआ है। गीता में भगवान् ने यज्ञ के साथ ही प्रजा की सृष्टि बताई है और यज्ञ के द्वारा ही उसे निःश्रेयस की प्राप्ति का विधान बताया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में पंचाग्नि विद्या का वर्णन है। इसमें राजा प्रवाहण गौतुम को उस विद्या का रहस्य समझाते हुए कहता है—द्युलोक अग्नि है, आदित्य ईंधन है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अंगार हैं और विदिशाएँ चिन्गारियाँ। उस अग्नि में देवगण श्रद्धा को हवन करते हैं। उस आहुति से सोमतत्त्व का आविर्भाव होता है। पर्जन्य देवता ही अग्नि है, संवत्सर ही ईंधन है, बादल धूम है, विद्युत ज्वाला है, इन्द्र का वज्र अंगार हैं, मेध का गर्जन चिन्गारियाँ हैं, उस अग्नि में देवगण सोमतत्त्व का हवन करते हैं, जिससे वृष्टि होती है। यह लोक ही अग्नि है, पृथ्वी ही समिधा है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चंद्रमा अंगार है और नक्षत्र चिन्गारियाँ। उस अग्नि में देवता वृष्टि को होम करते हैं, उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है। पुरुष ही अग्नि है, उसका मुख ही समिधा है, प्राण धूम है, वाक् शक्ति ज्वाला है, नेत्र अंगारे हैं और श्रवण चिन्गारियाँ, उस अग्नि में देवगण अन्न को होमते हैं, उस आहुति से वीर्य पैदा होता है। स्त्री ही अग्नि है, उसकी जननेन्द्रिय ईंधन है, लोम धूम है, योनि ज्वाला है, मैथुन व्यापार अंगार है, आनन्दानुभूति ही चिन्गारियाँ हैं। उस अग्नि में देवगण वीर्य को होमते हैं, उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है, जीवित रहता है और जब मरता है, तब उसे अग्नि के पास ले जाते हैं। उस समय अग्नि ही अग्नि, ईंधन ही ईंधन, धूम ही धूम, ज्वाला ही ज्वाला, अंगारे ही अंगारे, चिंगारियाँ ही चिंगारियाँ होती हैं। उस अग्नि में देवगण पुरुष शरीर को होमते हैं। उस आहुति से पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान हो जाता है।

उपनिषद् के इस प्रकार के विवेचन से बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक धर्म में जीवन तत्त्व श्रद्धा की आहुति से प्रारम्भ होता है और वीर्य की आहुति से पुरुष रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती है। जीवन के प्रयोजन को पूर्ण करने के पश्चात् उस पुरुष शरीर की अग्नि में आहुति दे देने पर ही आत्मा देदीप्यमान हो अपने स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार यज्ञ से ही जीवन का प्रारम्भ और यज्ञ में ही उसकी पूर्ति का विधान किया गया है। यहाँ एक बात और समझ लेनी है कि वैदिक धर्म में किसी भी अवस्था में रहने वाले व्यक्ति के शरीर की अन्त्येष्टि के रूप में दाह संस्कार के सिवा और कोई दूसरा विधान नहीं है। विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा वर्तमान में अपनाई गई जल समाधि तथा भूमिगत

समाधि की विधियाँ मेरे विचार से सर्वथा अवैदिक हैं। यह आप सभी जानते हैं कि उपनिषद्विद्या ब्रह्मविद्या है और वह मोक्षशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है। विरक्त वा सन्यासी, योगी वा तपस्वी, सभी की साधना और गति का आधार यह ब्रह्मविद्या ही है। यह ईशोपनिषद् ब्रह्मविद्या का मूल ग्रन्थ है। यजुर्वेद के काण्व शाखा का ४०वां अध्याय होने से वेदान्त शब्द इसी में सार्थक होता है। वह जीवन की पूर्णता को प्राप्त हुए महापुरुष की आन्तरिक अभिलाषा को व्यक्त करते हुए सत्रहवें मंत्र में शरीर के दाह संस्कार का आदेश देता है। उसी प्रकार से बृहदारण्यक उपनिषद् भी पुरुष के मृत शरीर को अग्नि में समर्पित करने का आदेश देती है। यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि फिर कहाँ से इन सम्प्रदायवादियों ने शरीर के दाह संस्कार से अतिरिक्त जलसमाधि, भूमि-समाधि आदि प्रक्रियाओं को प्रारम्भ किया। विद्वत् समाज को इस विषय पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। जैसा कि मैंने बताया है कि मृतात्मा के लिए भी अग्नि दाह के अतिरिक्त अन्य विधियाँ अहितकर होती हैं। यह वैदिक विज्ञान सार्वकालिक और सार्वभौमिक जीवन विकास का उपदेश करता है। अनन्तकाल से मानव समाज इसके प्रकाश में अपना विकास करता आ रहा है और आगे भी अनन्त काल तक करता रहेगा। आप लोग जानते हैं, जैसे एक परिवार में प्रबुद्ध पिता है, अर्द्ध-बुद्ध उसका युवा पुत्र है और अल्प-बुद्ध बालक भी। उसी प्रकार से सम्पूर्ण मानव समाज प्रबुद्ध, अल्पबुद्ध तथा अबुद्ध लोगों से युक्त होता है। यह वैदिक विज्ञान सभी अवस्थाओं में रहने वाले मानव के विकास का उपदेश देता है।

इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषद् विद्या निगूढ़ विद्या है। जैसा कि कल के प्रवचन में मैंने बताया था कि मुमुक्षु श्रेणी के मनुष्यों के लिए ही इस विद्या का उपदेश है, क्योंकि उपनिषद् का प्रवक्ता पूर्णप्रज्ञ ऋषि मुमुक्षुजनों के लिए ही आदर्श होता है। संसार से विरत तथा परात्पर प्रभु में अनुरक्त ऋषि अपनी प्रार्थना में जिस अभिलाषा को व्यक्त कर रहा है, वह संसारासक्त व्यक्ति के लिए अभीष्ट नहीं है। "वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।" हे परमात्मन्! मेरे इस प्राण को अपने अमृतमय, सच्चिदानंदस्वरूप, महाप्राण में मिला ले और मेरा यह शरीर भस्मीभूत हो जाए। इन शब्दों में क्या कहीं किंचित मात्र भी किसी प्रकार की वासना शेष रह जाने की सम्भावना दीखती है? नहीं, बिल्कुल नहीं। वह पूर्ण असंग हुआ ऋषि आगे प्रभु से कहता है—"ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर।" ॐ शब्द सर्वरक्षक, सर्वसृजक, सर्वव्यापी, सर्वरूप, सच्चिदानंद का अवबोधक है। सभी

उपनिषदें, गीता तथा दर्शनशास्त्रों में इसके जप, सुमिरन, चिन्तन और ध्यान का विधान किया गया है। यहाँ पर ॐ शब्द से ऋषि उस सर्वरूप परमात्मा को पुकारते हुए उससे स्वयं को और स्वयं के कर्मों के स्मरण करने की प्रार्थना कर रहा है। यथार्थतः उस ऋषि का प्रयत्न प्रशंसनीय है। कितनी योनियों में भटकता हुआ, कितना आपदाओं से जूझता हुआ, कितने बन्धनों को तोड़ता हुआ, कितनी बाधाओं को दूर करता हुआ, वह प्रभु का सान्निध्य प्राप्त कर पाया है, प्रभु तक पहुँच पाया है, प्रभु के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को देख पाया है, जान पाया है। अब वह अधिक काल तक उससे अलग नहीं रह सकता, रहना भी नहीं चाहता, इसलिए अपने को स्वयं में लीन करने की प्रभु से प्रार्थना कर रहा है। इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ वायु शब्द प्राण स्वरूप जीवात्मा का अवबोधक है। दूसरे शब्दों में वह अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन करने के लिए उन्हीं से प्रार्थना कर रहा है क्योंकि वह जानता है कि यह कार्य उसके बूते का नहीं, उसके अधिकार का नहीं, यह तो प्रभु की कृपा पर ही अवलम्बित है। वह जो कुछ भी कर सकता था, कर चुका है, इससे अधिक कुछ करने की उसमें सामर्थ्य नहीं, इसीलिए वह कहता है कि हे सर्वरक्षक प्रभो! आप मुझ को देखें, स्मरण करें और मेरे किए हुए को देखें,स्मरण करें। अभिप्राय यह है कि किन-२ कठिनाइयों से जूझता हुआ मैं आप तक पहुँच पाया हूँ, इसलिए प्रभो! आप मुझे अपने से दूर न करें, अलग न रखें। यहाँ पर **"क्रतो स्मर कृतँ स्मर"** इस वाक्य को दो बार कहा गया है। इससे प्रार्थी की अधीरता व्यक्त होती है। कुछ महापुरुषों ने मंत्र के इस भाग का अर्थ करते हुए कहा है, हे जीव! तू अपने किए हुए को याद कर। यदि इस वाक्य का यह अर्थ किया जाए तो यहाँ प्रयुक्त हुआ ॐ शब्द प्रयोजन रहित हो जाता है। दूसरी बात यह है कि मंत्र के पूर्वभाग से इस अर्थ की संगति भी नहीं बैठती। जो ऋषि स्वयं के प्राण को अनन्त अमृत में विलीन होने की प्रार्थना कर रहा है और साथ ही शरीर के भस्म हो जाने की अभिलाषा व्यक्त कर रहा है, भला, वह उस स्थिति में पहुँच कर अपने मन को उसके किए हुए का स्मरण करने की बात कैसे कह सकता है?

कुछ विद्वानों ने यहाँ पर 'क्रतो' शब्द का अर्थ परमात्मा किया है। वेद में 'क्रत' शब्द यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और यज्ञ परमात्मा का ही स्वरूप है। श्रुति कहती है—**"यज्ञो वै विष्णुः"** निश्चय ही यज्ञ विष्णु है। इसलिए यहाँ पर **"ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर"**, हे सर्वरक्षक यज्ञमय प्रभो! इस अवस्था में आप मुझे स्मरण करें, मेरे द्वारा किए कर्मों का स्मरण करें। क्रतो शब्द

सम्बोधन के अर्थ में प्रयुक्त है। यह सम्बोधन यज्ञ का नहीं हो सकता। इसलिए यह यज्ञस्वरूप परमात्मा का ही सम्बोधन है और उसी से स्वयं को स्मरण करने की प्रार्थना करता है। कुछ विद्वानों ने क्रतु शब्द का अर्थ जीव किया है, कुछ ने संकल्पमय मन किया है और इसका अर्थ किया है कि हे संकल्पमय जीव! उसका किया हुआ स्मरण कर। मेरे विचार से प्रसंगानुसार यह अर्थसंगत नहीं है। मंत्र के पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए ही उसके साथ जिसकी संगति बैठती हो, वही अर्थ करना चाहिए। यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि इस मंत्र का देवता आत्मा है और आत्मानुभूति को प्राप्त हुआ ऋषि अपनी अन्तिम गति की अभिलाषा व्यक्त करते हुए प्रभु से प्रार्थना कर रहा है—**"वायुः अनिलम् अमृतम्।"** वायु शब्द आत्मा के अर्थ में अनेकों बार उपनिषदों में प्रयुक्त हुआ है। **"वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।"** हे वायु! तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। यहाँ ब्रह्म शब्द आत्मा के अर्थ में है। प्राणवायु की स्थिति होने तक ही आत्मा की सत्ता स्वीकार की जाती है। इसलिए वायु ही आत्मा है, ऐसा कहना अनुचित नहीं। उस प्राणवायु को अमृतमय, चिन्मय, प्रभु में विलीन होने की प्रार्थना करता है और फिर **"भस्मान्तँ शरीरम्"** से त्रिविध शरीरों को भस्म हो जाने की अभीप्सा करता है। फिर यहाँ पर जीव, मन आदि के लिए स्थान ही कहाँ है, जिसके किए हुए को स्मरण करने की बात की जाए। मेरे विचार से 'ॐ क्रतो' शब्द का अभिप्राय सर्वरक्षक, सर्वस्रष्टा, सर्वहितकारी परमात्मा से ही है और उन्हीं से प्रार्थी स्वयं को स्मरण करने की और स्वयं के कार्यों को स्मरण करने की प्रार्थना करता है।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि अपने को और अपने कर्मों को देखने के लिए क्यों प्रार्थना की जा रही है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह ऋषि भक्तिमार्ग का पथिक है और भक्तिमार्ग में ज्ञान, ध्यान और प्रार्थना, इन तीनों का समन्वय है। इसके पूर्व के मन्त्रों की व्याख्या में ये बातें बताई जा चुकी हैं। क्षर और अक्षर के साथ परात्पर पुरुष का बोध और फिर उसके सत् स्वरूप का ध्यान करते हुए उसको आवृत्त किए हुए हिरण्मय पात्र को हटा लेने की प्रार्थना। प्रभु के दिव्य गुणों के चिन्तन के साथ की हुई प्रार्थना की अनुग्रह में परिणिति, प्रभु के अनुग्रह से उनके सत्-स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन और फिर उनसे स्वयं की अभिन्नता की अनुभूति, इस पूर्णावस्था को प्राप्त हुआ योगी अब अपने सीमित जीवभाव को अमृत में विलय होने की और साधन रूप त्रिविध शरीरों के भस्मसात् होने की प्रार्थना कर रहा है। प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् भी सीमित अस्तित्व का बना रहना संभव है किसी न्यूनता वा कमी का परिणाम हो, इसलिए वह प्रार्थना कर रहा है कि हे करुणामय

प्रभो! आप मुझे स्मरण करें और मेरे किए हुए को स्मरण करें, यह भक्त का दैन्य भाव है। प्रभु के समक्ष अपनी असमर्थता की अभिव्यक्ति है। अपने साधनों की त्रुटि में प्रभु के देखने वा स्मरण करने मात्र से पूर्णता की आशा है। भक्तिमार्ग के आचार्यों ने इस मंत्रभाग का अर्थ करते हुए लिखा है कि भगवान् की यह प्रतिज्ञा है कि अंतिम समय में मैं स्वयं अपने भक्त का स्मरण करता हूँ और उसे परमगति में पहुँचा देता हूँ--"अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्।" हे प्रभो! अब वह समय आ गया है, आप मेरा स्मरण करें, मेरे किए हुए का स्मरण करें, यद्यपि मैं अपने पुरुषार्थ द्वारा, अपने कर्मों द्वारा आपसे अभिन्न होने में सक्षम नहीं हूँ। मेरी अल्पज्ञता, असमर्थता का स्मरण करें और मैं आप का ही नित्य अंश हूँ, आप का हूँ, यह स्मरण करें। आपके स्मरण मात्र से ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगा, यही भाव है, इस मंत्र के उत्तरार्द्ध का। इसी भाव को अभिव्यक्त करता हुआ ऋषि प्रार्थना करता है--

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।

इस मंत्र से यह भी आशय प्रकट होता है कि जीव में इतनी सामर्थ्य नहीं, इतनी योग्यता नहीं कि वह स्वयं को परमात्मा में विलीन कर सके। उसकी प्रार्थना, उसकी भक्ति, उसकी दीनता ही प्रभु को द्रवित करने में हेतु बनती है और अपनी करुणा से ही प्रभु उसे अपने में आत्मसात् कर लेते हैं। गीता में भी प्रभु ने यही कहा है--

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

(गीता 18/55)

"भक्ति के द्वारा ही मेरे को तत्त्वतः पूर्ण रूप से जानता है, मैं जो और जिस प्रभाव वाला हूँ, भक्ति से ही जाना जाता हूँ और उस भक्ति से ही तत्त्वतः मेरे को जानकर योगीं तत्काल मुझ में प्रविष्ट हो जाता है।" हम आप सभी जानते हैं कि दुनिया में आकर्षण का कारण धन, बल, रूप, विद्या, गुण, कर्म आदि हुआ करते हैं किन्तु परमात्मा से अधिक इनमें से कुछ भी जीव के पास नहीं है और न तो कभी हो ही सकता है। फिर प्रभु को रिझाने के लिए, उन्हें प्रसन्न करने के लिए, केवल अपनी दयनीय दशा की अभिव्यक्ति और उनके आश्रित हो उनसे प्रार्थना के सिवा दूसरा साधन हो ही क्या सकता है? विनय-पत्रिका में तुलसीदास जी ने लिखा है--"खीझिबो लायक मेरो अवगुन अनेक नाथ, रीझिबो लायक तुलसी की निर्लजई।" हे प्रभो! आपको खीझने के लिए तो मेरे अनेकों अवगुण हैं किन्तु रीझने के लिए, प्रसन्न होने के लिए,केवल एक मेरी निर्लज्जता है। अनन्त अवगुणों और दोषों के होते हुए भी मैं आपका हूँ और

आपके समक्ष खड़ा हूँ, आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ, इससे बड़ी निर्लज्जता और क्या हो सकती है ? अभिप्राय यह कि प्रभु के समक्ष ही उनकी अनुकम्पा को प्राप्त करने के लिए केवल अपनी दीनता व्यक्त करते हुए उनकी कृपा दृष्टि को प्राप्त करने की प्रार्थना ही एकमात्र उपाय है। अपने सर्वमेघ यज्ञ की पूर्ति के लिए इस सत्रहवें मंत्र में ऋषि उस प्रार्थना का ही आश्रय ले प्रभु को पुकारते हुए कहता है—"**वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर।।**" आर्त्त हृदय की प्रार्थना में वह ताप निहित है जो प्रभु को भी पिघला देता है, उन्हें भी द्रवित होने के लिए विवश कर देता है। आप लोग भी ऋषि के शब्दों में प्रभु से प्रार्थना करते हुए अपने कल्याणपथ पर अग्रसर हों, इसी शुभकामना के साथ आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है।

हरि ॐ तत्सत्
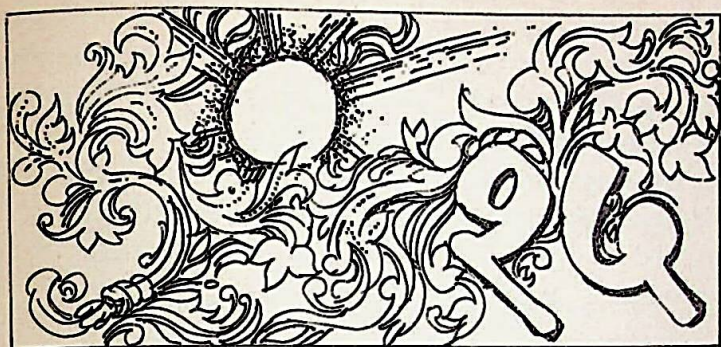
मेरी प्रिय आत्माओ !

भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए सदैव कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना। कई दिनों से आप ईशोपनिषद् पर प्रवचन सुन रहे हैं। कल आप लोगों को सत्रहवें मंत्र की व्याख्या सुनाई गई थी। इस मंत्र में ऋषि अपने अस्तित्व को पूर्णरूप से प्रभु में विलय की प्रार्थना करता है। गीता में भगवान् ने उसे ब्रह्मनिर्वाण शब्द से सम्बोधित किया है। ब्रह्मनिर्वाण ही जीवन का अन्तिम प्राप्तव्य है। वही अक्षय-सुख का साधन है। ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करने वाला पूर्णप्रज्ञ ऋषि जीवनमुक्त है। अब वह विदेहमुक्ति की प्रार्थना कर रहा है। ब्रह्मनिर्वाण के सम्पूर्ण क्रम को मुंडक उपनिषद् के दो मंत्रों में बताया गया है। पहले मंत्र में ब्रह्मनिर्वाण किस प्रकार होता है, यह बताया गया है और दूसरे मंत्र में उसकी स्थिति का वर्णन है। पहला मंत्र है—

गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।।

(मुण्डक० 3/2/7)

ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुए जीवनमुक्त पुरुष का जब शरीर पात होता है, उस समय श्रद्धा आदि 15 कलाएँ अपने कारण में मिल जाती हैं और एकादश इन्द्रियाँ अपने कारणरूप अपने अभिमानी देवताओं में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। उसके बाद उसके समस्त कर्म-संस्कार और विज्ञानमय आत्मा, ये सब परमात्मा में विलीन होकर एकरूप हो जाते हैं। उपनिषदों में आत्मा के विभिन्न रूपों का वर्णन प्राप्त होता है—भूतात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा और शान्तात्मा। इनमें शरीरयुक्त इन्द्रिय जगत् भूतात्मा कहा जाता है और सूक्ष्म मानसिक जगत् प्रज्ञानात्मा है। इन दोनों के लिए इस मंत्र में कला और देवा शब्द से संकेत किया गया है। आगे बुद्धिस्थ चेतन ही विज्ञानात्मा के नाम से

अभिहित है, उसी की जीव संज्ञा है। जीवनमुक्त अवस्था में भी दग्धबीज रूप को प्राप्त हुए सपूर्ण कर्म-समुदायों के साथ वह रहता है। ब्रह्मनिर्वाण की अवस्था में वह विज्ञानमय आत्मा ही अव्यय परमात्मा वा शान्तात्मा में विलीन हो एक हो जाता है। विलीन हो जाने के पश्चात् उसकी क्या स्थिति होती है, इसका वर्णन मुंडक की दूसरी श्रुति कर रही है:—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

(मुण्डक० 3/2/8)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना नाम और रूप त्याग कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार वह सत्यद्रष्टा, पूर्णप्रज्ञ महात्मा नामरूप से विमुक्त हो, उस परात्पर, दिव्य, परमपुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए श्रुति कहती है—"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैवभवति।" निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। स्वयं के व्यक्तित्व और अस्तित्व को समग्र रूप से परमात्मा में विलय कर देना ही ब्रह्मनिर्वाण है। जैसे समुद्र में लीन हुई नदियाँ पुनः प्रवाह को प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्मलीन आत्मा भी पुनः इस संसार प्रवाह को प्राप्त नहीं होता। सत्रहवें मन्त्र में उसी ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होने की ऋषि प्रार्थना करता है। जैसाकि मैंने पहले भी बताया है कि यह ब्रह्मनिर्वाण अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त होना सम्भव नहीं, इसीलिए उस परात्पुरुष से प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है—"**ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर।**" हे सर्वरक्षक, सर्वरूप, करुणामय प्रभु! मुझे स्मरण कर, मेरे किए हुए को स्मरण कर। सामवेद की श्रुति का कथन है—"**न ऋते श्रान्तस्य सखाय देवा।**" जबतलक व्यक्ति अपने संपूर्ण साधनों का प्रयोग करके पूर्णतया थक नहीं जाता तबतलक परमेश्वर उसकी सहायता नहीं करता। सत्रहवें मंत्र के अंतिम भाग में हमें इसी भाव का दर्शन होता है। यह ऋषि अपने समस्त साधनों का प्रयोग, जो कुछ कर सकता था कर लिया है। अब वह अपनी सामर्थ्य से हार कर प्रभु की करुणा की राह देख रहा है। इसलिए स्वयं की दशा और स्वयं के कर्मों की स्थिति को स्मरण करने की परमेश्वर से प्रार्थना कर रहा है। इस मंत्र के अन्तिम भाग को दुहराया गया है। उपनिषदों की यही प्रक्रिया है। इससे उपनिषद् की परिसमाप्ति का संकेत मिलता है, किन्तु ईशोपनिषद् यहीं समाप्त नहीं होती, इससे आगे एक और मंत्र है। उस मंत्र में भी परम देदीप्यमान प्रभु से परमानंद की प्राप्ति के लिए

सुन्दर पथ से ले चलने की प्रार्थना है। यह मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मंडल में आता है, यजुर्वेद में भी तीन बार आया है। इस उपनिषद् का यह अंतिम मंत्र है, इसमें ऋषि प्रार्थना करते हुए कहता है--

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।।

(ईशा० 18)

"हे परम प्रकाशस्वरूप परमात्मन'! हमें परमानंदरूप परमधन को प्राप्त करने के लिए सुन्दर मार्ग से ले चलिए। हे देव ! आप ही सम्पूर्ण कर्मों के ज्ञाता हैं, हमारे संपूर्ण कुटिल पापों को दूर कर दीजिए। आपको बार-२ नमस्कारमय वचन कहते हैं, बार-२ आपको नमन करते हैं।" इस मंत्र का यह सामान्य अर्थ है। यहाँ एक बड़े महत्व की बात है, जिसे समझ लेना आवश्यक है। पन्द्रहवें, सोलहवें और सत्रहवें मंत्र में सत्यधर्मा ऋषि द्वारा प्रार्थना व्यक्तिगत की गई है, क्योंकि उस परमतत्त्व का साक्षात्कार समाज के साथ नहीं किया जा सकता और न तो समुदाय के साथ ब्रह्मनिर्वाण को ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए सामुदायिक प्रार्थना की जा सकती है और इस प्रकार की अभिलाषा सामुदायिक ही होनी चाहिए, व्यक्तिगत नहीं। इस मंत्र में प्रयुक्त प्रार्थना के शब्दों पर विचार करते हुए यह ज्ञात होता है कि प्रार्थी उस परम देदीप्यमान प्रभु से अपने समुदाय को परमनिधि को प्राप्त करने के लिए, शोभन पथ पर ले जाने की प्रार्थना कर रहा है। ऋग्वेद में जहाँ इस मंत्र का प्रयोग है, वहाँ अग्नि देवता से ऐश्वर्य प्राप्ति की ही प्रार्थना की गई है, किन्तु यहाँ पर यह उपनिषद् का मंत्र है। प्रसंगानुसार यहाँ ऐश्वर्य की प्रार्थना के रूप में इस का अर्थ करना सर्वथा असंगत होगा। यहाँ अग्नि शब्द का प्रयोग अग्नि देवता के अर्थ में नहीं, उस परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा के अर्थ में है। प्रसंगानुसार ही इसके अर्थ का चिन्तन करना होगा। इस मंत्र का ऋषि दीर्घतमा है और इससे पूर्व के मंत्रों का भी वही ऋषि है। ऋग्वेद में जहाँ यह मंत्र आया है, वहाँ पर देवता अग्नि और ऋषि अगस्त्योमैत्रावरुणि है, किन्तु यहाँ उपनिषद् में इसका देवता आत्मा है, इसलिए जो अर्थ ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अन्य अध्यायों में अभिप्रेत है, यहाँ पर भी वही अर्थ मान लेने से प्रसंगानुसार अनर्थ हो जाएगा। उपनिषद् वेदान्त है और वेदान्त में प्रार्थना में प्रयुक्त सभी सम्बोधन ब्रह्म से ही सम्बन्धित हैं। इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए ऋग्वेद की ऋचा कहती है—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" वह परमतत्त्व एक है, परम सत्य एक है, उसके ज्ञाता ऋषिगण उसका विभिन्न नामों से वर्णन करते हैं। यजुर्वेद की श्रुति

इस गुह्यतम रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहती है–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।

(यजुर्वेद 32/1)

वह ही अग्नि है, वही आदित्य, वही वायु, वही निश्चय रूप से चन्द्रमा है। वह ही शुक्र और वही ब्रह्म, वही रस और वही प्रजापति है। अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति, इन नामों से उस परमतत्त्व को ही सम्बोधित किया जाता है। ये सब उसी के नाम हैं। परमात्मा के सभी नाम उसके गुण विशिष्ट से ही सम्बन्धित हैं। साधक को परमात्मा के जिस गुण को प्राप्त करने की अभीप्सा होती है अथवा परमात्मा की जिस शक्ति से उसकी अभिलाषा पूर्ण होने की सम्भावना होती है, उसी से सम्बन्धित नाम से वह परमात्मा का चिन्तन करता है, उसी नाम से परमात्मा को पुकारता है। भगवान् शंकराचार्य जी ने विष्णु सहस्रनाम की व्याख्या में बड़े वृहद रूप से इसका विवेचन किया है। उपनिषद् के इस अठारहवें मन्त्र में ऋषि अग्नि शब्द से परमात्मा को सम्बोधित कर रहा है। वैदिक साहित्य में इस शब्द की बड़ी महिमा है।

जैसा कि आप सभी जानते हैं कि शाश्वत सनातन धर्म का मूल आधार वेद है और उनमें भी ऋग्वेद प्रधान है। ऋग्वेद का प्रथम स्थान है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रथम सूक्त के प्रथम मंत्र का प्रथम अक्षर है अग्नि। दूसरे शब्दों में यह अग्नि ही शाश्वत सनातन धर्म का मूल आधार है। भगवान् यास्काचार्य ने अग्नि शब्द का कई प्रकार से निर्वचन किया है। अग्नि शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है–"**अंगति ऊर्ध्वं गच्छति इति अग्नि।**" जो सदैव ऊर्ध्वगति स्वभाव वाला है, वह अग्नि है। अंजधातु से अग्नि शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है– व्यक्त होना, प्रकाशित होना। जो अव्यक्त से अभिव्यक्त होता है, वह अग्नि है। यास्काचार्य ने इसका एक और अर्थ किया है। "**अग्नि अग्रणि भवति।**" जो अग्रणि है वह अग्नि है। अग्रणि शब्द कई भावों को प्रकट करता है। जो सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम होता है, वह अग्रणि है, जो सबके आगे चलता है, वह अग्रणि है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि अग्नि शब्द से जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है, वे सभी मनुष्य के लिए कितने उपयोगी और आवश्यक हैं। अग्नि का सहज धर्म ऊर्ध्व गति है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का यही उद्देश्य है। जीव की दो ही गतियाँ बताई गई हैं–ऊर्ध्वगति या अधोगति। अधोगति किसी को प्रिय नहीं, वह किसी का अभीष्ट नहीं। पृथ्वी और जल, ये दोनों ही स्वभावतः अधोगति वाले हैं। जल की प्रकृति का वर्णन

करते हुए एक कवि कह रहा है–

कोटि यत्न कोऊ करे परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचों चढ़े अंत नीच को नीच।।

"करोड़ों प्रयत्न क्यों न किया जाए, फिर भी व्यक्ति और पदार्थ के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। नल के द्वारा जल को कितना ही ऊँचा क्यों न ले जाया जाए किन्तु जब भी इसे छोड़ा जाता है, तब वह नीचे की तरफ ही बहता है।" यहाँ पर एक और रहस्य की बात आप समझ लें। वेद में सृष्टि के मूल में दो तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। वे दो तत्त्व हैं, अग्नि और सोम–"**अग्नि सोमात्मकं जगत्।**" उनमें से मन से लेकर समस्त इन्द्रियाँ और उनके विषयरूप भूत समुदाय, ये सभी सोमात्मक हैं, सोम प्रधान हैं। इस सोम का ही अपस तत्त्व के रूप में वर्णन किया गया है और उसकी गति का यज्ञ रूप में विवेचन करते हुए श्रुति कहती है कि यह अपस तत्त्व ही पाँचवी आहुति में पुरुष संज्ञा को प्राप्त होता है। यहाँ पुरुष शब्द मानव शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस प्रसंग के अनुसार यही अर्थ संगत है। वैदिक साहित्य में बुद्धि को आग्नेय माना है और उसके प्रकाश में ही जीव की ऊर्ध्व गति बताई गई है। अग्नि शब्द का जो धातुज अर्थ है, वह प्रकाश और अभिव्यक्ति का अवबोधन कराता है। निरुक्ति के अनुसार वह अग्रणि है। सृष्टि का प्रथम तत्त्व, सृष्टि में सर्वप्रथम अभिव्यक्त हुआ तथा समस्त प्राणियों का अग्रणि नेता, मार्गदर्शक, सभी जीवों को ऊर्ध्व गति में ले जाने वाला ही अग्नि है। महर्षि दीर्घतमा उस परम देदीप्यमान, परम प्रकाशस्वरूप परमात्मा को उसके इन्हीं दिव्य गुणों से युक्त स्वरूप का चिन्तन करते हुए, उन गुणों के अवबोधक अग्नि से ही सम्बोधित करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं–"**अग्नेनय सुपथा राये अस्मान्।**" हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, हे ऊर्ध्व गति के प्रदाता ! हम सभी को सुन्दर पथ से परमनिधि तक ले चलें।

यहाँ 'राये' शब्द बड़ा ही रहस्यात्मक है। इसका अर्थ ऐश्वर्य, सम्पत्ति, निधि और आनंद है। रयि और राय, ये दोनों ही शब्द एक ही धातु से बनते हैं। प्रश्नोपनिषद् में जहाँ सृष्टिक्रम का वर्णन आया है, वहाँ पर बताया गया है–

स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।
रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्य इति।।

(प्रश्न० 1/4)

"उस परमात्मा ने अपने संकल्प से एक जोड़े को उत्पन्न किया, एक रयि और दूसरा प्राण और संकल्प किया कि ये दोनों बहुत प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे।" उसमें प्राण और रयि क्या हैं अथवा इनकी किस रूप में

अभिव्यक्ति हुई है, इसको स्पष्ट करते हुए पिप्लाद ऋषि कहते हैं–

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्।
सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।।

(प्रश्न० 1/5)

यह निश्चय है कि आदित्य ही प्राण है और चन्द्रमा ही रयि। जो कुछ भी मूर्त्त और जो कुछ अमूर्त्त हैं, ये सभी कुछ रयि है। इसलिए मूर्त्त मात्र ही रयि है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कार्य-कारण रूप में यह संपूर्ण विश्व जिसे भगवान् ने गीता में अपनी विभूति के रूप में बताया है, वह सभी कुछ रयि है। ऋग्वेद में यह 'राये' शब्द अनेकों बार प्रयुक्त हुआ है और वहाँ पर यह शब्द ऐंश्वर्य और आनन्द, दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रभु की महिमा का वर्णन करते हुए ऋग्वेद की ऋचा कहती है–"**यो रायोऽवनिर्महान्।**" (1/4/10) जो आनंद की महान् भूमि है, आनंद का परम धाम है। एक दूसरे मंत्र में कहा है–"**स राये स पुरंध्याम्।**" (1/5/3) वह आनंद और सद्बुद्धियां प्रदान करे। क्योंकि यह राये शब्द यहाँ उपनिषद् में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए इसका अर्थ यहाँ रयि वा ऐश्वर्य नहीं, परमानंद ही अभिप्रेत है। वह ब्रह्मनिर्वाण का अभिलाषी ऋषि अग्नि देवता से ऐश्वर्य की याचना नहीं कर रहा, वह उस परमप्रकाशस्वरूप परमेश्वर से परमधन रूपी परमानंद वा परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिए सभी को, उस तक ले चलने की प्रार्थना कर रहा है।

यह बात मैंने आप लोगों को पहले भी बताई है कि परमात्मा का प्रत्येक नाम उनके गुण विशेष का ही अवबोधक है। साधक को जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उसी के अवबोधक नाम से प्रभु को पुकारता है। अग्नि प्रत्यक्षतः प्रकाश, दाह और शक्ति का स्रोत है। प्रकाश ज्ञान का, दाह प्रेम का और शक्ति गति का अवबोधन कराती है। परमनिधि रूप उस परात्पर प्रभु तक पहुँचने के लिए, इन तीनों की ही परमावश्यकता होती है। बृहदारण्यक में महाराज जनक को उपदेश देते हुए ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा–

एषास्य परमागतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक ऐषोऽस्य पर आनन्द एतस्यैवानन्द स्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

(बृहदारण्यक 4/3/32)

"यह इस पुरुष की परमगति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानंद है, इस आनंद की मात्रा के आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं।" यह श्रुति जिस सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप को जीव की परम गति, परम सम्पत्ति, परमलोक, परमानंद

के रूप में वर्णन करती है, इस अठारहवें मन्त्र में ऋषि उसी को 'राये' शब्द से सम्बोधित कर रहा है और उस तक पहुंचने के लिए ज्ञान, प्रेम और शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करते हुए, उनके परम आश्रय रूप उस परमात्मा को अग्नि शब्द से सम्बोधित करता हुआ इनकी याचना करता है—"अग्ने नय सुपथाराये‌ऽस्मान्।" शास्त्र का यह कथन है कि जिसका चिन्तन, ध्यान और सुमिरन किया जाए, उसके गुण और धर्म स्वभावतः चिन्तक में अवतरित हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में कहानी प्रचलित है।

लंका में राम-रावण का घोर युद्ध हो रहा था। रावण के बड़े-२ योद्धा भूमि में वीरगति को प्राप्त हो गए थे। वह अधीर हो घोर निद्रा में पड़े हुए अपने भाई कुंभकर्ण को जगाता है और उससे सारा वृत्तान्त कह सुनाता है। उसकी बात को सुन कर कुंभकर्ण अत्यन्त दुःखी हो जाता है और उससे कहता है, भाई! तूने यह अच्छा नहीं किया, एक सीता के लिए संपूर्ण राक्षस कुल के विनाश का बीज बो दिया। यदि तुम सीता के सौन्दर्य पर इतने ही मुग्ध थे तो तुम अवसर देखकर राम का रूप धारण कर उसके पास क्यों नहीं चले गए? उसके हरण की अपेक्षा अपनी इच्छापूर्ति के लिए तुम ने राम का रूप क्यों नहीं धारण किया? कुंभकर्ण की बात सुन, रावण कहता है कि भाई! सीता के सौंदर्य को देख मेरे मन में भी पहले यही बात आई थी और उसके लिए मैंने प्रयत्न भी किया था। राम का रूप धारण करने के लिए जब मैं राम का चिन्तन करने लगा तो मैंने अनुभव किया, मेरी बुद्धि ही परिवर्तित होने लगी, उस समय मंदोदरी के सिवा विश्व की संपूर्ण नारी-जाति के प्रति मेरे हृदय में मातृभाव का उदय होने लगा। मेरी वासनात्मक वृत्ति ही जाती रही। इससे मैंने यह निश्चय किया कि इस प्रकार से मेरी कामना की पूर्ति नहीं हो सकती और मैं सीता को ही हरण कर लाया। इस कहानी से यह स्पष्ट होता है कि चाहे कोई राक्षस ही क्यों न हो, परमात्मा के जिस स्वरूप का चिन्तन करेगा, जिस नाम का स्मरण करेगा, उससे सम्बन्धित गुण-धर्म का अवतरण उसमें अवश्य होगा।

यहाँ पर ऋषि ज्ञान, प्रेम और शक्ति का अभिलाषी है, तभी वह इन तीनों के परम आश्रय, इन तीनों के अवबोधक. अग्नि शब्द से संबोधित करते हुए प्रभु से प्रार्थना कर रहा है—"अग्नेनय सुपथाराये‌ऽस्मान्।" उपनिषदों में उस परात्पर तत्त्व को अग्नि तत्त्व से उपमित करते हुए एक अन्य रहस्य का उद्घाटन भी किया है। कठोपनिषद् कहती है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

(कठ० 2/2/9)

जिस प्रकार निराकर रूप से संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त अग्नि सर्वत्र समान रूप से ही रहता है और वही अनेक माध्यमों से, अनेक रूपों में प्रकट हो माध्यम के अनुसार ही आकृति धारण कर लेता है, उसी प्रकार से वह सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा परब्रह्म समान रूप से सर्वत्र व्यापक होता हुआ भी अनेक रूपों में प्रकट हो, उन्हीं के रूप वाला हो रहा है और उनके बाहर भी वही स्थिति है। सृष्टि में जहां भी कहीं रूप है, वह अग्नि की ही अभिव्यक्ति है। अव्यक्त से लेकर वायुपर्यन्त सभी पदार्थ रूप रहित हैं। वायु से आविर्भूत अग्नि से ही रूप का प्राकट्य होता है। जलीय और पार्थिव पदार्थों में जो रूप है, वह भी अग्नि से ही है। वह अग्नि जहाँ भी जिस किसी रूप में अभिव्यक्त होता है, वह अपने माध्यम के अनुसार ही रूप धारण कर लेता है। अनेक रूपों में एक साथ प्रकट होने पर भी अग्नि की व्यापकता में कोई अन्तर नहीं आता। वह एक साथ ही व्यक्त और अव्यक्त, दोनों ही अवस्थाओं में विराजित रहता है। मेरे विचार से उस परमात्मा की व्याख्या के लिए अग्नि से उत्तम और सटीक कोई दूसरा उदाहरण नहीं है। श्रुति कहती है, अग्नि एक ही साथ साकार और निराकार, दोनों रूपों में अभिव्यक्त होते हुए भी, उनसे परे सर्वत्र परिव्याप्त हो रहा है। हमारे यहाँ एक सम्प्रदाय है जिसके अनुयायी त्रैतवाद के उपासक हैं। उनकी समझ में अब तक भी अवतारवाद का रहस्य नहीं आ सका। उस सम्प्रदाय के एक सज्जन एक दिन मेरे पास आए और कहने लगे—स्वामी जी! आपके विचार से सर्वव्यापी परमात्मा का अवतार होता है? जी हां। तो वह अवतार पूर्ण रूप में होता है या अंश रूप में? दोनों में। यदि सर्वव्यापी परमात्मा आपके विचारानुसार पूर्णरूप में अवतरित हो गया तो फिर यह संपूर्ण जगत् तो उससे रहित हो जाना चाहिए? ऐसी स्थिति में तो इस विश्व का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा क्योंकि सर्वव्यापी परमात्मा ही इस विश्व का धारक कहा गया है। जब वह पूर्णरूप से एक जगह प्रकट हो गया तो इस विश्व का धारण कैसे कर सकेगा? मैंने हँसते हुए कहा, क्या कमाल की समझ पाई है आपने! आप जैसे वेदानुयायियों की बुद्धि की दाद दिए बिना नहीं रहा जाता। बहुत अच्छी प्रकार से समझा है आपने वैदिक सिद्धान्त को। क्या आपने कभी विचार किया है कि वैदिक साहित्य में उस परमात्मा को अग्नि शब्द से क्यों सम्बोधित किया जाता है? यद्यपि उसे वेद अग्नि का भी अग्नि कह कर सम्बोधित करता है, जिसका

अभिप्राय होता है कि वह प्रकाशकों का भी प्रकाशक, ज्योतियो की भी ज्योति, तेज का भी तेज है। आप ज़रा विचार कीजिए, अग्नि की व्यापकता पर! जब सर्वव्यापी अग्नि एक विशाल रूप में प्रज्वलित होता है, तब उसे आप अग्नि की पूर्ण अभिव्यक्ति मानेंगें या आंशिक? नहीं, पूर्ण। जब वह पूर्णरूप में एक जगह प्रकट हो गया तो आपके कथनानुसार उसकी व्यापकता कैसे वनी रह सकती है? आप जानते ही हैं कि अग्नि ही ताप के रूप में समस्त प्राणियों का जीवन है, फिर तो उस अवस्था में किसी प्राणी का अस्तित्व रहना ही नहीं चाहिए, किन्तु ऐसा है नहीं। एक नहीं अनेकों रूपों में अग्नि की पूर्णाभिव्यक्ति होने पर भी जिस प्रकार अग्नि की व्यापकता में कोई अन्तर नहीं आता, उसी प्रकार अनन्त रूपों में पूर्णरूप से अवतरित होने पर भी परमात्मा की व्यापकता में कोई अन्तर नहीं आता। वह सर्वरूप में प्रकट होते हुए भी अग्नि की भाँति सर्वव्यापी ही बना रहता है। जिस प्रकार सर्वत्र अग्नि की अभिव्यक्ति पूर्णरूप में ही हुआ करती है, उसी प्रकार वह परमात्मा भी सदैव पूर्णरूप में ही अवतरित हुआ करता है। वह निराकार और साकार, दोनों ही रूपों में सदैव पूर्ण रहता है। गोस्वामी जी कहते हैं:—

अगजगमय सब रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटै जिमि आगी।।

निर्गुण और सगुण के रहस्य को समझाते हुए वे कहते हैं—

एक दारूगत देखिअ ऐकू। पावक जुग सम ब्रह्म बिबेकू।।

निराकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, वह काष्ठगत है। जिस चौकी पर मैं बैठा हुआ हूँ, उसका प्रत्येक अवयव अग्नि से परिव्याप्त है। कैसी विचित्र बात है! यदि यह कहा जाए कि मैं अग्नि पर ही बैठा हुआ हूँ, तो क्या यह सत्य नहीं होगा? किन्तु यथार्थतः क्या कभी कोई अग्नि पर बैठ सकता है? नहीं। अग्नि के दो रूप हैं—साकार और निराकार, सगुण तथा निर्गुण। सर्वव्यापी अग्नि अपने स्वाभाविक गुणों को स्वयं में तिरोहित किए हुए है, इसलिए उसे निर्गुण कहते हैं और किसी आकार विशेष में प्रकट न होने के नाते उसे निराकार कहते हैं। जहाँ उसके गुण-स्वभाव तिरोहित हैं, वहाँ वह होते हुए भी न होने के ही समान है, क्योंकि उस स्थिति में उसका होना कुछ अर्थ नहीं रखता और वही जब सगुण और साकार रूप में प्रकट हो जाता है तो उसके गुण, धर्म, स्वभाव का उदय होने से उसकी उपस्थिति सार्थक हो जाती है। सर्वव्यापी आत्मा की भी यही स्थिति है। वह निर्गुण और निराकार रूप में सर्वत्र होते हुए भी अविद्याग्रसित जीवों का कोई प्रयोजन पूर्ण नहीं कर पाता, किन्तु जब वह परमात्मा उपासना, आराधना, प्रार्थना अदि से द्रवित हो सगुण-साकार रूप में

प्रकट हो जाता है, तो अविद्याग्रसित जीवों के लिए कल्याण का हेतु बन जाता है। गोस्वामी जी ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है–

ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतनघन आनंद रासी।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।

सत्-चित्-आनंदघन की राशि एक अविनाशी ब्रह्म परिव्याप्त है। उस अविकारी प्रभु के सभी के हृदयों में विराजित होते हुए भी जगत् के सभी जीव दीन और दुःखी बने रहते हैं। किन्तु वही परमात्मा–

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।।

जब नाम के निरूपण, चिन्तन और उसके जाप से साधक के हृदय में प्रकट हो जाता है तो उसे उसी प्रकार से दुःख और दारिद्रय से विमुक्त कर देता है, जैसे जानने वाले के द्वारा रत्न से प्रकट हुआ मोल उसके ग्रहीता को दुःख, दारिद्रय से मुक्त कर देता है। कहने का अभिप्राय यह कि अग्नि के समान ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, वह साकार और निराकार, दोनों रूपों में ही एक साथ अवस्थित है। इसीलिए ऋषि उसे अग्नि सम्बोधन से पुकारता हुआ स्वयं को परमनिधिरूप प्रभु तक पहुँचाने की प्रार्थना करता है।

जिस प्रकार प्रभु के स्वरूप को अग्नि कह करके सम्बोधित किया गया है, उसी प्रकार से प्रभु के नाम को भी अग्नि कहा गया है। गोस्वामी जी कहते हैं–

जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला।।

"प्रभु का नाम पाप रूपी तूल को भस्म करने के लिए विश्व को पवित्र करने वाला अग्नि है, उसके स्मरण मात्र से ही सम्पूर्ण सुमंगलों का आविर्भाव हो जाता है।" गीता में भगवान् ने प्रभु से सम्बन्धित तत्त्व-ज्ञान को भी अग्नि कहा है। **"ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पंडितं बुधा।"** जिन्होंने ज्ञान की अग्नि में सम्पूर्ण कर्मों को दग्ध कर दिया है, उन्हीं को बुधजन पंडित कहते हैं। एक अन्य श्लोक में कहा है–

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।

(गीता 4/37)

जिस प्रकार से प्रज्वलित अग्नि ईंधन के ढेर को भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात कर देता है। वैदिक साहित्य में पूर्णप्रज्ञ तत्त्वज्ञानी को भी अग्नि का ही स्वरूप माना गया है। इसीलिए हमारे यहाँ तत्त्वज्ञ ऋषि अग्नि के प्रतीक काषाय वस्त्र को धारण करता है। ऐसा तत्त्वज्ञान ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है और वही गुरुपद को सुशोभित

करता है। गुरु की शरणागति ही तत्त्वबोध की प्राप्ति में मुख्य साधन है। प्रभु ने भी गीता में ज्ञान प्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शी गुरु की शरण में जाने का आदेश दिया है–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

(गीता 4/34)

"भली प्रकार से दण्डवत प्रणाम तथा सेवा और विशुद्ध जिज्ञासु भाव से किए हुए प्रश्नों द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त कर, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।" उपनिषदों में हाथ में सूखी लकड़ी लेकर गुरु की शरण में जाने का विधान है, यह एक संकेत है, जिस प्रकार से प्रज्वलित अग्नि के संयोगमात्र से सूखी लकड़ी प्रज्वलित अग्नि के रूप में परिणत हो जाती हैउसी प्रकार से साधन चतुष्टय से युक्त जिज्ञासु शिष्य श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के संसर्ग मात्र से स्वयं ज्ञानवान हो जाता है। इस रहस्य को आप लोग और भी भली प्रकार से समझ लें। जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को नहीं जलाता, उसके संसर्गमात्र से ईंधन में निहित आग्नेय परमाणु जागृत हो जाते हैं और ईंधन को प्रज्वलित अग्नि के रूप में परिवर्तित कर देते हैं, उसी प्रकार से तत्त्ववेत्ता गुरु, जिज्ञासु शिष्य में बाहर से ज्ञान नहीं देता, उसके संसर्गमात्र से सुयोग्य शिष्य में निहित प्रसुप्त ज्ञान का उदय हो जाता हैं, जागृत हो जाता है। वर्तमान में इंग्लिश में प्रयुक्त होने वाला ऐजुकेशन शब्द भी इसी भाव को व्यक्त करता है। मनुष्य में ज्ञान बाहर से नहीं भरा जाता, शिक्षा द्वारा उसमें निहित ज्ञान को ही जागृत किया जाता है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए जिज्ञासु शिष्य हाथ में समिधा लेकर गुरु की शरण में उपस्थित होता है। अग्नि के समान गुरु भी अपने संस्पर्श तथा सान्निध्य मात्र से, उपदेश मात्र से शिष्य में निहित ज्ञान को जागृत कर देता है। इस प्रकार गुरु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ अग्नि शब्द भी सार्थक है। यहाँ एक बात और भी समझ लें।

वैदिक साहित्य में ज्ञान के दो भेद हैं–श्रुतज्ञान और अनुभूतज्ञान। दार्शनिक भाषा में इसे परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं, जिसका अर्थ होता है सुना हुआ ज्ञान और देखा हुआ, जाना हुआ ज्ञान। पहले परोक्ष ज्ञान ही होता है। यह परोक्ष ज्ञान गुरुगम्य ज्ञान है। इस ज्ञान के प्रकाश में ही ध्यान की विधि सम्पन्न होती है और फिर ध्यान के द्वारा ही अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। गोस्वामी जी ने लिखा है–

रैन को भूषन इन्दु है, दिवस को भूषन भानु।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञानु।।

ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन शांति पद, तुलसी अमल अदाग।।

इन दोनों दोहों में गोस्वामी जी ने एक बहुत बड़े रहस्य का उद्घाटन किया है। जैसे रात्रि का भूषण चंद्रमा है, दिन का भूषण सूर्य है, उसी प्रकार से भक्त का भूषण भक्ति है और उस भक्ति का भूषण ज्ञान है। भक्ति रहित दास वा भक्त की कोई शोभा नहीं और ज्ञान रहित भक्ति भी अशोभनीय है। श्रीमद्भागवत में भक्ति मां है और ज्ञान-वैराग्य उसके पुत्र। जैसे एक गृहस्थ नारी के लिए सन्तानयुक्त होना ही शोभा की बात है, उसी प्रकार से भक्ति के ज्ञानयुक्त होने में ही उस की शोभा है। जो लोग ज्ञान रहित भक्ति की गाथा गाते हैं, उन लोगों को गोस्वामी जी के इन शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। गोस्वामी जी आगे फिर कहते हैं कि ज्ञान की शोभा ध्यान से है। उस परमात्मा के सच्चिदानंद रूप में सदैव स्थित रहने में ही ज्ञान की शोभा है। अभिप्राय यह कि जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य उस परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जान, उसी में स्थित रहता है, वही ज्ञान भक्ति का भूषण है। संसार से तथा संसारी विषयों से सम्बन्धित विविध प्रकार का ज्ञान भक्ति का भूषण नहीं। जिस प्रकार् से भक्ति को भगवद् सम्बन्धी ज्ञान सुशोभित करता है, उसी प्रकार से ज्ञान को प्रभु का सतत ध्यान सुशोभित करता है। ध्यान की शोभा त्याग में है। भक्ति, ज्ञान, ध्यान, ये सभी अप्रत्यक्ष हैं इनके न होते हुए भी इनके होने का दम्भ किया जा सकता है, किन्तु इनके होने की सार्थकता त्याग में है। जो व्यक्ति संसार के विषयों से विरत नहीं, वह न तो भक्त है, न ज्ञानी और न ध्यानी ही। त्याग से ही नित्य शान्ति की प्राप्ति होती है। गोस्वामी जी उस शान्ति को ही अमल और अदाग कहते हैं, जिसका अर्थ होता है निर्मल और दोष रहित। गीता में भी भगवान् ने त्याग के द्वारा ही शान्ति की प्राप्ति बताई है– "त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।" ध्यान से पूर्व जिस ज्ञान की चर्चा की गई है, यथार्थतः वह गुरुगम्य ज्ञान है। संसार से विरत हो तत्त्वबोध की जिज्ञासा लिए गुरु की शरणागति स्वीकार की जाती है। गुरुप्रदत्त ज्ञान को ग्रहण कर उसके अनुसार ही ध्यान का अभ्यास किया जाता है। ध्यान की उच्चतम अवस्था में विक्षेप शान्त हो जाने पर आवरण रूप में अवस्थित परमात्मा की माया-शक्ति का दर्शन होता है।

सत्यधर्मा साधक ध्यान की अवस्था में ही प्रभु से प्रार्थना करता है। प्रार्थना सुनी जाती है, आवरण दूर हो जाता है और वह परमात्मा के सत्स्वरूप का दर्शन प्राप्त कर लेता है। सत्य दर्शन के साथ ही उससे अपनी अभिन्नता की अनुभूति होती है और फिर वह उस परम-तत्त्व में समग्र रूप से विलीन होने के लिए प्रभु से याचना करता है और साथ ही स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि रूपों में

स्थित शरीर के भस्मसात् हो जाने की भी याचना करता है। परमात्मा में पूर्ण विलय के पश्चात् ही अमल, अदाग शान्ति की प्राप्ति होती है। गोस्वामी जी ने इन्हीं भावों को अपने दोहों में अभिव्यक्त किया है। इस उपनिषद् में भी "इति शुश्रुमधीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।" ऐसा हमने उन धीर पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमें उस परमतत्त्व का प्रत्यक्ष अवबोधन कराया है। इस वाक्य में गुरुप्रदत्त ज्ञान का ही उल्लेख है। यह ज्ञान श्रद्धायुक्त सेवा से ही प्राप्त किया जा सकता है। आप लोग जानते हैं, घड़े को जलाशय में वर्षों तक पड़े रहने से उसमें पानी का एक बूंद भी नहीं आ सकता, जब तक कि उसकी गर्दन को झुका कर जल में डुबाया न जाए। इसी प्रकार से ज्ञानी पुरुष के पास रहने मात्र से, उसके पास जाने मात्र से, ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो जाती। इसीलिए भगवान् ने **"प्रणिपातेन"** शब्द का प्रयोग किया है। पूर्णरूप से विनम्र होकर , झुककर, उसके चरणों में समर्पित होकर ही उससे ज्ञान लिया जा सकता है। कुछ लोग ज्ञानी महापुरुषों के पास जाकर भी अपने अहंकारवश झुकना नहीं चाहते, परिणामतः वे वहाँ से खाली ही लौट आते हैं। गीता के माहात्म्य में एक बात कही गई है। जैसे बछड़े को देखकर ही वात्सल्य भाव से पूरित गऊ के थन में दूध उतर आता है, ठीक उसी प्रकार से ये श्रुतियाँ जिज्ञासु को प्राप्त कर ही गुरु के माध्यम से अपने ज्ञानरूपी दुग्ध को प्रदान करती हैं। यह गुरुगम्य ज्ञान ही अनुभवगम्य ज्ञान का मूल हेतु है। जिन्होंने गुरुकृपा प्रसाद से ज्ञान प्राप्त नहीं किया, उन्हें कभी भी, किसी काल में भी, तत्त्वज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। ऐसे लोगों के लिए ही गोस्वामी जी ने लिखा है—

ते जड़ कामधेनु गृहत्यागी। खोजत आक फिरहिं पयलागी।।

ईशोपनिषद् के इन 18 मन्त्रों में वैदिक सिद्धान्त का सार व्यक्त कर दिया गया है। मेरे विचार से वैदिक साधन पद्धति का कोई भी पहलू इस छोटी सी उपनिषद् से अछूता नहीं रह गया। इसमें गागर में सागर वाली उपमा भी छोटी लगती है। मेरे विचार से तो यहाँ बिन्दु में ही सिंधु समाया हुआ है। अठारहवें मन्त्र के इस प्रथम चरण में ही जीव के लिए जो भी ज्ञातव्य और प्राप्तव्य है, वह सब कुछ कह दिया गया है। इस मंत्र का ऋषि केवल अपने लिए ही नहीं संपूर्ण जीव समुदाय के लिए ही उस परम प्रकाशस्वरूप परमेश्वर से परमनिधि रूप परमशान्ति तक सुपथ से ले चलने की प्रार्थना कर रहा है।

वैदिक साहित्य में इस अनन्त ब्रह्माण्ड को एक अश्वत्थ वृक्ष के रूप में बताया गया है और इसको ऊर्ध्वमूल कहा गया है। भगवान् ने गीता में भी इसे "ऊर्ध्वमूलमधः शाखं अश्वत्थं" कहा है और आगे बताया है कि इस अश्वत्थ

वृक्ष का छेदन करते हुए इसके मूल तक पहुँचना है। इस ऊर्ध्वमूल तक पहुँचने के लिए किसी ऊर्ध्वगामी शक्ति का अवलम्बन ही एक मात्र समुचित साधन हो सकता है और वह ऊर्ध्वगामी शक्ति का स्रोत ही अग्नि है। आप लोगों को इस मंत्र की व्याख्या के प्रारम्भ में ही अग्नि शब्द की व्याख्या करते हुए यह बताया गया है कि "**अंगति ऊर्ध्वगच्छति इति अग्नि।**" जो स्वभावत: ऊर्ध्व गति वाला है, वह अग्नि है। आप इस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन इस भौतिक अग्नि में भी कर सकते हैं। उसको चाहे किसी तहखाने में ही ले जाकर क्यों न जलाएँ उसकी स्वाभाविक गति ऊर्ध्व ही होगी। अग्नि प्रकाश तथा ज्ञान का अवबोधक है और दाह प्रेम का। आप सभी जानते हैं कि प्रकाश से ही अंधकार दूर होता है। प्रकाश में ही व्यक्ति निरापद रूप से दुर्गम घाटियों को भी पार कर जाता है। इसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश में भी साधक इस दुर्गम मायाजनित जाल को काटता हुआ लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकता है। इसीलिए ज्ञान को प्रकाशस्वरूप कहा गया है। प्रेमपूरित हृदय से एक प्रकार की ऊष्णता प्रकट होती है और वह दो बूंद आँसुओं के रूप में बाहर निकल आती है, इसीलिए अग्निगत दाह को प्रेम का प्रतीक माना है। शक्ति अग्नि का सहज स्वभाव है। आपके शरीर में अग्नि की उपस्थिति में ही क्रियाशक्ति का आविर्भाव होता है। अग्नि की मंदता में ही जड़ता का जन्म होता है। इस प्रकार ज्ञान, प्रेम और गति ही जीवन की पूर्ति का एकमात्र समुचित अवलम्बन हो सकता है और इन तीनों के समुच्चय का अवबोधक ही अग्नि है। मेरे विचार से यदि परमात्मा की समग्र शक्ति को किसी एक शब्द में संकेत करना हो तो उसके लिए सर्वश्रेष्ठ शब्द होगा "अग्नि"। इसीलिए ऋग्वेदादि के ऋषि तथा उपनिषदों के तत्त्वद्रष्टा, इसी अग्नि शब्द से ही उसकी महिमा का गान करते हुए, उसकी वन्दना करते हैं, उसकी स्तुति करते हैं, उससे प्रार्थना करते हैं "**अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।**"

यहाँ एक बात और समझ लेना है कि वैदिक धर्म का सारा क्रिया-कलाप अग्नि की उपस्थिति में ही सम्पन्न होता है। प्राचीन काल में तो गार्हपत्य अग्नि के रूप में प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ अग्नि को सदैव जागृत रखा जाता था। किसी घर की अग्नि के शान्त होने का अभिप्राय होता था उस परिवार की श्री का शान्त होना, क्योंकि वैदिक धर्म में अग्नि को ही श्री और सम्पत्ति का प्रदाता माना जाता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक सम्पन्न होने वाले समस्त कर्मों का साक्षी अग्नि ही हुआ करता है, इसीलिए वैदिक धर्म में जीवन

की परिसमाप्ति भी शरीर को अग्नि में आहुत करके ही की जाती है। जो निःश्रेयस के नहीं अभ्युदय के ही अभिलाषी हैं, उनकी भी अभीप्सा को पूर्ण करने में एक मात्र अग्नि ही आश्रय है। उसी प्रकार से जो अभ्युदय की कामना से सर्वथा विमुक्त हो गए हैं; -पूर्णकाम, आप्तकाम, आत्मकाम हो गए हैं, ऐसे निःश्रेयस की लालसा वाले धीर पुरुषों का आश्रय भी अग्नि है। इसीलिए ऋषि उस परमप्रकाशस्वरूप परात्पर पुरुष परमात्मा को अग्नि शब्द से संबोधित करते हुए उसे निज स्वरूप रूपी परमनिधि तक ले चलने की प्रार्थना कर रहा है। वह परमात्मा ही परमधन है, वही जीवन की परमनिधि है। भक्तिमति मीरा कहती हैं–

भाई री मैंने राम रत्न धन पायो
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु करि किरपा अपनायो।
खरच न खूटे चोर न लूटे दिन दिन होत सवायो।।

इन शब्दों में मीरा ने जिस अक्षय धन की बात कही है, उसी धन तक ले जाने की प्रार्थना ऋषि कर रहा है क्योंकि निर्धन के धन वही राम हैं। जो उस परमधन को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न कर सांसारिक धन के लिए ही सदैव श्रमशील रहता है, इसके समान भाग्यहीन दुनिया में और कौन हो सकता है? भगवान् शंकर के शब्दों में–

सुनहु उमा ते परम अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी।।

इसलिए यहाँ 'राये' शब्द के अर्थ में सामान्य धन की कल्पना करनी सर्वथा असंगत है। तत्त्वद्रष्टा ऋषि उस परमानंदरूपी धन तक ले चलने की प्रभु को प्रार्थना कर रहा है। उस आनंदनिधि को पाने के लिए ही उसने इतनी लम्बी यात्रा पूरी की है।

जैसा कि मैंने पहले भी बताया है 'रै' और 'रयि', ये दोनों शब्द एक ही धातु से बने हुए हैं। 'रै' का अर्थ आनंद और 'रयि' का अर्थ विश्व का वैभव है। यहाँ 'राये' शब्द आनंद अर्थ में ही प्रयुक्त है। विद्वानों की राय है कि मनुष्य जीवन स्वयं में ही एक अमूल्यनिधि है। विश्व के किसी भी पद-पदार्थ से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस अमूल्यनिधि को समर्पित कर इसके बदले में तुच्छ पदार्थों को प्राप्त करना विवेकीजनों का कार्यनहीं है। के वैभव से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त का सुखभोग, ये सब विवेकी की दृष्टि में तुच्छ हैं। भला, यह सत्यद्रष्टा, पूर्ण-प्रज्ञ ऋषि उस तुच्छ वैभव की याचना कैसे कर सकता है? इसलिए यहाँ पर "राये" शब्द से आनंदसिंधु परमात्मा की प्राप्ति ही अभिप्रेत है। वहीं तक सुपथ से ले चलने की प्रार्थना ऋषि कर रहा

है। यहाँ सुपथ शब्द भी ध्यान देने योग्य है। कुछ विचारशील लोग कहा करते हैं कि साध्य उत्तम होना चाहिए, साधन की उत्तमता के लिए आग्रह नहीं करना चाहिए। किन्तु सुपथ शब्द इस सत्य का उद्घाटन करता है कि कुपथ से चल कर कोई भी व्यक्ति उस परमधन को प्राप्त नहीं कर सकता। मेरे विचार से कुपथ से चलकर सामान्य धन की भी उपलब्धि नहीं हो सकती, उस परमधन की तो बात ही क्या है! वेद कहता है कि जो लोग अन्याय से, अनीति से, अत्याचार से सम्पत्ति का संग्रह करते हैं, वह सम्पत्ति यथार्थतः सम्पत्ति नहीं बल्कि उनके लिए विपत्तिऔर विनाश रूप ही समझना चाहिए। मिथ्या साधनों के द्वारा—चोरी, बेईमानी, धोखा तथा छल-कपट से प्राप्त की हुई सम्पत्ति वेद की भाषा में उस प्राप्त करने वाले का वध अर्थात मृत्यु रूप है। इसलिए ऋषि प्रभु से सुपथ पर ही ले चलने की प्रार्थना करता है।

कुछ लोगों का यह कथन है कि यह उपनिषद् विद्या सन्यासियों के लिए ही उपयोगी हो सकती है, हम गृहस्थियों के लिए नहीं, क्योंकि हमें तो अपने परिवार की पूर्ति के लिए धन और वैभव की आवश्यकता है। यदि इस विज्ञान से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती तो हमारे लिए उसका क्या प्रयोजन? दूसरी बात यह है कि केवल प्रार्थना से धन की प्राप्ति नहीं होती, धन तो परिश्रम का परिणाम है, इसलिए इस मंत्र में प्रयुक्त धन तक ले जाने के लिए की जाने वाली प्रार्थना निरर्थक है। यह विचार सही में चिन्तनीय है, इसलिए इस पर भी मनन कर लेना चाहिए। श्रम से सम्पत्ति का अविर्भाव होता है, यह कार्लमार्क्स की मान्यता है। मेरे विचार से यह मान्यता अधूरी है क्योंकि श्रम स्वयं में कारण नहीं, वह किसी का कार्य है। श्रम किस का कार्य है? इसकी हमें खोज करनी होगी। हम आप सभी जानते हैं कि शक्ति के अभाव में कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार का श्रम नहीं कर सकता। शक्ति के तीन आधार हैं—शरीर, मन और बुद्धि, जिसे शारीरिक बल, मानसिक बल और बौद्धिक बल कहा जाता है। जिस बल से सम्पत्ति प्राप्त की जाती है, यथार्थतः वह इन तीनों का समुच्चय है। यहाँ पर हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि सम्पत्ति किसे कहते हैं? उसकी क्या परिभाषा है? कुछ लोग केवल सिक्के को ही सम्पत्ति मानते हैं। कुछ लोग सोने, चाँदी,हीरे, जवाहरात आदि को सम्पत्ति मानते हैं। कुछ लोग भूमि, मकान, पशु आदि को सम्पत्ति मानते हैं। वैदिक साहित्य में इन सभी पदार्थों को सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु इनके साथ ही मनुष्य में निहित सद्गुणों को भी सम्पत्ति रूप में स्वीकार किया गया है।

गीता में भगवान् ने सम्पत्ति के दो भेद बताए हैं-दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति। आसुरी सम्पत्ति उसे कहा गया है जो मनुष्य को भोग में, इन्द्रियों में रमण करने के लिए प्रेरित करती है। इन्द्रियों में आकर्षित करने वाले ये वाह्य विषय ही हुआ करते हैं। इन्हीं में इन्द्रियाँ रमण करती हैं, क्रीड़ा करती हैं, प्रसन्न रहती हैं, इसीलिए इन्हें आसुरी सम्पदा कहा जाता है। असु कहते हैं प्राण को। प्राण इन्द्रियों का आधार है, इसलिए असु शब्द इन्द्रियों का ही अवबोधन कराता है। इन इन्द्रियों में जो रमण करता है, वह असुर कहा जाता है—"असु असु रमन्ते इति असुराः।" इन्द्रियों में रमण करते हैं, इसी से वे असुर हैं। उन असुरों से सम्बन्धित जो पदार्थ हैं, उन्हीं को आसुरी सम्पदा कहते हैं। दूसरी दैवी सम्पदा है। 'दिवि प्रकाशने' धातु से देव शब्द बनता है। प्रकाश सतोगुण का धर्म है। सतोगुण ज्ञान का जनक है। यथार्थतः ज्ञान ही प्रकाशक तत्त्व है और उपनिषद् ज्ञान को आत्मा का स्वरूप बताती है। इसलिए आत्मा के प्रकाश में वा ज्ञान के प्रकाश में जिन सद्गुणों का आविर्भाव होता है, उन्हें ही दैवी सम्पदा कहा जाता है। आसुरी सम्पदा बन्धन और दैवी सम्पदा मोक्ष में हेतु होती है। बन्धन अभाव, दुःख आदि को उत्पन्न करता है और मोक्ष पूर्णता और आनन्द को। यहाँ जिस सम्पत्ति की हम चर्चा कर रहे हैं, वह दैवी नहीं, आसुरी सम्पदा है। वह दिव्य वा अभौतिक नहीं, भौतिक सम्पदा है।

मेरे विचार से इस भौतिक सम्पदा को भी प्राप्त करने में केवल शारीरिक श्रम ही कारण नहीं हो सकता। प्रकृति में निहित विविध प्रकार के पदार्थों को केवल शारीरिक श्रम से ही उपलब्ध नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्रियों ने सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए चार साधन बताए हैं—प्राकृतिक स्रोत, शारीरिक श्रम, बौद्धिक योग्यता और इनका समन्वय। अंग्रेज़ी में इसे नेचुरल सोरसिज़, लेवर, एबिल्टी एण्ड औरगनाईज़ेशन कहते हैं। आप लोगों ने सुना होगा, एक कहावत है "इण्डिया इज़ ए रिच कन्ट्री पापुलेटिड बाइ पुअर पीपल।" भारत एक समृद्धिशाली देश है जहाँ गरीब लोग बसते हैं। मेरे विचार से यह कहावत बिल्कुल अक्षरशः सत्य है। भारत में प्राकृतिक स्रोतों की कमी नहीं, प्रकृति उन्मुक्त होकर भारत भूमि में सर्वत्र अपना वैभव बिखेरे हुए है, इसलिए वह समृद्धिशाली देश है, इसमें सन्देह नहीं। उस समृद्धि को प्राप्त करने के लिए, उत्पादित करने के लिए तीन अन्य आवश्यक साधनों का समन्वय जरूरी है। वे साधन हैं—श्रम, योग्यता और इन दोनों के समन्वित प्रयोग की व्यवस्था। भारत में श्रमिकों की तथा योग्य व्यक्तियों की भी कमी

नहीं है। आप लोग जानते हैं, आज कल बड़े-बड़े शहरों में लेबर मार्कीट लगती है, श्रमिकों की मंडी लगती है। योग्यता की भी कमी नहीं है। भारत के सुयोग्य व्यक्ति सुदूर देश इस अमेरिका में भी आकर अपनी योग्यता को प्रमाणित कर रहे हैं। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ शताब्दियों से उस देश में कोई सुयोग्य व्यवस्था देने वाला नहीं हो सका। जब वह परतन्त्र था, उस समय की तो चर्चा करनी ही व्यर्थ है। वहाँ के निवासियों के श्रम का उपभोग जाहिल शासक करते रहे, कुछ शताब्दियों से विदेशी लुटेरों का ही प्रभुत्व रहा है, अब स्वतन्त्र होने के बाद भी उसके दुर्भाग्य का अंत नहीं हो सका। प्रभु ही जाने, वह दिन कब आएगा जब भारत के प्राकृतिक स्रोतों से समृद्धि प्राप्ति के लिए वहाँ के श्रम, शक्ति और योग्यता के समन्वित प्रयोग की व्यवस्था देने वाला कोई सुयोग्य पुरुष आगे आएगा।

अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त काल्पनिक नहीं, वैज्ञानिक और व्यावहारिक है। इससे आप समझ गए होंगे कि केवल श्रम को सम्पत्ति का साधन मानने वाला सिद्धान्त कितना अपूर्ण है। योग्यता बुद्धि का धर्म है और श्रम शरीर का, किन्तु इन दोनों को समन्वित करने वाली दृढ़ संकल्प शक्ति जिसे अंग्रेज़ी में विल पावर कहते हैं, का होना भी परमावश्यक है, तभी सुख-सुविधा के साधन रूप सम्पत्ति को प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ जिन त्रिविध शक्तियों की चर्चा की है, वे तीनों भी स्वयं में स्वतंत्र नहीं हैं, क्योंकि इनके भी वृद्धि और ह्रास का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। रुग्णावस्था में, वृद्धावस्था में, इन तीनों प्रकार की शक्तियों का ह्रास देखा जाता है। वैदिक विज्ञान इन त्रिविध शक्तियों के स्रोत को प्राण शब्द से सम्बोधित करता है। प्राण ही शक्ति का अक्षय स्रोत है। उसी से श्रद्धाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं श्रमशक्ति का आविर्भाव होता है। श्रद्धाशक्ति को ही 'विल पावर' कहते हैं, वह सत्य को धारण करने वाली शक्ति है। ज्ञानशक्ति ही योग्यता का आधार है और प्राण की उपस्थिति में ही श्रमशक्ति जिसे शारीरिक बल कहते हैं, उसकी अवस्थिति होती है। उपनिषदों में प्राण को ही पुरुष कहा है। पुरुष ही पौरुष का आधार होता है और पौरुष के बिना किसी प्रकार की सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्राण ही आत्मा है। व्यष्टि जीवन में वह अभिव्यक्त हुआ परमात्मा का अंश है।

अब हमें यहाँ पर विचार करना है कि क्या प्रार्थना से सम्पत्ति की प्राप्ति हो सकती है? मेरा उत्तर है, अवश्य। प्रार्थना में हमें उन त्रिविध शक्तियों के समन्वय का दर्शन होता है जो सम्पत्ति की उपलब्धि में हेतु हैं। इसीलिए ऋषि उस प्राण के भी महाप्राण परम प्रकाशक परमेश्वर को जो अनन्त

शक्तियों का स्रोत है, उसे अग्नि शब्द से सम्बोधित करते हुए सुन्दर पथ से धन तक ले चलने की प्रार्थना कर रहा है। यह प्रार्थना निष्क्रिय नहीं, गतिमय है। यहाँ 'नयं' शब्द बहुत ही महत्त्व का है। जैसा कि अभी मैंने आप लोगों का बताया है कि व्यवस्थापक के बिना बुद्धि और बल का समन्वय नहीं हो पाता और इसके समन्वय के बिना कभी श्री और सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस व्यवस्थापक को ही नेता कहा जाता है। आजकल जो नेता का अर्थ भाषण झाड़ने वाला रूढ़ हो गया है, यह सर्वथा असंगत है। नेता शब्द का अर्थ होता है,सम्पूर्ण शक्तियों को समन्वित कर विकास, उन्नति, समृद्धि और ऐश्वर्य की दिशा में ले चलने वाला। प्रार्थना में अमित शक्ति निहित है। श्रद्धाशक्ति, ज्ञानशक्ति और श्रमशक्ति, इन तीनों का स्रोत प्रार्थना में ही निहित है। आज भी इस वैज्ञानिक युग में इस प्रार्थना के बिना किसी प्रकार की उपलब्धि कहीं देखी और सुनी नहीं जाती। यह मैं पहले भी बता आया हूँ कि कुछ शब्दों को रट लेना और उन्हें दुहराते रहना प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना का अभिप्राय है,प्रार्थी का अन्तर्तम से अपने परमाराध्य के साथ अभिन्न हो जाना, स्वयं को उस अनन्त में खो देना। किसी प्रकार की समृद्धि को प्राप्त करने के लिए स्वयं को पूर्णरूपेण समर्पित करना होता है। वैदिक साहित्य इष्ट और अभीष्ट, इन दोनों के मध्य में साधक की स्थिति को स्वीकार करता है। जिससे प्रार्थना कर रहा है, वह उसका इष्ट है और जिसको प्राप्त करने की प्रार्थना कर रहा है, वह उसका अभीष्ट है। भौतिक जगत् में मनुष्य अपने इष्टबल से ही अभीष्ट को सिद्ध कर सकता है, यही वेद का उद्घोष है। इष्ट शक्ति सामर्थ्य का स्रोत है, प्रार्थना द्वारा उससे एक हो सामर्थ्यवान होकर यदि अभीष्ट सिद्धि में प्रयत्नशील हुआ जाए तो सफलता की प्राप्ति में कभी भी संदेह नहीं होता। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि इस भौतिक जगत् में भी सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना प्रमुख साधन है।

इस विवेचन से आप लोग यह भी समझ गए होंगे कि सम्पत्ति के साधन रूप में कार्लमार्क्स द्वारा संस्थापित सिद्धान्त कितना अपूर्ण है? इससे यह भी आप लोग समझ गए होंगे कि भौतिक सम्पत्ति का स्रोत भी शारीरिक श्रम नहीं, आपकी अपनी आत्मा है क्योंकि श्रद्धा, ज्ञान और बल, ये शरीर के धर्म नहीं, आत्मा की ही त्रिविध शक्तियाँ हैं। चाहे आप गृहस्थ हो या सन्यासी, सत्य सभी के लिए एक है, उसमें देश, काल, परिस्थिति का भेद नहीं। एक गृहस्थ भी आत्मतुष्टि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है और सन्यासी भी। उपनिषद्विद्या उस आत्मतुष्टि, आत्मतृप्ति, आत्मानुरक्ति की ही विधि

बताती है। इसलिए वह सभी के लिए समान रूप से हितकारी है। यहाँ पर एक बात और भी मैं बता देना चाहता हूँ, उसे भी आप लोग अवधानपूर्वक सुन लें। विशुद्ध चेतन जिसे आत्मा कहते हैं, उसमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं है। वह प्रकाशमात्र, द्रष्टामात्र, ज्ञानमात्र है। उसमें न किसी प्रकार की इच्छा है और न क्रिया ही। प्रकृति के साथ संयुक्त होने पर अथवा प्रकृति के संयोग से उस चैतन्यघन से अहंभाव का स्फुरण होता है। उस अहंभाव के साथ ही दो प्रकार की शक्तियों का उदय होता है, जिन्हें इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति कहते हैं। क्रियाशक्ति आप में श्वास के रूप में गतिशील होती है, जिसे आप प्रसुप्तावस्था में भी सदैव गतिशील पाते हैं। यह श्वास-प्रश्वास की गति ही आप के शरीर में ऊष्मा को पैदा करती है। यही ऊष्मा आप में बल का कारण बनती है। दूसरी इच्छाशक्ति संकल्पात्मक होती है। विचार रूप में वही प्रवाहित हो रही है। बल का प्रयोग आप विचार के द्वारा ही करते हैं। इच्छानुसार ही कर्म में प्रवृत्ति होती है। इन्हीं द्विविध शक्तियों के संयुक्त प्रयोग से आप अपने अभीष्ट को प्राप्त करते हैं। थोड़ा सा विचार कीजिए, जिन शक्तियों का प्रयोग आप अपनी कामना की पूर्ति के लिए कर रहे हैं, वह काम्य पदार्थ उनकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है वा कम? यह आपके विचार करने की बात है। इस सत्य से आप सुपरिचित हैं कि आपके जीवन के लिए जो अधिक आवश्यक, अधिक मूल्यवान होता है, उसके लिए आप उससे कम मूल्यवान वस्तु का समर्पण कर देते हैं। जैसे बड़ी मेहनत से श्रम कर के सिक्का कमाया जाता है, किन्तु उस सिक्के से भी आवश्यक वस्तु अन्न, जल, वस्त्र और आवास है, इसलिए आप उस सिक्के को इनके लिए समर्पित कर देते हैं। आप सब यह जानते हैं कि किसी को हीरों के अम्बार पर बैठे हुए यदि प्यास लग जाए और किसी भी प्रयत्न से जल की उपलब्धि न होती हो तो वह एक गिलास जल के लिए उन हीरों के अम्बार को समर्पित करने के लिए तैयार हो जाएगा, क्योंकि जीवन की रक्षा जल से ही होती है, हीरे से नहीं। अब आप ज़रा यह भी सोचिए कि अन्न, जल, वस्त्रादि साधनों द्वारा जिस जीवन की सुरक्षा की जा रही है, उन्हीं के संग्रह के लिए इस जीवन को ही समर्पित कर देना, कहाँ की बुद्धिमानी है? आवश्यक पदार्थ तो स्वल्पशक्ति और समय के प्रयोग से भी प्राप्त हो सकते हैं, उनके लिए सारी ज़िन्दगी को समर्पित कर देना वैदिक विज्ञान की दृष्टि में बुद्धिमत्ता नहीं। उस जीवनी शक्ति वा प्राणशक्ति का समर्पण तो उससे भी अधिक मूल्यवान जो प्राण का भी प्राण, जीव का भी जीवन है, उसके लिए ही किया जाना उचित है। गोस्वामी जी कहते हैं—

प्राण प्राण के जीव के जीव सुख के सुखराम।
तुम बिनु तात सुहात गृह बिन्हहिं तिन्हहिं विधिवाम।।

"श्रीराम प्राण के प्राण हैं, जीव के जीव हैं, सुख के भी सुख हैं, उस राम के बिना जिन्ह गृह माने यह संसार प्रिय लगता है,सुहावना लगता है, उनके लिए विधाता प्रतिकूल हो गया है, उनकी बुद्धि विकृत हो गई है, ऐसा ही समझना चाहिए।" राम के साथ जिन्हें यह शरीर और संसार सुन्दर लगता है, यथार्थ में वे ही बुद्धिमान हैं। इसीलिए ईशोपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि ने मानवमात्र को एक दिव्य संदेश दिया है—"तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्वित् धनम्।" इसकी व्याख्या आप लोग सुन चुके हैं। इसमें ऋषि भोग का निषेध नहीं कर रहा, मानव के लिए त्यागपूर्वक भोग की विधि बता रहा हैं, किन्तु हमारी स्थिति बड़ी विचित्र है। हम त्यागपूर्वक नहीं, रागपूर्वक भोग में ही रस लेते हैं और साथ ही यह भी चाहते हैं कि हम अक्षय सुख, शान्ति के भी भाजन बन जाएँ, साथ में परमात्मा का भी साक्षात्कार हो जाए।

इस संबंध में एक बड़ी रोचक कहानी है। हज़रत मूसा जो यहूदी धर्म के पैगम्बर हैं, वे नित्यप्रति जेरुसलम में एक पहाड़ी के ऊपर ध्यान करने जाया करते थे। वहीं पर एक गड़रिया रहा करता था जो उनको नित्य आते-जाते देखता था। एक दिन उसने हज़रत मूसा से पूछा कि आप नित्य प्रातः कहाँ जाते हैं? हज़रत मूसा ने कहा कि मैं खुदा की इबादत करने जाता हूँ, प्रार्थना और ध्यान करने जाता हूँ। उसने पूछा, क्या खुदा से आपका परिचय है? उन्होंने कहा, जी हाँ, उससे हमारी मित्रता है, दोस्ती है। भोले-भाले गड़रिये ने कहा—साहब ! क्या खुदा से मेरी भी दोस्ती हो सकती है? क्या वह मुझे भी दोस्त स्वीकार कर सकता है? उन्होंने कहा—यह तो खुदा से पूछने पर ही बता सकते हैं। उसने प्रार्थना भरे शब्दों में कहा—साहब! आप अवश्य खुदा से पूछिये और उससे मेरे लिए भी प्रार्थना कीजिए। वह मुझे भी अपना दोस्त स्वीकार कर लें। हज़रत मूसा उसे आश्वासन देकर चले गए और वह वहीं रास्ते में बैठा उनकी प्रतीक्षा करता रहा। जब वे वहाँ से लौटे तो दौड़ कर उनके पास जाकर पूछने लगा, कहिए— खुदा से मेरे विषय में बात की? उन्होंने कहा —जी हाँ। फिर मेरी दोस्ती के लिए खुदा ने क्या कहा? उन्होंने बताया कि खुदा ने तुम्हारी दोस्ती मंजूर कर ली है। वह बहुत खुश हुआ, आनंद में नाचने लगा। हज़रत मूसा को प्रणाम कर अपने घर लौट आया। वह बड़ीं संख्या में भेड़ों का मालिक था, भेड़ें ही उसकी सम्पत्ति थी। भेड़ों को उनके बाड़े में करके वह घर गया, खुशी से उसे रातभर नींद नहीं आई। खुदा ने मेरी दोस्ती स्वीकार करली, इस प्रसन्नता में ही

वह रातभर खुदा का चिन्तन करते हुए जागता रहा। दूसरे दिन नित्य की भाँति जब वह भेड़ों के बाड़े में गया तो देखा उसकी पाँच सौ भेड़ें मरी पड़ी थी। उनके मरने का कोई कारण भी दिखाई नहीं दिया, वह सोचने लगा,अब तो दुनिया का रक्षक खुदा मेरा दोस्त हो गया है, फिर मेरा इतना बड़ा नुकसान कैसे हो गया? थोड़ी देर बाद यह सोचकर सन्तोष कर लिया कि खुदा से मेरी दोस्ती हो गई, यदि यह थोड़ा नुकसान हो भी गया तो क्या अन्तर पड़ता है। दूसरे दिन फिर जब बाड़े में गया तो देखा उसकी पाँच सौ भेड़ें और मरी पड़ी थीं, अब वह घबरा गया। सोचने लगा– खुदा की दोस्ती बड़ी महंगी पड़ी। अभी तो दोस्ती के दो दिन ही बीते हैं, मेरी हज़ार भेड़ें मर गईं, आगे क्या होगा? कुछ समझ नहीं सका। खुदा मेरा दोस्त है, इस विश्वास से उसने पुनः स्वयं को ढांढस बंधाया किन्तु ईश्वर की लीला बड़ी विचित्र है। तीसरे दिन पुनः वही घटना घटी। उसकी पांच सौ भेड़ें और मरी पड़ी दिखाई दीं। अब वह अधीर हो उठा, निश्चय किया कि ऐसी महँगी दोस्ती हमें नहीं चाहिए। दौड़ा हुआ उसी रास्ते पर आकर खड़ा हो गया जिधर से हज़रत मूसा जाया करते थे। अपने समयानुसार जब हज़रत मूसा आते हुए दिखाई दिए, वह दौड़ कर गया, उनके चरणों में गिर गया, अधीर होकर प्रार्थना करने लगा, साहब! खुदा की दोस्ती बहुत महंगी है। तीन दिनों में ही मेरी डेढ़ हज़ार भेड़ें मर गई हैं, वही मेरे और मेरे परिवार की जीविका का साधन हैं। वही मेरी सम्पत्ति हैं, इसलिए आप खुदा से प्रार्थना करें कि वह मेरे से दोस्ती तोड़ ले, मुझे उसकी दोस्ती नहीं चाहिए। हज़रत मूसा ने कहा- तुम अधीर न होओ, मैं इस विषय में खुदा से अवश्य निवेदन करूँगा। वह वहीं बैठ प्रतीक्षा करता रहा। महात्मा मूसा जब लौट कर आए तो उसके पूछने पर उन्होंने कहा, मैंने तुम्हारी तरफ से खुदा से प्रार्थना की थी, लेकिन उन्होंने उत्तर में कहा है—जाकर उससे कह दो, पहले तो मैं किसी से दोस्ती जोड़ता नहीं और जब जोड़ लेता हूँ तो तोड़ता नहीं। उसने अधीर हो कर पूछा– फिर मेरी भेड़ों का क्या बनेगा? महात्मा मूसा ने कहा—खुदा ने कहा है कि बाकी जो रह गई हैं, वे भी इसी प्रकार खत्म हो जाने वाली हैं क्योंकि मैं अपने प्रेम में किसी अन्य को भागीदार स्वीकार नहीं करता। भेड़ों से भी प्रेम बना रहे और मुझ से भी बना रहे, ऐसा नहीं हो सकता।

इस कहानी का सारांश इतना ही है कि हम भेड़ों के साथ परमात्मा को पसन्द करते हैं, उन्हें चाहते हैं। ज़रा कल्पना तो कीजिए अपनी! क्या परमात्मा और भेड़ों के समान यह संसार की सम्पत्ति,दोनों का एक सा ही महत्त्व है, दोनों का एक सा ही मूल्य है? विचार करने पर अपनी इस समझ पर स्वयं को भी ग्लानि

होगी। मैं आप लोगों को बता रहा था कि इस जीवनी शक्ति का प्रयोग हमें इससे भी अधिक मूल्यवान, इसके कारणस्वरूप उस सच्चिदानंद की प्राप्ति में ही करना चाहिए, उसीमें इसकी सार्थकता है। वही हमारा परमधन है, परमनिधि है। ईशोपनिषद् के आखिरी मंत्र में ऋषि उसी परमधन तक पहुँचाने की प्रभु से प्रार्थना कर रहा है। शुद्ध पथ, सत्पथ पर चल कर ही हम उस तक पहुँच पाएँगें। यहाँ पर पूर्णप्रज्ञ ऋषि का इष्ट और अभीष्ट दोनों ही एक हैं। साधन और सिद्धि दोनों ही प्रभु हैं। जो लोग प्रभु को साधन बना किसी अन्य अभीष्ट की पूर्ति की उनसे कामना करते हैं, गीता के शब्दों में वे कृपण हैं, अबोध हैं, अज्ञानी हैं।

पूर्णप्रज्ञ ऋषि का प्राप्तव्य स्वयं प्रभु हैं, इसलिए वह प्रभु से, प्रभु तक पहुँचने के लिए ही प्रार्थना कर रहा है,केवल अपने लिए ही नहीं सम्पूर्ण जीव समुदाय के लिए उसकी प्रार्थना है–"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान।"

यहाँ एक बात और भी आप लोग समझ लें, भगवद् गीता तथा उपनिषदों में अर्चिमार्ग और धूम्रमार्ग का वर्णन है। भगवान् ने कहा है–

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।

(गीता 8/26)

जगत् के ये दो प्रकार के शुक्ल और कृष्ण जिन्हें देवयान और पितृयान मार्ग कहा जाता है, सनातन माने गए हैं। इनमें एक के द्वारा गया हुआ पुनः लौट कर इस संसार को प्राप्त नहीं होता और दूसरे मार्ग से गया हुआ पुनः इस संसार में लौट आता है। शुक्ल मार्ग अथवा उत्तरायण मार्ग का अधिपति अग्नि है और कृष्ण मार्ग का अधिपति धूम। ईशोपनिषद् के इस मंत्र में ऋषि इस देवयान के अधिपति प्रकाशस्वरूप देदीप्यमान अग्निदेव से ही प्रार्थना कर रहा है, कह रहा है कि हे प्रभो! आप हमें जीवन के परम लक्ष्यरूप उस परमधाम तक अर्चिमार्ग से ले चलें। यहाँ सुपथ शब्द देवयान अथवा अर्चिमार्ग का ही अवबोधक है। देवयान का अर्थ होता है प्रकाशमय रास्ता और पितृयान का अर्थ होता है धूमयुक्त धुंधला रास्ता। यान शब्द का अर्थ मार्ग होता है। इस भाव को व्यक्त करने वाले बौद्ध धर्म में हीनयान, महायान आदि शब्दों का प्रयोग है। गीता में इसे ही उत्तरायण और दक्षिणायन कहा है। वहाँ भी आयन शब्द का अर्थ मार्ग है। आयन और यान, ये दोनों एक ही अर्थ के अवबोधक हैं। देवयान के अभिमानी देवता अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः महीने हैं। भगवान् कहते हैं–"तत्रप्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।" उस

मार्ग में मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मवेत्ता योगीजन ही जाते हैं और वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। उपनिषद् का यह ऋषि भी ब्रह्मवेत्ता है उसका प्रत्यक्षदर्शी है, इसीलिए वह अर्चि मार्ग का ही पथिक है। उस मार्ग से जाकर वह ब्रह्म में विलीन होने का अभीप्सु है, इसलिए प्रभु से प्रार्थना कर रहा है "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।" आप लोग भी इसी प्रकार से प्रभु से प्रार्थना करते हुए सुपथ से परमनिधि तक ले चलने की याचना करें। प्रभु आप सबकी प्रार्थना सुन कर आप सभी को जीवन के सर्वस्व की ओर, सत्यपथ से ले चलें। इसी शुभकामना के साथ आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है। इस मंत्र के अन्य तीन चरणों की व्याख्या आगे की जाएगी।

हरि ॐ तत्सत्
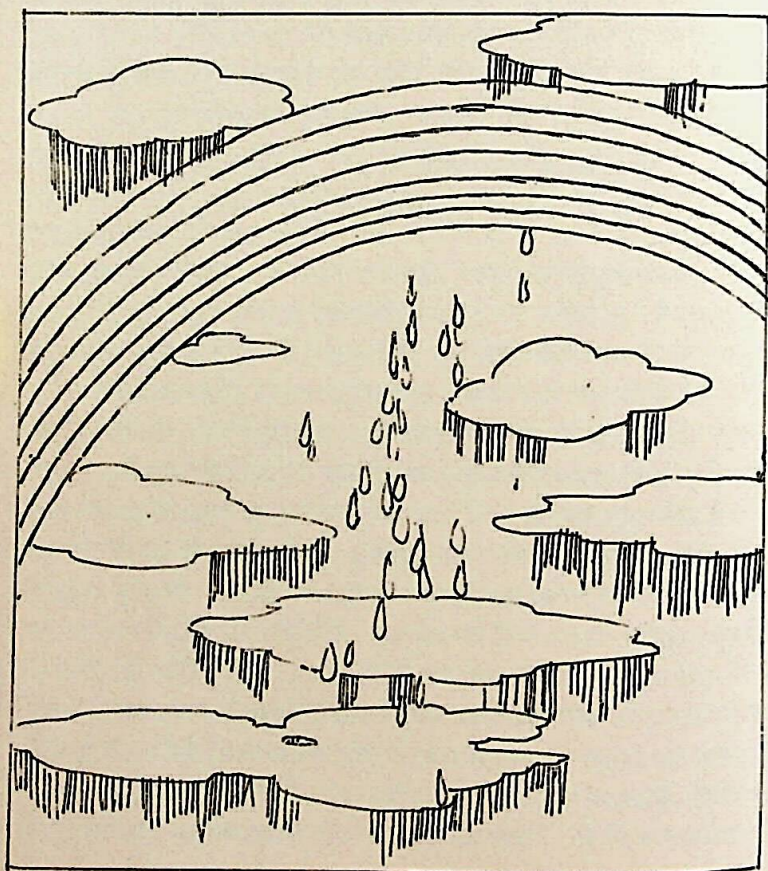
मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोग कई दिनों से ईशोपनिषद् की व्याख्या सुन रहे हैं। कल इसके अन्तिम मंत्र के प्रथम चरण की व्याख्या की गई थी। शेष भाग पर अब आज विचार किया जाएगा। वेद का प्रत्येक अक्षर साभिप्रायी और सहैतुक होता है, यानि उसका कुछ अभिप्राय और उसके प्रयोग में कुछ हेतु निहित होता है। वेदमंत्र में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जो अनावश्यक वा निरर्थक हो। उसमें छंदपूर्ति के लिए किसी अक्षर की न्यूनाधिकता और पुनरुक्ति दोष के लिए भी स्थान नहीं है। इसमें जहाँ पर एक मंत्र को, एक वाक्य को वा एक शब्द को बार-बार प्रयोग किया गया है, वहाँ पर उसके भिन्न अर्थ, भिन्न प्रयोजन और भिन्न अभिप्राय हैं। वेद का ही अन्तिम भाग वेदान्त है। वह ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मतत्त्व का बोध, ब्रह्म का विवेचन तथा ब्रह्म की अनुभूति की विधि, जिन मंत्रों में बताई गई है, उन्हीं मंत्रों का, उन्हीं के अर्थों का, उन्हीं की विवेचन-पूर्ण व्याख्या का संकलन ही वेदान्त वा उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इसलिए उपनिषद् के वाक्यों का तथा उपनिषद् की श्रुतियों का अर्थ समझना सामान्य बुद्धि के वश की बात नहीं। यद्यपि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य समाधि भाषा की ही अभिव्यक्ति है, उसमें भी वेदान्त वा ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित मंत्रों का तथा उनके वाक्यों का अभिप्राय बड़ा ही रहस्यमय तथा निगढ है, उनकी व्याख्या करते हुए यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए।

यद्यपि वेद लौकिक तथा अलौकिक संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का कोष है। जिस किसी भी स्तर से वेदमंत्रों का चिन्तन, मनन और इसके अर्थ का अनुसंधान किया जाए, उसके अनुसार ही उसका अर्थ प्रकाशित होता है। आप लोग इसे फिर समझ लें, जिस बौद्धिक स्तर से वैदिक साहित्य का अध्ययन, मनन, चिन्तन करेंगे. उस स्तर के अनुसार ही उसका अर्थ सूझेगा। यदि चेतना के

उच्चतम स्तर से ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रकाश में उन मंत्रों का, उनके शब्दों का चिन्तन किया जाए, तो उसका अर्थ अन्य रूप में प्रकाशित होगा। यदि चेतना के उससे निम्न स्तर की अवस्था से युक्ति और तर्क के द्वारा उन्हीं मंत्रों का अनुसंधान किया जाए ,तो उसका दूसरा ही अर्थ प्रकाशित होगा और यदि केवल व्याकरण के ज्ञान द्वारा प्रकृति-प्रत्यय आदि के सहयोग से सामान्य बौद्धिक स्तर से उसका अर्थ किया जाए तो उसका और ही अर्थ समझ में आएगा। वह वैदिक साहित्य चेतना की उच्चतम अवस्था में पहुँचे हुए समाधि प्रज्ञा के माध्यम से उन आप्तकाम, पूर्णकाम, ब्रह्मवेता महर्षियों के अन्तःकरण में अवतरित हुआ ज्ञानकोष है। इसलिए उसका प्रत्येक शब्द कल्पवृक्ष और उसका प्रत्येक वाक्य कामधेनु के समान सभी के लिए उनकी बौद्धिक चेतना के अनुसार अर्थ को प्रकाशित कर देता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मविज्ञान के महापंडितों के लिए भी उनकी समझ के अनुसार श्रुति-वाक्यों का अर्थ प्रकाशित हो जाता है और सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों के लिए भी उनकी स्थिति के अनुसार उनका अर्थ प्रकाशित हो जाता है। यह याद रखना है कि आप्तवाक्य को ही सनातनधर्म में परमप्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। वैदिक साहित्य का प्रत्येक वाक्य आप्तवाक्य है और वह सभी स्तर के मनुष्यों के लिए उनके कल्याण सम्पादन की दिशा प्रदान करने हेतु अपने अर्थों को प्रकाशित करता है।

वैदिक साहित्य में मानव समाज को तीन भागों में विभाजित किया गया है, जिसे दार्शनिक भाषा में प्रवाह मार्गी, मर्यादा मार्गी और सिद्ध कहते हैं। गोस्वामी जी ने इन्हीं के लिए कहा है—

विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने।।

विषयी, साधक और सिद्ध, इनमें से विषयी वे संसारी जीव कहे जाते हैं, जिनके सोचने, समझने, जानने का सम्पूर्ण प्रयत्न इन्द्रियजन्य ज्ञान पर ही अवलम्बित होता है। वे इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही सत्य मानते हैं। दूसरे साधक हैं जो गुरुकृपा के भाजन बन परमतत्त्व की साधना में लगे हुए हैं, जिनका संयमित जीवन है, जो सजग बुद्धि वाले हैं, जिन्हें इन्द्रिय गम्य ज्ञान अधूरा और दोषयुक्त दिखाई देता है। जो श्रुत और अनुमित प्रज्ञा का प्रयोग कर सत्य को समझने, जानने का प्रयत्न करते हैं। ये शास्त्र की मर्यादानुसार ही जीवन-यापन करते हैं तथा श्रुत और अनुमित ज्ञान के आधार पर ही सत्य को स्वीकार करते हैं। तीसरे सिद्ध पुरुष हैं। सिद्ध वे हैं जिन्हें समाधि प्रज्ञा प्राप्त है। जो ऋतम्भरा प्रज्ञा से युक्त हो जगत् तथा जीवन की यथार्थता को जान

चुके हैं, जिन्होंने उस प्रज्ञा से भी परे हो कर उस परमसत्य का अनुभव किया है ये सिद्ध पुरुष ही आप्तकाम, पूर्णकाम कहे जाते हैं। इन्हीं के वाक्य को परम प्रमाण के रूप में, शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है। ये तीनों ही वैदिक साहित्य का अध्ययन और उसकी व्याख्या करते हैं, लेकिन उसके यथार्थ अभिप्राय को इनमें से कौन समझता है, उस की सही व्याख्या किस के द्वारा की जा सकती है, ये आप लोग स्वयं समझ सकते हैं।

उदाहरण के रूप में इस मंत्र को ही लीजिए, जिसके प्रथम चरण की व्याख्या कल के प्रवचन में आप लोग सुन चुके हैं। "**अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।**" इस मंत्र में प्रयुक्त अग्नि शब्द है, सुपथ शब्द है और राये शब्द है। इन्द्रिय ग्राह्य तत्त्व को ही सत्य मानने वाला विषयी जीव अग्नि शब्द से यह प्रत्यक्ष दीखने वाली अग्नि को ही ग्रहण करेगा। सुपथ का अर्थ उसके लिए सुगम उपाय और सुगम रास्ता होगा और राये का अर्थ यह भौतिक सम्पत्ति और सुख-सुविधा के साधन। उसकी दृष्टि में इस मंत्र भाग का अर्थ होगा– हे अग्नि देवता! आप हमें सुगमता से सम्पत्ति तक ले चलें। दूसरे शब्दों में, हे अग्नि देवता! कृपा करके हमारे लिए कोई ऐसा सुगम उपाय करें, जिससे आसानी से ही हमें लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाए, धन की प्राप्ति हो जाए। इस ज़माने में धन प्राप्ति का सुगम उपाय आप लोग जानते हैं–लाटरी है, सट्टा है, जुआ है। यदि उसे किसी ने यह बता दिया कि तुम अग्नि जलाकर उसमें घृत की आहुति देकर, देवता से प्रार्थना करोगे तो तुम्हारी लाटरी निकल आएगी या तुम्हारा नम्बर लग जाएगा तो वह इस साधना से ही धन को प्राप्त करने में प्रवृत्त हो जाएगा। कुछ लोग चोरी, बेईमानी, रिश्वत, छल, कपट, मिलावट, धोखेबाजी आदि को ही धन प्राप्ति का सुविधाजनक मार्ग समझते हैं और उन लोगों को यदि आप देखें, उनमें से 99% लोग देवी-देवताओं तथा चमत्कारी तथाकथित महात्माओं या कलियुगी भगवानों में आस्था वाले मिलेंगे, इन सब की दृष्टि से वेद के इस वाक्य का यही अर्थ सही प्रतीत होगा। कुछ समाजसुधारक वा समाजवादी लोग इस वाक्य में प्रयुक्त अग्नि का अर्थ अग्रणि वा समाज का नेता भी कर सकते हैं, फिर उनके द्वारा इस वाक्य का यह अर्थ किया जाएगा कि वेद का यह निर्देश है कि जनता अपने नेता से कहे कि नेता जी! आप इस देश की जनता को ऐसे सुगम और सुलभ रास्ते से ले चलें, उसको इस प्रकार की व्यवस्था दें, जिससे वह सम्पत्तिशाली, ऐश्वर्यशाली बन जाए। क्या आप लोग देख नहीं रहे हैं, वर्तमान में प्रत्येक देश की जनता अपने नेता से यही आशा रखती है और

प्रत्येक देश के नेता यही आश्वासन भी देते हैं कि वे जनता को एक ऐसी सुविधा देंगे, एक ऐसी राह पर ले चलेंगे, जिससे वह शीघ्र ही दरिद्रता और दीनता से मुक्त हो स्वर्गीय सुख को प्राप्त कर लेगी। कितनी विचित्र बात है, इन विषयी जीवों की! इस भ्रान्तिपूर्ण विश्वासों, मान्यताओं को स्मरण कर उनकी दयनीय दशा को देख कर, दुःख और ग्लानि से हृदय भर जाता है, किन्तु विषयासक्त मानवसमाज इसी भाषा को समझता है, इसी आशा पर जीता है। उसके लिए वेद के इस वाक्य का यही अर्थ बुद्धिसंगत और यथार्थ है।

दूसरे जो साधक श्रेणी के लोग हैं, जिनकी बुद्धि सजग है, जो इन्द्रिय ग्राह्य को ही सत्य नहीं मानते, वे वेद के इस वाक्य का चिन्तन करते हुए,इसमें प्रयुक्त शब्द 'अग्नि' 'सुपथ' और 'राये' का अर्थ सर्वथा उससे भिन्न समझते हैं, इनकी दृष्टि से अग्नि देवता है, वह इस प्रत्यक्ष होने वाली अग्नि का अभिमानी देव है। वह हव्यवाहन देवताओं के लिए हव्य पहुँचाने वाला, जातवेता सृष्टि में उत्पन्न हुए सभी को जानने वाला है। वह अपने उपासकों की अभीप्सा पूर्ण करने वाला एक शक्तिशाली देव है, ऐसा समझ कर उसकी प्रार्थना करते हैं। सुपथ शब्द का अर्थ उनकी दृष्टि में धर्मपथ, न्यायपथ है। वे अग्निदेव से उस धर्मपथ से ले चलने की प्रार्थना करते हैं। 'राये' शब्द का अर्थ उनकी दृष्टि में स्वर्गीय सुख वा स्वर्ग आदि लोकों का अक्षय ऐश्वर्य है। वे अपने इष्टदेव, आराध्यदेव अग्निदेव से उस अक्षय ऐश्वर्य तक धर्मपथ से ले चलने की याचना करते हैं। उनके विचार से वेद का यह मंत्रभाग इसी विधि का निर्देश दे रहा है और वे इसके अनुसार ही इस मंत्रार्थ की सार्थकता मानते हैं।

तीसरे सिद्ध कोटि के महापुरुष हैं, जो समाधिप्रज्ञा को प्राप्त हुए प्रत्यक्षधर्मा ऋषि हैं। जिन्होंने इस उपनिषद् के 16वें मंत्र में वर्णित "सोऽहमस्मि" की प्रत्यक्षानुभूति की है। उनकी दृष्टि में वेद के इस वाक्य का अर्थ सर्वथा भिन्न होगा। उनकी दृष्टि से अग्नि, सुपथ और राये, इन तीनों शब्दों का प्रयोग जिस अर्थ में किया गया है, उसकी वृहद व्याख्या कल आप लोग सुन चुके हैं। 'अग्नि'शब्द सृष्टि के आदि मूल तत्त्व परात्पर ब्रह्म का अभिधान है। 'सुपथ,' आत्मपथ वा सत्यपथ है और 'राये' वह अक्षय आनंदघन है। तत्त्वद्रष्टा ऋषि उस परात्पर प्रभु से अपने ही दिव्य प्रकाश मार्ग से, जिसे उपनिषदें अर्चिमार्ग कहती हैं, अपने अखंड आनंदस्वरूप तक ले

चलने की प्रार्थना कर रहा है। उपनिषदों के अनेकों उदाहरणों द्वारा इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए आप लोगों को कल के प्रवचन में यह बात भली-भाँति समझा दी गई है। यहाँ पर इष्ट, आराध्य, अभीष्ट और उसका मार्ग, ये तीनों तीन नहीं तीनों एक ही हैं। इस संबंध में गोस्वामी जी महात्मा भरत का उदाहरण देते हुए कहते हैं—

साधन सिद्धि राम पद नेहु। मोहि लखि परत भरत मत ऐहू।।

श्रीरामचरितमानस में महात्मा भरत पूर्णप्रज्ञ, तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के भी आदर्श बताए गए हैं। उनके संबंध में ब्रह्मर्षि विशिष्ट का कथन है:—

समुझब कहब करब तुम जोई। धर्मसार जग होई हैं सोई।।

तुम जो कहोगे, करोगे, समझोगे, वही जगत् में धर्म का सार-सर्वस्व होगा। महात्मा भरत की दृष्टि में साधन और साध्य दोनों ही परात्पर प्रभु श्री राम हैं। ब्रह्म की दृष्टि में यही परम सत्य है। मुझे याद है, अपने अध्ययन काल में एक महात्मा के पास रहा करता था। वे प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त्त में उठकर ध्यानादि के पश्चात् प्रार्थना किया करते थे—

यात्री तुम्हीं भवसागर केवट पोत तुम्हीं पतवार तुम्ही हो,
दर्शक दृश्य तुम्हीं नटनागर नायक नाटककार तुम्हीं हो।
व्यष्टि समष्टि अहंकृति हो मन बुद्धि तुम्हीं हो विचार तुम्हीं हो,
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरीय अकार उकार मकार तुम्हीं हो।।

हे प्रभो! तुम्हीं यात्री, तुम्ही समुद्र, तुम्हीं नाव, तुम्हीं केवट और तुम्हीं पतवार हो। दर्शक, दृश्य, कुशल नर्तक, उसके स्वामी और नाटक के कर्त्ता भी तुम्हीं हो। व्यष्टि और समष्टि रूप में अभिव्यक्त होने वाला अहं, मन, बुद्धि और उससे प्रवाहित होने वाला विचार भी तुम्हीं हो। वेद में वर्णित अ उ म और अर्द्धमात्रा से सम्बन्धित ओंकर स्वरूप, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया आदि अवस्थाएं और इनके साथी विश्व, तैजस, प्राज्ञ और ब्रह्म, ये सभी कुछ तुम्हीं हो। यथार्थतः अद्वैतद्रष्टा ऋषि ही ब्रह्मविद्या के यथार्थ अर्थ का ज्ञाता होता है।

इस सारे विवेचन से आप लोग समझ गए होंगे कि वर्तमान में जो वैदिक साहित्य के अनेक प्रकार के अर्थ पढ़ने को मिलते हैं, उनमें कारण क्या है? और यह भी समझ गए होंगे कि संसार के विषय को ही सत्य मानने वाले पश्चिमी पंडितों द्वारा वैदिक साहित्य का जो अर्थ किया गया है, वह कहाँ तक यथार्थ वा ग्राह्य हो सकता है? जो लोग इन्द्रियगम्य ज्ञान को ही सत्य मानते हैं, उनसे मेरा निवेदन है कि यह सर्वथा भ्रान्तपूर्ण मान्यता है। इन्द्रियों के द्वारा हमें दृश्य सत्य

का केवल आंशिक ज्ञान ही हो पाता है, केवल उनकी उपस्थिति और उनके बाह्य गुणों का ही कुछ अंश में परिचय हो पाता है। इन्द्रियज्ञान को ही सत्य मानना और उस पर विश्वास करना स्वयं के साथ धोखा करना है, क्योंकि इन्द्रियों की शक्ति बहुत ही अल्प है। वे अत्यन्त दूर और अत्यन्त निकट की वस्तुओं को नहीं देख पाती, नहीं जान पाती। प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले झट से यह बात कह देते हैं, जिसे हमने नहीं देखा, उस पर विश्वास कैसे कर लें? उनसे मेरा यह कहना है कि जो नहीं दीखता,उस पर विश्वास करना इतना खतरनाक नहीं, जितना खतरनाक है देखे हुए पर विश्वास करना, उसे सत्य मानना। व्यावहारिक दृष्टि से कुछ मात्रा में इसकी उपयोगिता स्वीकार की जा सकती है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से, सत्य की दृष्टि से, वह सरासर धोखेपूर्ण है। आप सभी इस विषय पर थोड़ा विचार करें, यदि बौद्धिक दृष्टि से देखेंगें तो इन आंखों के द्वारा देखा हुआ प्रत्यक्ष कितना भ्रमपूर्ण और असत्य है, इसका बोध हो जाएगा।

हम इन आंखों से जिस किसी पदार्थ को भी देखते हैं, वह हमें रूप और रंग से युक्त ही दिखाई देता है। यहाँ रूप का अभिप्राय आकृति से है। किसी भी पदार्थ को जिसे हमारी आंखें देख सकती हैं, वह किसी आकृति और रंग से युक्त ही दिखाई देता है। जो आकृति रहित, रंग रहित है, वह कभी भी हमारी आँखों का विषय नहीं हो सकता। वैज्ञानिकों का कथन है कि रंग वस्तु का नहीं, प्रकाश का धर्म है। दूसरे शब्दों में रंग पदार्थ का नहीं, सूर्य की किरणों का ही परिणाम है। जिस किसी वस्तु वा पदार्थ का जो रंग हमें दिखाई दे रहा है, वस्तुतः वह रंग उस पदार्थ का नहीं है। जिस रंग को उस पदार्थ ने ग्रहण नहीं किया, आत्मसात नहीं किया, जिसको उसने अपने से बाहर फेंक दिया है, वही रंग उस वस्तु के रूप में दिखाई दे रहा है। भला, आप सोचिए, रंग-रहित आप किसी वस्तु को देख नहीं सकते और जिस रंग को उस वस्तु के साथ देखते हैं, वह उसका अपना है ही नहीं। फिर कहाँ रह जाती है,आपके प्रत्यक्ष की विश्वसनीयता? आकृति किसी पदार्थ का धर्म नहीं। तो क्या बिना आकृति के आप कोई वस्तु देख सकते हैं? जो आकृति दिखाई दे रही है, उसको सत्य मानना भी तो भ्रम से रहित नहीं। एक वस्तु जो सामने से चौकोर दिखाई दे रही है, उसी को किसी दूसरे ऐंगल से वा दूसरी दिशा से देखें, तो वह त्रिकोणी दिखाई देगी। यदि दूर से देखें तो लम्बी दिखाई देगी। इतना ही नहीं, पृथ्वी का यह चौड़ा स्वरूप ही हमें प्रत्यक्ष है। पृथ्वी से कई गुणा विशाल सूर्य हमें एक गेंद के समान ही दिखाई देता है। क्या यह सब कुछ प्रत्यक्ष दिखने वाला

विश्वास के योग्य है? जो स्थिति हमारी आँखों की है, यही अन्य ज्ञानेन्द्रियों की भी है। जैसे हमारी आँखें बहुत दूर एवं बहुत नज़दीक की चीज़ें नहीं देख सकती ; उसी प्रक़ार से हमारे कान कुछ सीमा में होने वाले शब्द को ही सुन सकते हैं। उस सीमा से अधिक होने वाले शब्दं को नहीं सुन सकते और उस सीमा से मन्द शब्द को भी नहीं सुन सकते। आप लोग जानते हैं कि एक एटम के टूटने में कितना बड़ा धमाका होता है! यदि निकट से सुनें तो हमारे कान के पर्दे फट जाएँ। वैज्ञानिक कहते हैं कि इस सृष्टि में अनेकों ग्रह-उपग्रह नित्य टूटते रहते हैं। आप लोग भी कभी-कभी आकाश में टूटता हुआ तारा देखे होंगे। ज़रा सोचिए, उस तारे के टूटने से कितना बड़ा धमाका हुआ होगा! क्या आपके कानों ने कभी उस धमाके को सुना है? नहीं, कभी नहीं। यदि सुनते तो उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता। उल्कापात होते आपकी आँखें देखती हैं, किन्तु उसके साथ होने वाले घोर नाद आपके कान नहीं सुन पाते। इससे आप समझ गए होंगे कि हमारी इन्द्रियों की शक्ति कितनी अल्प है। क्या कभी किसी ने रंगरहित विद्युत के प्रकाश को देखा है? क्या आप बता सकते हैं कि बिजली के प्रकाश का क्या रंग है? बिल्कुल नहीं ; यह संभव ही नहीं है, क्योंकि बिजली के प्रकाश को आप बल्ब के माध्यम से ही देख सकते हैं और उसके प्रकाश के साथ जो रंग दिखाई देता है, उसमें अधिकांश रंग माध्यम का ही है। जो स्थिति आपके आँख और कान की है, उससे भी निर्बल स्थिति आपकी अन्य ज्ञानेन्द्रियों की है। जिह्वा, घ्राण और त्वचा, ये तो बहुत ही अल्प शक्ति वाले हैं। त्वचा बिना स्पर्श किए, जिह्वा बिना चखे कुछ भी नहीं जान पाती। घ्राण इन्द्रिय भी बहुत स्वल्प मात्रा में ही गंध का अनुभव कर पाती है। इससे आप समझ गए होंगे कि आप कि इन ज्ञानेन्द्रियों की बहुत ही अल्प सामर्थ्य है। भला, जो आपकी आँखें करोड़ों मील दूर रहते हुए भी ग्रीष्म ऋतु के मध्यकाल के सूर्य के गोले को भी नहीं देख पातीं, अधिक प्रकाश के कारण चौंधियां जाती हैं, उनके द्वारा आप सूर्य की यथार्थता को कैसे जान सकते हैं? जिस प्रत्यक्ष पर अबुध लोगों को इतना विश्वास रहता है, वे आँखें तो अधिक प्रकाश में भी अंधी हो जाती हैं; कुछ भी देख नहीं पाती। इसी प्रकार मंद प्रकाश में भी इन आँखों को कुछ दिखाई नहीं देता।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि प्रत्यक्ष प्रमाणवादी इन्द्रियगम्य ज्ञान को ही सत्य मानने वाले सदैव असत्य में ही सत्य की कल्पना कर उसमें अनुरक्त रहते हैं, इसलिए ऐसे लोग पूर्णप्रज्ञ ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रसूत वैदिक साहित्य का यथार्थ अर्थ भला कैसे समझ सकते हैं? सूक्ष्मतम रहस्य का

उद्घाटक वैदिक साहित्य ऐसे लोगों की समझ से बहुत दूर है, इनकी लौकिक बुद्धि की पहुँच से सर्वथा परे है। दूसरी श्रेणी के लोग जो साधक कोटि के हैं, वे बुद्धिगम्य ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। यह बुद्धिगम्य ज्ञान दृश्य और श्रुत के आधार पर प्रयुक्त होने वाली युक्ति और तर्क पर ही अवलम्बित होता है। युक्ति और तर्क द्वारा प्राप्त प्रज्ञा को अनुमितप्रज्ञा कहते हैं। तर्कशास्त्र में इस अनुमितप्रज्ञा की ही प्रतिष्ठा है। यद्यपि इसके द्वारा सत्य का सही बोध प्राप्त नहीं हो पाता, फिर भी यह सत्य तक पहुँचने की साधना में बहुत दूर तक सहायक हुआ करती है। इसीलिए इस प्रज्ञा से युक्त व्यक्ति को साधक कहा जाता है। बोल-चाल की भाषा में इन्द्रिय बुद्धि में विश्वास करने वालों को मनमुखी और इस श्रुत और अनुमितप्रज्ञा के विश्वासी को गुरुमुखी कहते हैं। गुरुमुखी ही वैष्णव सिद्धान्त में मर्यादामार्गी कहा जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में वही साधक है। युक्ति और तर्क ही उसके बोध का आधार होता है। उसने सुना है–"**यत्र यत्र धूमो तत्र तत्र अग्निः।**" जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है। रसोईघर में उसने इसे प्रत्यक्ष भी देखा है, इसलिए किसी दूर देश में धुएँ को देख कर वह अनुमान लगा लेता है कि वहाँ अग्नि अवश्य होगी। निरीक्षण और परीक्षण के आधार पर प्राप्त बोध पर विश्वास करने वाले वर्तमान के वैज्ञानिकों को इसी श्रेणी में देखा जा सकता, यद्यपि इनके बोध को विशुद्ध सत्य नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह सत्य के बहुत निकट है, ऐसा कहा जा सकता है। आप सभी जानते हैं कि जब किसी माध्यम से किसी पदार्थ के स्वरूप को देखते हैं तो उस स्वरूपदर्शन में माध्यम के कुछ अंश के होने को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अतः उस दृश्य पदार्थ के स्वरूप को पूर्ण सत्य रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। पूर्ण सत्य का बोध तो आत्मप्रसांद से प्राप्त हुई ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा ही संभव है। प्राकृत पदार्थों के सही रूप का यथार्थ बोध उसी ऋतम्भरा प्रज्ञा से ही सम्भव है। किन्तु उपनिषद् कहती है कि जो अप्राकृत है, जो प्रकृति से परे है, उसके सत्स्वरूप का बोध ऋतम्भरा प्रज्ञा की भी पहुँच से परे है। इसीलिए योगदर्शन में कहा गया हैं कि इस प्रज्ञा के निरुद्ध हो जाने पर ही निर्बीज समाधि प्राप्त होती है। कठोपनिषद् कहती है–

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।

(कठ० 2/3/10)

जहाँ बुद्धि की चेष्टा भी शान्त हो जाती है, वही योग की परमावस्था है। उस अवस्था में पहुँचा हुआ योगी ही योगारूढ़ तथा सिद्ध कहा जाता है। उसके

द्वारा ही परम सत्य का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ प्रयुक्त प्रत्यक्ष शब्द आत्मदृष्टि का अवबोधन कराता है। इंग्लिश में उस दृष्टि को ही इन्टयूशन कहते हैं। उपनिषदों में उसे प्रतिभा कहा गया है। समाधिप्रज्ञा, ऋषिप्रज्ञा आदि नामों से भी उसे सम्बोधित किया गया है। योगदर्शन में यह निर्बीज समाधि कही गई है। इससे पूर्व की अवस्था को सबीज वा सम्प्रज्ञात कहते हैं और इस अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। वह वैदिक ऋषि जो ईशोपनिषद् के 18वें मन्त्र में प्रार्थना कर रहा है, वह असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था से पुनः उत्थान की अवस्था में आया हुआ प्रतिभा प्राप्त योगी है। वह सत्यद्रष्टा, तत्त्वद्रष्टा है, उसके द्वारा की गई प्रार्थना में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ यथार्थ रूप से वही समझ सकते हैं, जो समाधिप्रज्ञा को प्राप्त हो चुके हों। मुझे विश्वास है कि **"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।"** वेद के इस प्रार्थनामय वाक्य का अभिप्राय आप लोग समझ चुके होंगे।

इसके आगे का दूसरा चरण है—**"विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।"** इस का अन्वय है—**"देव विश्वानि वयुनानि विद्वान्।"** "हे देव ! इस अनन्त ब्रह्माण्ड रूप विश्व के बुने हुए स्वरूप के आप ही एकमात्र ज्ञाता हैं।" यहाँ 'वे' धातु जो बुनने के अर्थ में प्रयुक्त होती है, उसी से वयुनानि शब्द बना है, जिसका अभिप्राय है बुना हुआ, गूथा हुआ। इस बुने हुए, गुथे हुए अनन्त ब्रह्माण्ड को ही विश्वानि शब्द से सम्बोधित किया गया है। विश्वानि वयुनानि का अभिप्राय है अनन्त पिंड, अंड, ब्रह्माण्ड रूप में गूथा हुआ यह सम्पूर्ण विश्व। देव शब्द उस सर्वप्रकाशक परात्पर प्रभु का सम्बोधन है, जिसके प्रकाश में इस बुने हुए विश्व की स्थिति है। यथार्थ रूप से वही उसका एकमात्र जानने वाला है, ज्ञाता है। विद्वान् शब्द से ऋषि इसी भाव को अभिव्यक्त कर रहा है। कुछ विद्वानों ने वयुनानि शब्द का अर्थ जीव द्वारा किया गया उसका कर्मजाल किया है। मेरे विचार से यह अर्थ यहाँ संगत नहीं। वैदिक साहित्य में 'वयुन' शब्द एक अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। वहाँ पर यह वस्तु का अवबोधक है। प्रत्येक वस्तु के दो पहलू हैं—अस्ति ओर आकृति। यह 'वयुन' शब्द दोनों का ही अवबोधन कराता है। उस दृष्टि से यदि अर्थ किया जाए तो इस प्रकार होगा, हे सर्वप्रकाशक देव! इस अनन्त अस्ति और आकृति से युक्त विश्व के आप ही एक मात्र ज्ञाता हैं। 'देव' शब्द का अर्थ मैं पहले भी आप लोगों को बता चुका हूँ। यहाँ यह शब्द परमात्मा के अर्थ में ही प्रयुक्त है। प्रकाशक के द्वारा समग्र रूप से प्रकाश्य जाना जा सकता है। इसलिए ऋषि उस देव को ही अस्ति और आकृति से युक्त अनन्त विश्व का जानने वाला

अथवा ज्ञाता कह रहा है। यथार्थतः इस अनन्त सृष्टि के वैविध्य और वैचित्र्य को उस देव के सिवा और कौन जान सकता है? वही इस समस्त प्राकश्य विश्व का परम प्रकाशक है। गोस्वामी जी कहते हैं–

विषय करण सुरजीव समेता। सकल एक तो एक सचेता।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीश ग्यानगुन धामू।।

यह विश्व प्रकाश्य है और राम इसका प्रकाशक। जिस मायाशक्ति के गुणों का परिणाम यह विराट विश्व है, उस शक्ति का वह शक्तिमान और अधीश्वर है। उपनिषदों तथा गीता में उसे ही 'ज्ञ' कहा गया है। श्रुति कहती है–

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।
(श्वेता० 6/16)

वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा विश्व का स्रष्टा, विश्व का ज्ञाता, स्वयं विश्व रूप में अभिव्यक्त, काल का भी महाकाल, सम्पूर्ण गुणों का आश्रय और सबको जानने वाला है। एक दूसरे मंत्र में कहा गया है–"**ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।**" सर्वज्ञ, सर्वत्र परिपूर्ण, इस भुवन का वही रक्षक है। यह भुवन उसी में अवस्थित है, इसलिए वही इसका ज्ञाता है।

मेरे विचार से लाखों वर्ष पूर्व तत्त्वद्रष्टा महर्षियों ने इस विशाल विश्व की विविधता और विचित्रता को प्रत्यक्ष कर लिया था। इतना ही नहीं पृथ्वी, चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, अंड, ब्रह्मांड, आकाशगंगा और निहारिकाओं में आपस में क्या सम्बन्ध है, ये सभी एक दूसरे से किस प्रकार जुड़े हुए हैं, एक दूसरे में किस प्रकार बुने हुए हैं, गुथे हुए हैं, इसका भी बोध ऋषि को प्राप्त था। इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ "विश्वानि वयुनानि" शब्द इसी रहस्य का उद्घाटन कर रहा है। ऋषि केवल आत्मद्रष्टा ही नहीं वह विश्वद्रष्टा भी है। आत्मज्ञ ही नहीं सर्वज्ञ भी है। तभी तो उसे विश्व के 'वयुन' का ज्ञान है। यह वाक्य देखने में जितना छोटा और सरल है, अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से उतना ही विशाल और व्यापक। विश्वानि और वयुनानि, इन दोनों शब्दों में सृष्टि का सम्पूर्ण रहस्य समाया हुआ है। यदि सत्य कहूँ तो इन शब्दों के अर्थ रूप में जो कुछ मैं जान रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ, उसका एक अंश भी वाणी द्वारा व्यक्त करने में सक्षम नहीं। तुलसीदासजी के वे शब्द आज सार्थक लगते हैं, जिसमें उन्होंने कहा है–

गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

"जानने वाला, देखने वाला बोल नहीं सकता और बोलने वाले ने देखा नहीं।" आप सभी जानते हैं कि यह अनंत ब्रह्माण्ड, यह अनन्त सृष्टि, इस अनन्त आकाश में ही अवस्थित है। इसमें जो कुछ भी विभिन्न रूपों में

अवस्थित है, दृश्य वा अदृश्य, वह सभी कुछ एक दूसरे से जुड़ा हुआ है, बंधा हुआ है। दार्शनिक भाषा में उसे यूँ भी कह सकते हैं कि ये सभी एक दूसरे के आकर्षण पर टिके हुए हैं। वर्तमान के वैज्ञानिक इसे 'ला ऑफ ग्रेवीटेशन' अथवा आकर्षण का सिद्धान्त कहते हैं। अन्तरिक्ष विद्या में जिसे हमारी भाषा में खगोल शास्त्र कहते हैं, उसका अध्ययन करने पर इस विश्व के बुने हुए का कुछ अंश में ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, जिस चन्द्रमा की ज्योत्सना से इस भूतल की औषधियाँ पुष्ट होती हैं, जिन अट्ठाईस नक्षत्रों का और नवग्रहों का इस भूतल के पदार्थों पर प्रभाव पड़ता है, ये सभी इस दिखाई देने वाले सूर्य के सहारे ही अवस्थित हैं। दूसरे शब्दों में ये सभी सूर्य के साथ बुने हुए हैं, गुथे हुए हैं, किन्तु यह सूर्य स्वयं में स्वतन्त्र नहीं है। जिस यूनिवर्स का यह अंग है, उसमें इस जैसे बयालीस अरब सूर्य हैं, यह वर्तमान के वैज्ञानिकों का कथन है और वे सभी एक दूसरे से बुने हुए हैं, गुथे हुए हैं। इन सूर्यों का भी आश्रय एक अन्य सूर्य है, वैदिक भाषा में जिसे पारमेष्टि कहते हैं, वह भी स्वयं में स्वतन्त्र नहीं, अकेला नहीं, अपनी जैसी अनेकों पारमेष्टियों के साथ बुना हुआ है, गुथा हुआ है। उससे परे उसका भी एक आधार सूर्य है। वेद में उस सूर्य को ही सविता शब्द से सम्बोधित किया जाता है, उसे ही स्वयंभू कहते हैं। वैदिक विज्ञान वहीं तक जा पाता है, उससे आगे क्या है, उसके विषय में वह नेति-नेति कह कर अपनी असमर्थता व्यक्त करता है।

जिस स्वयंभू की यहाँ हमने चर्चा की है वर्तमान के अन्तरिक्षविद्या विशारद वैज्ञानिकों की कल्पना वहाँ तक पहुँच पाई है वा नहीं, इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। हां, कुछ दिन पूर्व एक खगोलशास्त्र की पुस्तक में मैंने पढ़ा था। एक वैज्ञानिक का कथन है कि यह हमारा जो सूर्य है, वह एक महान् सूर्य के विस्फोट का तृतीय रूप है। इसका अभिप्राय यह होता है कि पहले उस महान् सूर्य का आविर्भाव हुआ, उसके टूटने पर जितने भाग हुए, उन प्रत्येक में गति से पुनः आकृति बनी और वे दूसरे स्तर के सूर्य कहे गए। उनमें से एक सूर्य में पुनः विस्फोट हुआ, फिर उसके अनेकों खंड हो गए और उसी गति के द्वारा उसके प्रत्येक खंड भी अलग-२ सूर्यों के रूप में अवस्थित हो गए। उस वैज्ञानिक के विचार में हमारा सूर्य उन्हीं सूर्यों में से एक है। यदि उसके कहने का अभिप्राय यही है जो मैं समझ सका हूँ, तो उसका कथन वैदिक सिद्धान्त का स्पष्टीकरणमात्र ही कहा जाएगा। अभी जिसे मैंने सूर्य और उसके कारण पारमेष्टि और उसके भी कारणरूप में स्वयंभू की चर्चा की है, यद्यपि वह

स्वयंभू को अकेला नहीं मानता, ऐसे अनन्त स्वयंभुओं के होने का संकेत करता है और यह सब कुछ एक दूसरे से बुना हुआ, गुथा हुआ है ; इस गुथे हुए होने से ही इनके कारण को गुण शब्द से सम्बोधित किया जाता है। गुण शब्द का अर्थ ही होता है गुथा हुआ। इन समस्त बुने हुए विश्व का प्रकाशक और ज्ञाता वह परमेश्वर है। इसीलिए ऋषि उसे **"विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्"** कह कर उसकी स्तुति कर रहा है। आप लोग ज़रा कल्पना कीजिए वैदिक-कालीन ऋषियों की अद्‌भुत प्रतिभा की। यथार्थतः यदि यह प्रतिभा किसी को प्राप्त हो जाए, क्या उसकी दृष्टि में द्वैत के लिए स्थान हो सकता है? भेद के लिए स्थान हो सकता है? ऐसे प्रतिभावान के लिए ही श्रुति कहती है—**"सर्वभूतेषुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते।"** वह संपूर्ण सृष्टि में आत्मतत्त्व का दर्शन करता हुआ, एक ही प्रकाशक अथवा ज्ञाता को देखता हुआ, किसी की भी उपेक्षा नहीं करता, घृणा नहीं करता। जुगुप्सा का अर्थ ऊबना भी होता है। फिर वह सृष्टि के किसी भी पदार्थ से, किसी भी परिस्थिति से नहीं ऊबता क्योंकि उसे सर्वरूप में सर्वत्र एक ही परम सत्य का दर्शन होता है। उसकी दृष्टि में एक ही विराट पुरुष के सब अवयव हैं, अंग-प्रत्यंग हैं। फिर वह किस से अरुचि करे, किससे ऊबे, किसका ग्रहण और किसका त्याग करे, किससे घृणा और किससे प्रेम करे?

एक बात यहाँ और मैं स्पष्ट कर दूँ कि वैदिक सिद्धान्त में उस परमेश्वर को सृष्टि का निर्माता नहीं माना जाता, वह स्वयं सृष्टि रूप में आविर्भूत हो गया है, ऐसा सत्यदर्शी ऋषियों का कथन है। इसलिए उसके स्वयं के द्वारा बुने हुए इस विश्व रूपी वस्त्र के रूप में वह स्वयं ही अभिव्यक्त हुआ है। श्रुति कहती है—**"तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्।"** उसकी सृष्टि कर वह स्वयं भी उसी में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए कुछ आचार्यों ने इस विश्व को प्रभु का स्वरूप और उसे स्वरूपी बताया है और कुछ ने इस भेद को भी स्वीकार नहीं किया, सर्वरूप में उस परम सत्य का ही उद्‌घोष किया है। भगवान् व्यासदेव सभी दृष्टियों का समन्वय करते हुए महाभारत में कहते हैं—

यस्मिन् सर्वं यतो सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः।।

वेद का ऋषि भी देव और विद्वान्, इन दोनों के मध्य में विश्वानि वयुनानि शब्दों का प्रयोग कर यह संकेत कर रहा है कि वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा स्वयं ही इस बुने हुए विश्व के रूप में प्रकट हुआ और स्वयं ही इसका द्रष्टा वा ज्ञाता है। आप लोग भी वेद के इस वाक्य का चिन्तन करते हुए उसके रहस्य को जानने के

लिए प्रभु से प्रार्थना करें–

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देववयुनानि विद्वान्।

इस प्रार्थना के चिन्तन के साथ ही आज का प्रवचन यहीं विश्राम पाता है। इस मंत्र के शेष भाग का अर्थ आप लोगों को कल बताया जाएगा।

हरि ॐ तत्सत्
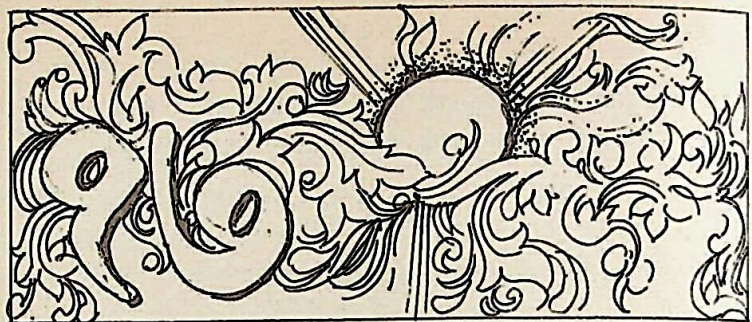
मेरी प्रिय आत्माओ !

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए सदैव कल्याणकारी हो, इस शुभकामना के साथ आज का यह ज्ञानसत्र प्रारम्भ किया जा रहा है। जैसा कि आप लोग जानते हैं, यह ज्ञानयज्ञ एक महीने से चल रहा है और आज इसका समापन दिवस है। इतने दिनों तक आप लोग नित्यप्रति ईशोपनिषद् पर विचार सुनते आ रहे हैं। अब तक आप लोगों को इस उपनिषद् के माध्यम से शाश्वत सनातन धर्म से सम्बन्धित बहुत सी बातें समझाई गई हैं। जैसा कि पहले भी आप लोगों को बताया गया है, वर्तमान में सनातन धर्म की प्रतिष्ठा और उसके दार्शनिक तथा मौलिक सिद्धान्तों के विवेचन के लिए प्रस्थान रूप से तीन ग्रन्थों को स्वीकार किया गया है—उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र।

उपनिषदों की संख्या यद्यपि बहुत है किन्तु वर्तमान में प्राप्त उपनिषदों में 108 उपनिषदों को जगत्,जीव और जगदीश के स्वरूप, गुण, स्वभाव तथा इनके कारणस्वरूप पराशक्ति से युक्त परात्पर ब्रह्म को जानने, समझने और अनुभव करने के लिए प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है। अपने परम प्रिय शिष्य आंजनेय को परब्रह्मतत्त्व का अवबोधन कराते हुए करुणानिधान भगवान् श्रीराम ने मुक्तिकोपनिषद् में उन 108 उपनिषदों के अध्ययन, अनुसंधान का उपदेश दिया है। उपनिषद् साहित्य को ही वेदान्त कहते हैं।

उपनिषदों में आए हुए विभिन्न नामों से वर्णित उस परब्रह्म के स्वरूप, स्वभाव, कार्य तथा जीव और माया के गुण, धर्म, स्वभाव आदि का विवेचन करते हुए, उनमें भेद प्रतीत होने वाले वाक्यों का सामंजस्य और उनके यथार्थ अभिप्राय को प्रकट कर मुमुक्षु जीव के लिए ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करने की विधि का अवबोधन कराने के लिए ही भगवान् व्यासदेव ने ब्रह्मसूत्रों की रचना

की है। उपनिषदों की व्याख्या में प्रयुक्त होने के नाते उन सूत्रों को भी वेदान्त के नाम से अभिहित किया जाता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मसूत्रों का आधार उपनिषदें हैं, इसी में उनकी प्रमाणिकता और वैशिष्टय निहित है।

भगवद्गीता को तीसरे प्रस्थान के रूप में स्वीकार किया गया है। भगवान् व्यासदेव ने इसे सम्पूर्ण उपनिषदों का सार कहा है। गीता की पुष्पिका में भी उसे उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र के रूप में संबोधित किया गया है। यद्यपि वह स्वयं परिपूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण के मुखार्विन्द से वि:निसृत उनकी वांगमयी मूर्ति है, उसकी गरिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए इतना ही पर्याप्त कहा जा सकता है, फिर भी व्यासदेव ने उसे उपनिषद् रूपी गौओं का दूध बताकर उसकी महिमा को और बढ़ा दिया है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता वर्तमान में सनातन धर्म की प्रतिष्ठा में परम प्रमाण के रूप में स्वीकृत हैं। इनमें उपनिषदें ही मुख्य हैं। इन उपनिषदों में भी ईशोपनिषद् का प्रथम स्थान है, क्योंकि यह शुक्ल यजुर्वेद के वाजसनेयी संहिता का अन्तिम भाग है। इस संहिता की दो शाखायें उपलब्ध हैं—माध्यन्दिन शाखा और काण्व शाखा। माध्यन्दिन शाखा के 40वें अध्याय में कुल 17 मंत्र हैं और काण्व शाखा के 40वें अध्याय में 18 मंत्र उपलब्ध होते हैं और इनके आखिरी मंत्रों में कुछ व्यतिक्रम भी प्राप्त होता है। यह प्रचलित ईशोपनिषद् काण्व शाखा का है। वेद का अंतिम अध्याय होने से वेदान्त शब्द इसमें पूर्णतया सार्थक होता है। अंत का एक अर्थ सार भी होता है। यह 40वां अध्याय रहस्यविद्या अथवा ब्रह्मविद्या होने से वेद का सार है। इसके 18 मंत्र हैं और उन मंत्रों का देवता आत्मा है। वेद प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि दीर्घतमा इसके ऋषि हैं, द्रष्टा हैं। उपनिषदों में इसे प्रथम कहा जाता है, क्योंकि कुछ को छोड़कर अन्य उपनिषदें प्रायः ब्राह्मण वा अरण्यक भाग से ही सम्बन्धित हैं और ये ब्राह्मण ओर अरण्यक संहिता भाग की ही व्याख्यायें हैं, उन्हीं के निगूढ़तम रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए चिन्तनशील ऋषियों ने उनका प्रवचन किया है।

ईशोपनिषद् प्रवचन नहीं, वह मूल मंत्र है इसलिए इसकी अधिक महिमा है। विद्वानों की राय है कि यदि किसी काल प्रभाव से संपूर्ण वैदिक साहित्य लुप्त हो जाये, केवल 18 मंत्रों से युक्त ईशोपनिषद् शेष बची रहे, तो उसके आधार पर पुनः सनातन धर्म का विशाल भवन खड़ा किया जा सकता है। आकार में छोटी किन्तु अर्थ गाम्भीर्य में विशाल यह ईशोपनिषद् सनातन धर्म की सभी साधना पद्धतियों एवं सिद्धांतों का मूल स्रोत है। कुछ विद्वानों का तो यह भी कहना है कि

इस उपनिषद् के 18 मंत्रों के आधार पर ही गीता के 18 अध्यायों का प्रवचन हुआ है। इससे आपलोग समझ गये होंगे कि ईशोपनिषद् उपनिषदों में प्रथम है और यही सनातन धर्म, संस्कृति, सभ्यता का मूल आधार है। इसमें ब्रह्मविज्ञान, जीवन विज्ञान और कर्म विज्ञान के साथ ही ध्यान, योग और भक्ति का महत्त्वपूर्ण सामजस्य है। मैंने पहले भी आप लोगों को बताया है कि ज्ञान, ध्यान ओर प्रार्थना, इस उपनिषद् के सार तत्त्व हैं। प्रार्थना ही श्रेष्ठतम भक्ति का स्वरूप है। उसी से भगवान् के साथ अभिन्नता वा पूर्णरूप से भगवान् में विलय की सिद्धि होती है । परमेश्वर की अखंडता, अनन्तता और इदम् से सम्बोधित होने वाले अनन्त सृष्ट जगत् के प्रत्येक अंश में पूर्ण व्यापकता का दर्शन, हमें इस उपनिषद् के प्रथम वाक्य में ही हो जाता है—"**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।**" परम सत्य के अनुसंधान, मनन और चिन्तन के लिए इतना ही उपदेश पर्याप्त है। पारमार्थिक साधना के लिए मुमुक्षुजनों को इससे अधिक उपदेश की आवश्यकता नहीं। किन्तु जो मुमुक्षु नहीं बुभुक्षु हैं, निःश्रेयस नहीं अभ्युदय के अभिलाषी हैं, जिन्हें श्रेय नहीं प्रेय की चाह है, उनके अन्तर विकास के लिए इस मंत्र का दूसरा भाग है—"**तेन तयक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्वित धनम्।**" संसार में अनुरक्त बुद्धिशील मानव के लिए इससे बड़ी सीख और क्या दी जा सकती है? अहिंसा और त्यागपूर्वक भोग की विधि का इससे अधिक सुन्दर अवबोधक उपदेश और क्या हो सकता है?

आप लोग अब तक इसके प्रत्येक मंत्र पर वैज्ञानिक दृष्टि से युक्ति और तर्क के साथ ही अनुभूत विचार सुनते आ रहे हैं। जैसा कि मैंने पहले भी बताया है जीव को उसके यथार्थ स्वरूप शिव में प्रतिष्ठित करना ही ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है। इसीके लिए वह विविध उपायों का उपदेश करती है। इस उपनिषद् के श्रवण से आप लोग समझ गये होंगे कि जीव के लिए जो कुछ भी ज्ञातव्य और द्रष्टव्य है, वह इसके 16वें मंत्र में ही पूर्ण हो चुका है। गीता में भगवान् ने इसके तीन क्रम बताये हैं—ज्ञातुं द्रष्टुं ओर प्रवेष्टुं।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।

(गीता 11/54)

जीव के जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'तत्त्वेन प्रवेष्टुं' में ही पूर्ण होता है । 16 वें मंत्र तक 'ज्ञातुं' और 'द्रष्टुं' की सिद्धि हो जाने-पर ऋषि अब 17वें और 18वें मंत्र में 'तत्त्वेन प्रवेष्टुं' की प्रार्थना कर रहा है। यह मैंने पहले भी बताया है कि जिस प्रकार से नदियाँ अपने नाम-रूप का त्याग कर तत्त्व रूप से, जल रूप से समुद्र में

प्रविष्ट हो उससे अभिन्न हो जाती हैं और फिर उन्हें प्रवाहमान नहीं होना पड़ता, उसी प्रकार से वह ब्रह्मज्ञ भी नाम-रूप का त्याग कर चैतन्य रूप से अपने परम कारण सच्चिदानंद सिंधु में विलीन हो, पुनः संसार प्रवाह में नहीं आता। इसलिए 17वें मंत्र में ऋषि ने अपने व्यष्टि प्राण को उस अमृतमय महाप्राण में विलय हो जाने की और उसके माध्यम वा उपाधि रूप में उससे जुड़े हुए त्रिविध शरीरों को भस्मसात् करने की प्रार्थना की है। इसकी सिद्धि के लिए उसने अपने किसी पुरुषार्थ का नहीं, प्रभु की अनुकम्पा का ही आश्रय लिया है। इसीलिए उसने सर्वरक्षक, यज्ञनारायण से स्वयं को स्मरण करने की याचना की है। वह अर्चिमार्ग का पथिक है, इसलिए परम आश्रय परमेश्वर को अग्नि शब्द से सम्बोधित करते हुए, उनसे स्वयं को सुपथ से आनन्द सिंधु तक ले चलने की याचना करता है। वह यह भी जानता है कि वे परमदेव ही इस अनन्त विश्व की बुनतियों के ज्ञाता हैं। दूसरे शब्दों में इस जगत् जाल के वे ही बुनकर और वे ही जानकार हैं, इसलिए वह अपने जीवन पथ की समग्र उलझनों, व्यवधानों, विकृतियों को दूर भगाकर स्वयं में आत्मसात् कर लेने के लिए पुनः नमस्कार भरे शब्दों का आश्रय ले, उन्हीं से प्रार्थना कर रहा है। इस नमस्कार के साथ ही उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।।

इस मंत्र के प्रथम भाग की व्याख्या कल पूर्ण हो गई थी, आज अब हम इसके दूसरे भाग पर विचार करेंगे। मंत्र के प्रथम भाग के आखिरी चरण में जो विश्वानि वयुनानि शब्द आया है, कल इसकी विस्तृत व्याख्या कर दी गई थी। वय शब्द आयु और स्थिति का भी अवबोधन कराता है। किन्तु वयुन शब्द का प्रचलित प्रयोग बुनने के अर्थ में ही होता है। अंग्रेज़ी में जो बुनकर के लिए वीवर शब्द का प्रयोग है और जाल के लिए वैब शब्द प्रयुक्त होता है, वे भी इसी "वे" धातु से बने हैं। मैंने पहले भी कई बार बताया है कि यह संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषा है और दुराग्रह रहित होकर यदि देखा जाय तो भारतीय भाषाओं की यही जननी है। इसके बहुत से रूट (धातु) लैटिन, ग्रीक, अरबी, फारसी आदि भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। यह 'वयुनानि' शब्द यहाँ 'विश्वानि' के साथ प्रयुक्त हुआ है, इसलिए इसका अर्थ यहाँ पर विश्व के वयुन का ही अवबोधन कराता है। बुनती के रहस्य को बुनकर ही जान पाता है। इसलिए इस विश्व के बुनने वाले परमात्मा को ही उसका ज्ञाता, विद्वान् वा

जानने वाला कह रहा है। कुछ लोगों ने इसका अर्थ जीव के कर्मजाल वा कर्मों की बुनती से लिया है। विश्वानि का अर्थ संपूर्ण किया है और यह कहा है कि ऋषि प्रार्थना करते हुए कह रहा है कि हे प्रभो! आप हमारे सम्पूर्ण कर्मों को जानने वाले हैं। उनमें से जो भी कुटिल, पापमय कर्म आप तक पहुँचने में बाधक बन रहे हों, उन्हें आप दूर कर दीजिये।

यह भाव तो बहुत सुन्दर है किन्तु मेरे विचार से इस प्रसंग को देखते हुए अर्थ की संगति नहीं बैठती। उपनिषदों में परमात्मा के लिए ऊर्णनाभि की उपमा दी गई है। **"यथोर्णनाभिः सृजतग्रह्णते च।"** जैसे ऊर्णनाभि मकड़ी अपने से ही जाले को बनाती है, स्वयं उसमें स्थित हो जाती है और पुनः उसे निगल लेती है, समेट लेती है, श्रुति कहती है– **"तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।"** ठीक उसी प्रकार से उस अविनाशी अक्षर से इस विश्व का आविर्भाव होता है। इस मंत्र में दो उपमाऐं और भी दी गई हैं, लेकिन मेरे इस विवेचन से उसका कोई संबंध नहीं। मैं आप लोगों को केवल इतना ही बताना चाहता हूँ कि श्रुति इस विश्व को मकड़ी के जाले की तरह परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ घोषित करती है। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं उस जाले की अभिन्न, निमित्त और उपादान कारण है, उसी प्रकार से इस विशाल विश्व की सृष्टि में वह परम अक्षर परमात्मा ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वह परमात्मा इस जगत् जाल को कैसे बुनता है? श्वेताश्वतर की श्रुति इसकी व्याख्या करते हुए कहती है–

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।
देव एक स्वमावृणोति। स नो दधातुब्रह्माण्ययम्।।

(श्वेता० 6/10)

जिस प्रकार तन्तुओं के द्वारा मकड़ी जाले को बुनती है, उसी प्रकार जो एक अद्वितीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा अपनी पराशक्ति प्रकृति के द्वारा संपूर्ण विश्व को उत्पन्न कर स्वभावतः स्वयं को उसमें आवृत्त कर रखा है, वह परमेश्वर हम लोगों को अपने परब्रह्म स्वरूप में आश्रय दे। इस मंत्र में श्रुति ने प्रधान को इस जगत् जाल का उपादान कारण बताया है। यह प्रधान परमात्मा की अभिन्ना शक्ति है। इसी को ऋग्वेद में स्वधा और अदिति तथा श्वेताश्वतर में स्वाभाविकी पराशक्ति कहा गया है। उपनिषदों में जहाँ ब्रह्म शब्द का प्रयोग है, वहाँ शक्ति और शक्तिमान दोनों ही अभिप्रेत हैं। श्रुति के इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस विश्वरूपी जाल का वही बुनकर है और वही इसके यथार्थ रूप का ज्ञाता भी। **"विश्वानि वयुनानि दिद्वान्"**– इन

शब्दों से ऋषि इसी भाव को अभिव्यक्त कर रहा है। यहाँ पर जीव के कर्मजाल की बात नहीं परमेश्वर के द्वारा विरचित विश्व जाल की बात कही गई है। अब यह बात आप लोगों को स्पष्ट हो गई होगी।

इस मंत्र के तृतीय चरण में ऋषि परमेश्वर से कुटिल पाप को दूर करने की प्रार्थना करता है। **युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः;**"इसका अर्थ है "**अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि।**"हमसे इस कुटिल पाप को दूर कर। यह अस्मत् शब्द अस्मद की पंचमी का बहुवचन है। यह वियुक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इसलिए यहाँ पर ऋषि कुटिल पाप को अपने से दूर करने के लिए प्रभु से प्रार्थना कर रहा है। कुछ लोगों ने इस वाक्य का अर्थ किया है–"हमारे कुटिल पापमय कर्मों को दूर कर।" कुछ ने अर्थ किया है "हमारे इस मार्ग के प्रतिबन्धक जो पाप हों, उन्हें दूर कर।" भाव की अभिव्यक्ति में वे भी अर्थ ठीक हैं किन्तु मेरे विचार से यहाँ पर प्रसंग को देखते हुए और अस्मत् शब्द के प्रयोग से भी यह अर्थ विशेष संगत नहीं लग रहे। हम से कुटिल पाप को दूर कर, यहाँ पर प्रसंगानुसार यही अर्थ संगत है। ऋषि की प्रार्थना है–"**युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः।**"यहाँ पर युयोधि शब्द 'यु' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है दूर करना। ऋषि किसे दूर करने की प्रार्थना कर रहा है? इस जिज्ञासा के उत्तर में आगे"–**अस्मत् जुहुराणम् एनः।**"जुहुराणम शब्द "ह्वृ" कुटिल गतौ धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है कुटिल चाल वाला और एन' शब्द का अर्थ है पाप। यहाँ पर प्रार्थी कुटिल चाल वाले पाप को दूर करने की प्रार्थना कर रहा है। हे परम प्रकाश स्वरूप प्रभो! हमसे कुटिल चाल वाले पाप को दूर कर। कितनी भावभरी प्रार्थना है यह? कुटिलता ही कपट है, कपट प्रभु को प्रिय नहीं। प्रभु श्रीराम मानस में स्वयं कहते हैं–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

निर्मल मन वाला जन ही मुझे प्राप्त करता है; कपट, छल, छिद्र मुझे नहीं भाता। गोस्वामी जी लिखते हैं–

मन क्रम वचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।।

मन-कर्म-वचन से चतुराई को त्यागकर भजन करने पर ही प्रभु कृपा करते हैं। यहाँ चतुराई शब्द कपट के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। कपट वा कुटिलता ही पाप की जननी है। उपनिषदों में इसके लिए दुरित शब्द का प्रयोग है। इस दुरित को दूर करने के लिए वेद में प्रभु से बार-बार प्रार्थना की गई है। गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में कुटिल पाप को ही कुटिल कर्म कहा है। वे प्रभु से प्रार्थना करते

हुए कहते हैं–

कुटिल करम लै जाँहि मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआईं ।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियों कमठ अंडका नाईं।।

"ये मेरे कुटिल कर्म अपनी प्रबलता से जहाँ भी मुझे ले जायें, हे नाथ! वहाँ ही जैसे कछुआ अपने अंडे की संभाल करता है, वैसे ही आप भी पल भर के लिए अपनी कृपा से मुझे वंचित न रखें, मेरी संभाल करते रहें।" ये कुटिल कर्म बड़े ही प्रबल होते हैं। जीव को प्रभु से दूर रखने में यही प्रबल हेतु हैं। गीता में भगवान् ने इन्हें दुष्कृत कहा है और बताया है कि–

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
(गीता 7/15)

"माया द्वारा अपहृत बुद्धि वाले, आसुरी स्वभाव का आश्रय लिये हुए मनुष्यों में अधम, दुष्कृत में लगे हुए मुझ को नहीं भजते, मेरी शरण में नहीं आते।" दुष्कृत से युक्त व्यक्ति ही नराधम कहा गया है। अभिप्राय यह है कि दुष्कृत, दुरित ही मनुष्य को अधोगति में ले जाता है। वह कभी भी उसे ऊर्ध्व गति को प्राप्त होने में सहायक नहीं बनता,' किन्तु ये दुष्कृत अविद्या माया के ही कार्य हैं। अविद्याग्रसित जीव के बूते की बात नहीं कि वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से उन्हें दूर कर सके। इसीलिए ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है–"युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः"।

मेरे विचार से इस मंत्र के दूसरे चरण में आया हुआ देव और विद्वान् शब्द जो प्रभु के परम प्रकाशक तथा सर्वज्ञ रूप को व्यक्त करता है, वह इस तीसरे चरण से भी सम्बन्धित है। जिस कुटिल पाप को अपने से दूर करने की ऋषि प्रार्थना कर रहा है, वह देव सर्वज्ञ होने से उसे भी अच्छी प्रकार जानता है। जीव का कोई ऐसा कृत्य नहीं जो प्रभु से छिपा हुआ हो। जो सम्पूर्ण विश्व का ज्ञाता है, वह भला जीवों के कुटिल कर्म तथा दुरित से अनभिज्ञ कैसे हो सकता है? गोस्वामी जी कहते हैं–

ग्यानहु गिरा के स्वामी बाहर भीतर यामी ।
यहाँ की दुरेगी बात मुँह की औ हिय की।।

जो ज्ञान और वाणी दोनों का अधिपति है, जो बाहर और भीतर दोनों का नियन्ता है, दोनों का ज्ञाता है, भला उससे क्या हृदय और मुख की बात छिपी रह सकती है? प्रभु स्वयं गीता में कहते हैं–

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।
(गीता 7/26)

'जो बीत चुका है, जो है और जो भविष्य में होने वाला है, उन समग्र भूत-समुदाय को मैं जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता। प्रभु कालातीत हैं—भूत, वर्तमान और भविष्य की कल्पना वहाँ नहीं है क्योंकि जो सबसे परे है वही परात्पर प्रभु हैं। श्रुति कहती है—**पुरुषात् न परं किंचित् साकाष्ठा सा परागतिः।** उस पुरुष से परे और कुछ भी नहीं है, वही सब की पराकाष्ठा, वही सब की परमगति है।

यहाँ आप लोग भूत, भविष्य और वर्तमान के रहस्य की भी बात समझ लें। जो कुछ हमारी दृष्टि से गुज़र चुका है वह भूत है, जो गुज़र रहा है वह वर्तमान है और जो गुज़रने वाला है वह भविष्य है। जैसे आप एक स्थान पर खड़े हैं, वहाँ से आप सौ मीटर की दूरी तक देख रहे हैं। कोई दृश्य आपके सामने से होता हुआ निकलता है और 100 मीटर की दूरी से आगे चला जाता है। अब वह आपको दिखाई नहीं दे रहा, आपके लिए अब वह दृश्य बीता हुआ हो गया है, उसे आप अतीत कहते हैं। वह दृश्य जो आपके सामने से जा रहा है और 100 मीटर की सीमा में है, उसे आप देख रहे हैं, वह आपके लिए वर्तमान है। कोई दृश्य आपकी तरफ आ रहा है, अभी वह 100 मीटर की सीमा में नहीं पहुँचा, उससे वह परे है, आप उसे देख नहीं पा रहे, वह आपके लिए अभी भविष्य में है। इससे आप लोग समझ गये होंगे कि भूत, वर्तमान और भविष्य की स्थिति में आपकी स्थिति और सीमित दर्शन शक्ति ही कारण बनी है। यदि कोई व्यक्ति वा आप स्वयं जहाँ हैं उससे 100 मीटर की ऊँचाई पर चढ़ जायें तो उसी समय जो 100 मीटर चला गया हुआ दृश्य है अथवा जो 100 मीटर से पूर्व का आने वाला दृश्य है, वे दोनों ही आपके वर्तमान बन जायेंगे क्योंकि उस अवस्था में आपके दर्शन की सीमा 100 मीटर की अपेक्षा हज़ार मीटर तक की देखने की हो जायेगी। अब विचार कीजिये, जो सृष्टि की इन समस्त सीमाओं से परे विराजित है, जिसके लिए श्रुति कहती है—"**विराजोऽधिपुरुषः।**" उसके लिए भला भूत और भविष्य की कल्पना कैसे की जा सकती है? उसके लिए सर्वदा सब कुछ वर्तमान ही बना रहता है , इसीलिए वह सर्व का ज्ञाता है। इस सृष्टि में कुछ भी ऐसा नहीं है जो उससे छिपा हुआ हो, तो जीव का कुटिल, दुरित कैसे छिपा रह सकता है? एक जन्म में ही नहीं, वह सृष्टि के आदि से लेकर अब तक जो कुछ भी हुआ है, जो कुछ भी किया गया है, वह सभी कुछ उसकी दृष्टि में है, वर्तमानवत है। वह देव है, सर्वसमर्थ है, इसलिए उन्हें वह दूर कर सकता है। इसीलिए ऋषि उससे प्रार्थना कर रहा है—**युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः।**

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने प्रयत्न से अनन्त जन्मों के किये

हुए कुटिल पापों को दूर करने में समर्थ नहीं। उसकी शक्ति, उसका ज्ञान इतना अल्प है कि वह उससे इस कठिन कार्य को पूर्ण नहीं कर सकता। जीव की असमर्थता का उल्लेख करते हुए गोस्वामीजी प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं कि—

जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जनके।
मत सेष सारद श्रुति, गिनत एक-एक छनके।।
जौ चित्त चढ़ै नाम-महिमा निज, गुणगन पावन पनके ।
तो तुलसिंहि तारिहौ बिप्र ज्यों बसन तोरि जमगन के।।

(विनयपत्रिका-96)

हे प्रभो! यदि आप मेरे दोषों पर, अवगुणों पर ध्यान देंगे तो मेरे किये हुए पुण्य रूपी नाखून से ये पाप रूपी बड़े-२ वनों के समूह मुझ से कैसे कटेंगे? मेरे पुण्य बहुत ही अल्प हैं और पाप की तो सीमा ही नहीं है। भला, इस अल्प पुण्य रूपी नाखून से असीम पापों के जंगल को कैसे काट सकूँगा? तन, मन और वचन से नित्य प्रति होने वाले मेरे इन पापों की गणना कौन कर सकता है? एक-एक क्षण के पापों का हिसाब जोड़ने में अनेकों शेष, सरस्वती और वेद भी असमर्थ हो जायेंगे, हार जायेंगे। हे नाथ! मेरे पुण्यों के बल से मेरे पापों का अन्त होना कठिन ही नहीं सर्वथा असम्भव है। हाँ, आपके चित्त में यदि अपने नाम की महिमा और पतितों को पावन बनाने वाले गुण समूह याद आ जायें, तो इस तुलसी को यमदूतों के दाँत तोड़ कर इस संसार सागर से वैसे ही आप तार देंगे, जैसे पतित ब्राह्मण अजामिल को तार दिया था। अभिप्राय यह कि मनुष्य के पुण्यमय साधन नाखून के समान हैं और उसके जन्म-जन्मान्तरों के पाप महान् जंगल के समान। जैसे नाखून से जंगल नहीं काटा जाता, वैसे मनुष्य अपने सुकृत से, पुरुषार्थ से कुटिल पापों को दूर नहीं कर सकता।

जैसा कि मैंने अभी बताया, ये कुटिल कर्म इस वर्तमान के ही नहीं हैं, जब से इस व्यष्टि अहं का जन्म हुआ है तभी से इन कुटिल कर्मों का प्रवाह भी प्रारम्भ हुआ है। व्यष्टि अहं कब पैदा हुआ? इसका कोई निश्चित् काल नहीं बताया जा सकता। आचार्य शंकर ने इसे अनादि सांत कहा है। सांत इसलिये कि इसका अंत हो सकता है, किन्तु अनादि इसलिये कहा है कि इसके आदि का पता नहीं है। विनयपत्रिका में गोस्वामी जी ने भी इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा है—

जीव जबते हरि से बिलगान्यो। तबते देह गेह निज जान्यो ।
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमते दारुन दुखपायो।

'हे जीव! जब से तू परम चैतन्यघन हरि से अलग हुआ, तब से ही इस देह को

अपना गेह मान लिया है। माया के वशीभूत हो तू अपने चिदानंदमय स्वरूप को भूल गया और उसी भ्रम से तुम्हें ये दारुण दुःख भोगने पड़े हैं।" जीव कब से उस परमात्मा से विलग हुआ, इस विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। मेरे विचार से ये अष्टधा प्रकृति के विकासक्रम में जब व्यष्टि चित्तों का आविर्भाव हुआ तभी सें उनमें उस सच्चिदानंद की ज्योति अथवा उसका चिदांश किरणरूप में चित्तों में अभिव्यक्त हुआ है। चित्त में अभिव्यक्त हुए चिदांश की ही जीव संज्ञा है। उस प्रकट हुए चिदांश का चित्त के साथ तादात्म्य ही उसके व्यष्टि भाव की अभिव्यक्ति में कारण बना है और इसी व्यष्टिभाव से उद्भूत अहं से आगे मम भाव का जन्म हुआ है। यह व्यष्टि भावापन्न अहं और उससे उत्पन्न हुआ मम ही शुभाशुभ कर्मों का कारण है। वहीं से अभाव की अनुभूति, उसकी पूर्ति के लिए इच्छा और इच्छापूर्ति के लिए कर्मों में प्रवृत्ति का चक्र प्रारम्भ हुआ है। तब से लेकर आज तक अनवरत गति से यह चक्र चलता आ रहा है।

दुःख के हेतु को ही पाप कहते हैं और विपरीत धारणा वा गति को ही कुटिलता। कुटिलता ही पाप में हेतु होती है, जिससे जीवन में दुःखों का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृति चित्त को ही अपना स्वरूप और चित्त की वृत्तियों को ही अपनी वृत्ति स्वीकार करना, यह चेतन की विपरीत गति है, कुटिल गति है। यहीं से पापमय प्रवृत्तियों का जन्म होता है। प्रत्यक्ष दीखने वाले जगत् जाल में विमुग्ध हुआ जीव इस कुटिल गति तथा पाप के कारण को नहीं समझ पाता, नहीं जान पाता। इसीलिए वह इस जन्म-मृत्यु के प्रवाह में डूबता- उतराता, चीखता-चिल्लाता प्रवाहित होता रहता है। सत्संग तथा श्री सद्गुरु कृपाप्रसाद से सद्शास्त्रों के श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हो जाए और उनके बताए हुए सत् और असत् के स्वरूप का मनन करते हुए असत् का त्याग और सत् में अनुरक्ति हो जाए तो वहभाग्यशाली सत्यधर्मा प्रभु के सच्चिदानंद स्वरूपको देखने और जानने का अधिकारी बन जाता है। ज्ञान, ध्यान और प्रार्थना द्वारा प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त कर जब उन का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह कुटिल पाप के कारण रूप व्यष्टिचित्त में और अधिक काल तक रहना नहीं चाहता। फिर वह उस कारण शरीर चित्त से विमुक्त हो पूर्णरूपेण सच्चिदानंद सिंधु में विलीन होने के लिए आकुल हो उठता है और अपने कारणरूप परमाश्रय प्रभु को पुकारते हुए वेद के इन शब्दों में प्रार्थना करता है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।।

यह बात याद रखनी है कि जीव अपने कारण रूप परमेश्वर से विलग नहीं, विमुख है। प्रभु के सन्मुख होते ही उसके समस्त दुरित पीछे हो जाते हैं, छूट जाते हैं। प्रभु स्वयं कहते हैं-

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।।

जिस समय जीव मेरे सन्मुख होता है, उसके करोड़ों जन्मों के अघ नष्ट हो जाते हैं। नष्ट हो जाने का अभिप्राय है कारण में लय हो जाना। पाप का कारण अविद्या है। प्रभु के सन्मुख होते ही अविद्या लुप्त हो जाती है और साथ ही उसके कार्यरूप पाप समूह भी लुप्त हो जाते हैं। विशुद्ध चेतन अविद्या के संसर्ग से ही पाप-पुण्यादि कर्मों से युक्त हो जाता है। गोस्वामी जी कहते हैं-

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी।।

जैसे बरसात का विशुद्ध जल बादल से छूट कर भूमि पर पड़ते ही गंदला हो जाता है, उसी प्रकार चिंदाश जीव चित्त से युक्त होते ही मलिन हो जाता है। एक पद में संकेत किया है-

भयऊ अँगार बिलग दवते जल परेऊ कालिमा आई।
तासु योग बिनु कोटि कलप सत धोवत सो नहीं जाई।।
त्यों हरि ते होइ विलग सुनहु सठ सहत महादुख भारी।
तासु योग बिनु भए बावरे कौन सके भ्रम टारी।।

प्रज्वलित अग्नि से एक चिन्गारी निकली, बाहर पड़ गई, पानी का संयोग पाते ही वह चमकती चिन्गारी कोयला बन गई। अब उसकी कालिमा को दूर करने के लिए कितने प्रकार के साधन क्यों न अपनाए जाएँ किन्तु वह दूर नहीं हो सकती, उसे दूर करने का केवल एक ही उपाय है, वह चिन्गारी जिस अग्नि ज्वाला से बिलग हुई है, उसी में उसे डाल देना। इसी रूप से यह जीव अविद्यावश उस परमात्मा से स्वयं को अलग स्वीकार कर ही नाना प्रकार के दुःखों, सन्तापों और कालिमा रूप पापों से युक्त हो गया है, इससे मुक्त होने का केवल एक ही उपाय है, सर्वभाव से प्रभु में समर्पित हो जाना, उन्हीं में विलीन हो जाना। ऋषि उसीके लिए प्रार्थना कर रहा है।

यहां पर एक प्रशन उत्पन्न होता है कि यदि पूर्ण समर्पण ही इस जन्म-मृत्यु प्रवाह से विमुक्त होने का एकमात्र उपाय है, तो शास्त्रों में इतने प्रकार के साधन क्यों बताए गए हैं? इसका सरल सा उत्तर है कि व्यक्ति का अहं इतना

प्रबल और दृढ़ होता है कि वह एकाएक स्वयं को विलीन करने के लिए राजी नहीं होता। समर्पण में अहं को विलीन करना होता है। प्रभु में अहं का लय ही तो पूर्ण समर्पण है, इसलिए मुमुक्षु को पहले विभिन्न प्रकार के साधनों में लगाया जाता है। करते-करते जब वह अपने कर्मों की नि:सारता अनुभव करने लगता है, तो धीरे-धीरे करने की प्रवृत्ति का स्वत: लोप होने लगता है। यदि उसे पहले ही यह कहा जाए कि तुम्हारे करने से कुछ नहीं बनने का, कर्तृत्वाभिमान का त्याग ही आध्यात्मिक साधन का सही पथ है, तो यह बात उसके समझ में नहीं आएगी क्योंकि अभी तक इस संसार में बिना किए उसे कुछ भी नहीं मिला है। वह सोचता है कि यदि बिना किए संसार में ही कुछ नहीं मिलता तो बिना कुछ किए परमानंद की उपलब्धि कैसे? इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

(गीता 6/3)

योग को प्राप्त होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिए कर्म करना ही हेतु कहा है। करते हुए थक जाने पर ही उसे यह समझ में आता है कि भगवान् को पाना क्रिया साध्य नहीं, कृपा साध्य है, फिर वह उनकी कृपा के लिए स्वयं को समर्पित करने के लिए तैयार होता है।

आप लोग जानते हैं कि समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं, जो अपने अहं को सुरक्षित रखने के लिए सब प्रकार से, सब कुछ करने के लिए तैयार रहते हैं। अहं को गलाना तो दूर की बात रही, वे किसी के सामने उसे झुकाना भी स्वीकार नहीं करते। हमारे यहाँ वैदिक साहित्य में बताया गया है कि जो मुमुक्षु हों उन्हें सर्वप्रथम प्रणत भाव से सद्गुरु की शरण लेनी चाहिए। सद्गुरु की शरण लेने का अभिप्राय होता है, स्वयं के अहं को गुरु के चरणों में समर्पित करना। यहीं से अध्यात्म की साधना प्रारम्भ होती है। किन्तु जो अहं के पुजारी हैं, उनसे यदि आप इस विषय में बात करें तो वे तुरन्त उत्तर देंगे कि मैं तो भगवान् को ही अपना गुरु मानता हूँ, इसलिए किसी गुरु की शरणागति की मुझे आवश्यकता नहीं। वे भगवान् को कितनी मात्रा में गुरु स्वीकार करते हैं, यह तो उनका भगवान् ही भली-प्रकार से जानता है, यह अहं की ही विडम्बना है।

एक सज्जन ने कहा कि मैंने अठारहों अध्याय गीता का अध्ययन कर लिया, किन्तु किसी को गुरु स्वीकार नहीं किया। पूछा गया, भई-बिना गुरु स्वीकार करे, बिना गुरु के सान्निध्य में बैठे, आपने सारी गीता कैसे पढ़ ली? उन्होंने कहा कि मैं एक अच्छे पंडित की पोशाक पहन कर पंडित बन गया और एक विद्वान् के पास गया, उसने मुझे देखकर मेरा स्वागत किया। आने का कारण

पूछा तो मैंने उससे प्रश्न किया, क्या तुम गीता के विषय में कुछ जानते हो? मुझे एक ऐसे सहायक विद्वान् की जरूरत है जो गीता पढ़ना और लिखना जानता हो। उस विद्वान् ने सोचा कि शायद यह महापंडित किसी बड़े यज्ञ के अनुष्ठान के लिए किसी गीता के जानकार पंडित की खोज कर रहे हैं, यदि मेरी योग्यता को देख मुझे चयन कर लिए तो सौभाग्य से कुछ दक्षिणा प्राप्त हो जाएगी। ऐसा सोचकर, उसने विनम्रता से उत्तर दिया-भगवन् ! मैं गीता का अभ्यासी हूँ, पढ़ता भी हूँ, लिख भी सकता हूँ। आज्ञा दीजिए? अच्छा, गीता के प्रथम अध्याय का प्रथम श्लोक लिखकर शुद्ध उच्चारण करके मुझे सुनाओ। उस विद्वान् ने उनकी आज्ञा का पालन कर वैसा ही किया। अच्छा, फिर मिलेंगे, ऐसा कहते हुए वहाँ से चल दिए। उन महाशय ने बताया कि सात सौ पंडितों के पास जाकर, उन्हें डाँटकर उनसे गीता लिखवाकर, बुलवाकर, पूरी गीता पढ़ ली किन्तु गुरु किसी को नहीं बनाया। भला, उन बुद्धि के धनी को कौन समझा सकता है कि एक गुरु की शरण लेने के बदले, उन्हें सात सो गुरुओं के पास धक्के खाने पड़े और फिर भी यथार्थ से वंचित ही रह गए।

अध्यात्मपथ के पथिक के लिए अहं का विसर्जन पहला शर्त है और उसके लिए सर्वप्रथम किसी सद्गुरु के चरणों में उस अहं को समर्पित करने की व्यवस्था दी गई है। गुरुकृपा द्वारा ही साधक शास्त्रकृपा का भाजन बनता है। गोस्वामी जी कहते हैं–

सतं कहहिं अस नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव।
होहिं न बिमल विवेक उर गुर सन किए दुराव।।

गुरु से किसी भी प्रकार का यदि दुराव किया जाए तो विमल विवेक की उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सद्गुरु परमात्मा की ही प्रतिमूर्ति होता है। श्रुति का कथन है–

यस्य देवेपराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।
(श्वेता० 6/23)

जिसकी उस परम देव में पराभक्ति है और जिस प्रकार से परमेश्वर में है वैसे ही गुरु में है, उसी के हृदय में यह उपनिषद् वर्णित ज्ञान यथार्थ रूप से प्रकाशित होता है।

इससे आप लोग समझ गए होंगे कि वैदिक साधना पद्धति में ब्रह्मयोग की साधना के लिए सद्गुरु की शरणागति कितनी आवश्यक है? सद्गुरु साधक के अहं का निरसन करने के लिए उसे कठिनतम साधनाओं में प्रवृत्त करता है।

धीरे धीरे उससे साधक का कर्तृत्वाभिमान क्षीण होने लगता है और साथ ही सद्गुरु के सत्संग से सत्य और असत्य के यथार्थ स्वरूप का बोध भी होने लगता है, फिर ध्यान के अभ्यास से चित्त की एकाग्रता बढ़ने लगती है और बाह्यमुखी वृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं। इस प्रकार मल और विक्षेप का निरसन होने से उसे सत्य स्वरूप का आभास प्राप्त होता है। ये साधना की निर्विचार अवस्था है। इसकी दृढ़ भूमि में ही आत्मप्रसाद से ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा प्राप्त होती है, जिसके द्वारा प्रकृति के सम्पूर्ण कार्य कारण स्वरूप का यथार्थ बोध प्राप्त हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है। प्रकृति बोध के साथ ही आत्मस्वरूप में स्थिति इसका सहज परिणाम है। किन्तु इस अवस्था में ज्ञाता के रूप में सीमित अहं बना रहता है, इसलिए इसे सबीज सग. ध कहते हैं। जब बुद्धि का आश्रय छोड़ चेतन अपने कारण की ओर उन्मुख होता है और उसके साथ स्वयं की अभिन्नता का साक्षात्कार करता है तो यह उसकी निर्बीज समाधि की अवस्था कही जाती है किन्तु प्रारब्धरूप संस्कार के शेष रहने से वह पुनः सीमित चित्त को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में उसकी बोधात्मिका शक्ति प्रतिभा कहलाती है, जिसका अर्थ होता है अपने प्रकाशक को विषय करने वाली बुद्धि।

इस अवस्था को प्राप्त हुआ प्रत्यक्षद्रष्टा योगी अब अपने कारणरूप सच्चिदानंद में पूर्ण विलय के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है और कहता है--हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! हमें सुन्दर पथ से अपने तक ले चलें। हे देव! आप इस प्राकृत प्रपंच को, विशाल-विश्व के ताने-बाने को भलीभाँति जानते हैं। हे करुणासागर! कुटिल पाप को हम से दूर कर दें। अभिप्राय यह कि इस विपरीत धारणा वा सीमित चित्त के संयोग को आप हम से दूर कर दें। इसके लिए हम असमर्थ और अबोध आपकी सन्तानें कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं। **"भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम"** केवल तुम्हारे लिए हम बहुत बार नमस्कार के वचन कहते हैं, क्योंकि इस कृपा के बदले में देने के लिए हमारे पास और कुछ भी नहीं है इसलिए हम केवल बार-२ नमस्कार के वचन ही कहते हैं। इस मंत्र का यह अन्तिम चरण कितना भावपूर्ण है! यहां पर ऋषि अपनी पूर्ण असमर्थता को अनुभव करते हुए कितनी विनीत भावना से स्वयं को समर्पित करते हुए कह रहा है--**"ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम।"** 'भूयिष्ठां' शब्द का अर्थ होता है बार-२, बहुत बार, ढेर सारे। 'नम उक्तिं'--नमस्कार के शब्द, 'विधेय' 'हम' कहते हैं। शास्त्रों में 'नमः' शब्द जीव का वाचक कहा गया है। 'नमः उक्तिं' का अभिप्राय है, स्वयं के समर्पण का वचन। भला, जीव इसके सिवा और कर ही क्या सकता है?

साधक सृष्टि और उसके द्वारा मिले हुए सम्पूर्ण साधन-सामग्रियां की यथार्थतता को भली-भाँति जान लिया है। देख लिया है कि ये सब कुछ उस सर्वसमर्थ देव की अभिव्यक्ति हैं। वही सर्वरूप में अभिव्यक्त है, इसलिए उसे समर्पित करने के लिए उसके पास उसका कुछ भी नहीं है। आप लोग ज़रा कल्पना कीजिये, उस ऋषि की यथार्थ अवस्था की! इस अवस्था में वह पूर्णरूपेण निरावृत्त हो चुका है। न उसके पास कुछ है और न उसका कुछ है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी साधन प्रभु द्वारा ही दिये गये हैं, उन्हीं के हैं, इनमें से कुछ भी अपना ऐसा नहीं है, जो उनके चरणों में समर्पित कर सकें, केवल अहं के सिवा। उसी अहं को वह बार-२ नमः शब्द के साथ प्रभु के चरणों में समर्पित कर रहा है-"ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम।"

यहाँ मैं आप लोगों को एक और रहस्य की बात समझा दूँ। हमारे यहाँ वैष्णव सिद्धांत में परमात्मा की प्राप्ति के लिए दो विधायें स्वीकार की गई हैं, जिन्हें दो प्रकार के न्याय के द्वारा वर्णित किया गया है। एक को मर्कट न्याय कहते हैं और दूसरे को मार्जार न्याय। मर्कट न्याय के सिद्धान्तानुसार, जैसे बन्दर का बच्चा अपने हाथों से बन्दरी को पकड़ कर उसके साथ चिपटा रहता है। जब कभी बन्दरी दौड़ने लगती है वा छलाँग लगाने लगती है तो उस स्थिति में वह अपने एक हाथ से उस बच्चे की संभाल भी करती है, किन्तु सामान्य दशा में बन्दरी का बच्चा स्वयं के प्रयत्न से उसको पकड़े रखता है। इस न्याय के समर्थक विद्वानों का कथन है कि बन्दरी के बच्चे के समान ही जीव को चाहिए कि वह अपने प्राप्त साधनों से सामर्थ्यानुसार प्रभु के आश्रित हो उनकी उपासना, आराधना, भजन, चिन्तन द्वारा सदैव उनसे एक होने का प्रयत्न करता रहे और यह विश्वास रखे कि आवश्यकता पड़ने पर प्रभु उसकी अवश्य ही संभाल करेंगे। यही प्रभु को प्राप्त करने का उत्तम उपाय है।

मार्जार न्याय का अभिप्राय होता है कि जिस प्रकार बिल्ली का बच्चा किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं करता, वह पूर्णरूप से माँ के ही आश्रित होता है। बिल्ली स्वयं अपनी रुचि अनुसार बच्चे को उठाकर इधर-उधर ले जाया करती है। बिल्ली के जो तीखे दाँत चूहों की आंत तक को निकाल कर चबा जाते हैं, उन्हीं दांतों से वह अपने नवजात नन्हें-नन्हें बच्चों को बड़ी सजगता और कोमलता से पकड़ कर उठाती है और लेकर दौड़ती रहती है किन्तु बच्चे को ज़रा सी खरोंच तक नहीं लगती। बिल्ली के बच्चे पूर्णतः अपनी माँ के प्रति समर्पित होते हैं और वे सर्वप्रयत्न रहित हो अनन्यभाव से माँ के ही आश्रित होते हैं, इसीलिए वह स्वयं उनकी पूर्णतया संभाल करती है। इस न्याय को

मानने वाले विद्वानों का कथन है कि जीव को उस मार्जार के बच्चे के समान स्वयं को पूर्णरूपेण प्रभु को समर्पित कर अनन्य भाव से उनके आश्रित हो जाना चाहिए। किसी भी प्रकार के प्रयत्न का आश्रय लेना अनन्यता में दोष है। यह अनन्य आश्रय ही प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है।

मेरे विचार से इन दोनों प्रक्रियाओं को अलग-अलग करके देखना और इन पर विवाद करना उचित नहीं। इन पर शास्त्रार्थ करना पांडित्य के प्रर्दशन में तथा वाणी के वैभव की वृद्धि में भले ही महत्त्व रखता हो, किंतु सत्यानुभूति में या परमपद की प्राप्ति में इसका कोई स्थान नहीं। यह साधक की भिन्न-२ अवस्थायें हैं, जो गुरु निर्दिष्ट मार्ग से साधना में प्रवृत्त होने पर ही अनुभव में आती हैं। ईशोपनिषद् के मंत्रों का गंभीरता से चिंतन और मनन करने पर यह तथ्य स्वयमेव प्रकाश में आ जाता है। अनुभूति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ ऋषि भी आनंदसिंधु में सर्वभाव से विलीन होने के लिए कुछ न कर पाने की अवस्था में इतना तो कर ही रहा है—"**भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।**" प्रार्थना भी तो स्वयं में एक महानतम साधन है किंतु विचार करने पर यह तो सत्य समझ में आ जाता है किं प्रार्थना और उसके जो साधन हैं, वे भी तो प्रभु की ही देन हैं। उन साधनों के रूप में प्रभु के सिवा और कौन है? मन, वाणी और प्राण, इन तीनों का समन्वित परिणाम ही प्रार्थना के रूप में अभिव्यक्त होता है। इन तीनों में से यदि एक का भी अभाव हो जाये तो प्रार्थना नहीं हो सकती। छान्दोग्य उपनिषद् में यह बांत स्पष्ट रूप से बताई गई है कि उस परमसत्य परमात्मा से ही तेज, अप और अन्न का आविर्भाव होता है,जिससे क्रमशः वाक्, प्राण और मन का जन्म होता है। श्रुति कहती है—"**अन्नमयं हि सोम्य मनः। आपोमय प्राणः तेजोमयी वागिति।**" और ये तीनों जिससे आविर्भूत हुए हैं, उसके विषय में श्रुति करती है—"**सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत एकमेवाद्वितीयम्।**" हे सोम्य ! इस सृष्टि के पूर्व केवल एक सत् ही था और वह एक ही अद्वितीय था।

तदैक्षत। बहुस्यां प्रजायेयेति। तत् तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत। बहुस्याँ प्रजायेयेति। तद् अपोऽसृजत। ता आप एक्षन्त। बहूव्यः स्याम प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त।

"उसने संकल्प किया मैं बहुत होऊँ, विस्तार को प्राप्त होंऊँ, इस संकल्प से तेज को उत्पन्न किया। तेज ने विस्तार को प्राप्त होने का संकल्प किया, उसने अपस तत्त्व का सृजन किया, फिर अपस तत्त्व ने विस्तार को प्राप्त होने का

संकल्प किया। उसने अन्न तत्त्व का सृजन किया। इन्हीं तीनों तत्त्वों से इस अनन्त सृष्टि का विस्तार हुआ है।" मनुष्य में ये तीनों ही तत्त्व वाक्, प्राण और मन के रूप में अवस्थित हैं। क्या कोई भी प्रार्थना इन तीनों के अभाव में की जा सकती है? प्रार्थना में वाणी का प्रयोग होता है, चाहे वह मूक प्रार्थना ही क्यों न हो। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा, ये वाणी के चार रूप हैं। चेतन की जिस उच्चतम अवस्था में पहुँच कर ऋषि प्रार्थना कर रहा है, उसमें परावाणी का ही प्रयोग है। मन यहाँ पर अपने कारण व्यष्टि अहं वा जीवरूप में अवस्थित है। वही प्रार्थी है और प्राण ही इन दोनों की अवस्थिति का धारक है। इन तीनों में यदि एक का भी अभाव हो जाये तो प्रार्थना नहीं हो सकेगी और ये तीनों ही उस परमेश्वर के विवर्त्त हैं। इसलिए यहाँ प्रार्थी, प्रार्थना और प्रार्थ्य, इन तीनों रूपों में वह एक परमेश्वर ही अवस्थित है, विराजित है, कितनी अद्भूत क्रीड़ा है उसकी! इसका अनुभव करते ही जीवन आनंद से भर जाता है। जगत्, जीव, जगदीश, इन त्रिविध रूपों में उसी की नित्य क्रीड़ा हो रही है, इसीलिए तो उसका अवबोधक सर्वश्रेष्ठ नाम राम कहा जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में अत्यंत पावन वेद पुराणादि का सार तत्त्व प्रभु का श्री राम नाम है। राम शब्द का धातुज अर्थ है क्रीड़ा। "रमु क्रीडायाम्", वह स्वयं में, स्वयं की तृप्ति के लिए स्वयं से ही क्रीड़ा कर रहा है। इसीलिए तो उसका एक नाम आत्माराम है। जो स्वयं की आत्मा में ही रमण करता हो, उसे आत्माराम कहते हैं। यह संपूर्ण चराचर सृष्टि उसकी स्वयं की ही अभिव्यक्ति है। विद्वानों का कथन है कि सृष्टि शब्द का अर्थ निर्मिति वा कृति नहीं होता। इनमें अंतर यह है कि जो बाह्य साधनों के संयोग से सम्पन्न की जाये, उसे कृति वा निर्मिति कहते हैं और जो स्वयं के द्वारा ही उत्पन्न किया जाये, उसे सृजन वा सृष्टि कहते हैं। जैसे कुलाल मिट्टी से घड़े का निर्माण करता है, वह उसकी कृति वा निर्मिति है किन्तु मकड़ी स्वयं से जाले को उत्पन्न करती है, वह उसकी सृष्टि है। इसलिए उपनिषद् में परमात्मा को कर्त्ता नहीं स्रष्टा ही कहा जाता है और उसके लिए जैसा कि मैंने पहले भी आप लोगों को बताया है, ऊर्णनाभि अर्थात् मकड़ी का ही उदाहरण दिया जाता है। ऋग्वेद की घोषणा है—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते।" वह सर्वद्रष्टा परमेश्वर ही अपनी पराशक्ति से, अपनी अचिन्त्य शक्ति से अनन्त रूपों को धारण करता है। मैंने एक दिन और आप लोगों को बताया था कि परमात्मा की वह शक्ति जो अमापी को माप रूप में अनुभव कराती है, उसे ही माया कहते हैं। प्रभु ने स्वयं कहा है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

(गीता 4/6)

"अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को माध्यम बना आत्ममाया से ही मैं अभिव्यक्त होता हूँ।" इससे आप लोग समझ गये होंगे कि इस जड़ चेतनात्मक व्यक्ताव्यक्त विश्व के रूप में स्वयमेव वह राम ही रमण कर रहा है। स्वयं ही प्रार्थी बना हुआ है, स्वयं ही प्रार्थना का साधन और वह स्वयं से स्वयं की ही प्रार्थना कर रहा है, कितनी अद्‍भुत लीला है उसकी! तभी तो गोस्वामी जी कहते हैं—"**नाचई निज प्रतिबिंब निहारी।**" उनका यह पतित पावन नाम 'राम' तभी तो सार्थक होता है।

यह पहले भी समझा आया हूँ कि यह जीवन प्रभु की छाया मात्र है। श्रुति कहती है—"**यस्यछायामृतम्**", 'यह अमृत जिसकी छाया है।' अमृत, अक्षर आदि शब्द जीव के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। छाया अपने कारणरूप आतप में लीन होने के लिए आतुर है, प्रतिबिंब अपने कारण रूप बिम्ब में लय होना चाहता है, इसी के लिए यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना के सिवा और वह कुछ कर भी तो नहीं सकता। अब तक जो करने का अभिमान था, वह केवल दंभ था, मिथ्या भ्रम था। यह सबकुछ अब भली-भाँति ज्ञात हो गया है, देख लिया है, जान लिया है। जिन साधनों को अब तक अपना मानता रहा है, जिन्हें अपने अधीन समझता रहा है, वे सब उसके नहीं, उस प्रभु के ही दिये हुए थे, उन सर्वरूपों में प्रभु ही थे, अब इसे वह जान लिया है, तभी तो कह रहा है—"**विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्**" अब तक विमुखता व दूरी में केवल वक्रवृति ही कारण रही है, उसी से वह विमुख हो अपने मूल की तरफ देख ही नहीं पाया। उससे भिन्न अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व मानकर भटकता और व्यथित होता रहा। अब उसे उससे अपने नित्य संबंध का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया है, पूर्णरूप से देख लिया, जान लिया है कि वह उसी से, उसी का है। इसलिए वह उसी में विलीन होने के लिए आतुर हो उठा है। जो कुटिल भाव अब तक उसे दुःखित करते रहे हैं, उनको सदा के लिए दूर करने की, उस अपने जीवनाधार से प्रार्थना कर रहा है—"**अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि**"—प्रभो! हमसे इस कुटिल पाप को दूर करें और इस कृपा के लिए ही वह बार-२ प्रभु के पतितपावन चरणार्विन्दों में नमस्कार के शब्द कह रहा है। "**भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।**" और जिन साधनों से नमन कर रहा है, वे साधन भी प्रभु द्वारा ही उपलब्ध हैं, इसका भी उसे पूर्ण भान है। इसीलिए वह कह रहा है कि प्रभो! मैं केवल बार-२ नमस्कार के शब्द ही कहता हूँ। इस वाक्य में एक यह भी रहस्य छिपा हुआ है कि तुम्हें मैं नमस्कार नहीं कर रहा बल्कि तुम्हारे लिए बार-२ नमस्कार के शब्द कह रहा हूँ "**नम उक्तिं विधेम।**" यहाँ पूर्णरूप से कर्तृत्वाभिमान समाप्त हो चुका है। गोस्वामी जी मानस में कहते हैं—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी।।
तेउ सुनि सरन सामुहें आये। सकृत प्रनाम किये अपनाये।।

"कितना भी महापतित क्यों न हो, यदि वह एक बार भी प्रभु को नमस्कार कर ले, तो प्रभु उसे सदा के लिए अपना बना लेते हैं।" यहाँ पर गोस्वामी जी ने नौ प्रकार के दोषों का उल्लेख किया है। यह नौ अंक अंकशास्त्र का अंतिम अंक है। सदैव नौ ही बना रहता है, चाहे इसे कितने से ही गुणित क्यों न किया जाये। नौ प्रकार के दोषों का उल्लेख कर गोस्वामी जी यह संकेत करते हैं कि व्यक्ति चाहे अक्षय पापों का भंडार ही क्यों न हो, किन्तु वह प्रभु की महिमा को सुनकर, उनके सम्मुख आ एक बार प्रणाम कर ले,हृदय से नमित हो जाये तो वे उसके समस्त दुष्कृतों को दूर कर उसे अपना लेते हैं। एक बार नमस्कार करने का इतना बड़ा महत्व है। वाल्मीकि रामायण में प्रभु स्वयं कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय त्वास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूते भ्योददाम्यतद् व्रतं मम्।
(वा०रा० 6/18/35)

"जो एक बार भी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ', ऐसा कहकर मुझसे याचना करता है, उसे मैं समस्त भूतों से अभय कर देता हूँ, यह मेरा अटल व्रत है।" एक बार की याचना, एक बार का नमस्कार, जीव को अभयपद प्रदान कर देता है, तो बार-२ प्रणाम करने की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है! प्रभु के सम्मुख होते ही कोटि-२ जन्मों के अघ उसी प्रकार से नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार से सूर्य के उदय होते ही घोर अन्धकार। प्रभु को नमन करते ही जीव अपने आत्मस्वरूप प्रभु में ही विलीन हो जाता है। उसकी यात्रा पूर्ण हो जाती है। यही जीव के जीवन का अंतिम प्राप्तव्य है। ईशोपनिषद् का ऋषि—"भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।" इन शब्दों के साथ ही सदा के लिए मौन हो जाता है।

इस क्रम को एक बार पुनः आप लोग समझ लें, प्रार्थना के साथ ही प्रभु के अनुग्रह से प्रार्थी के कुटिल पाप दूर हो जाते हैं। वह विशुद्ध, चिन्मय स्वरूप से उस अपने कारणस्वरूप सच्चिदानंद सिंधु में "भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम" इस वाक्य के साथ ही विलीन हो जाता है। ब्रह्मविद्या का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। श्रुति भी मौन हो जाती है। उसके आगे पुनः शान्ति मंत्र के द्वारा उस परम सत्य का उद्घोष होता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिश्यते।।

"वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, उस पूर्ण से ही यह पूर्ण आविर्भूत हुआ है। पूर्ण से, पूर्ण को निकाल देने पर भी पूर्ण ही अवशेष रहता है।" इस शान्ति पाठ के साथ ही एक मास से चला आता हुआ यह ईशोपनिषद् प्रवचनरूप ज्ञानयज्ञ यहीं सम्पूर्ण होता है।

विश्वास है आप सभी इसके परम रहस्यमय सिद्धांतों को आत्मसात् कर अपने जीवन में उसे उतारने का प्रयत्न करेंगे। यह उपनिषद् शाश्वत सनातन धर्म रूपी विशाल वृक्ष की बीज रूपा है। इसको अंतःकरण में धारण कर इसके मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन से आप लोग भी उस परमानंद के भाजन बनेंगे, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। इस उपनिषद् में व्यक्तिगत कल्याण के साथ ही मानव समाज के उत्थान की भी प्रेरणा दी गई है। इसके प्रकाश में व्यक्ति और समाज, दोनों ही उन्नति को प्राप्त करते हुए परम कल्याण के अधिकारी होंगे, यही श्रुति का परम आश्रय है, यही वेदान्त का परम उपदेश है। आप लोग भी ऋषि के शब्दों में प्रार्थना करते हुए प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त करें। इन्हीं शुभकामनाओं के साथ मैं अपने इस ज्ञानसत्र को यहीं समापन करता हूँ।

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।।
ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भागभवेत।।
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः ॐ शान्ति : ॐ शान्तिः

ॐ

।। श्रीपरमात्मने नमः।।

ईशावास्योपनिषद्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

सच्चिदानंदघन परब्रह्म सब प्रकार से परिपूर्ण है। यह जगत् भी पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण से ही यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है। पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है।

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।१।।

अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वर से परिव्याप्त है। ईश्वर द्वारा दिए हुए का त्याग पूर्वक भोग करो। गृध मत बनो; विचार करो, यह धन किसका है?

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।२।।

इस जगत् में शास्त्र निर्धारित कर्मों को करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार किये जाने वाले कर्म तुझ मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे। इससे भिन्न कोई ऐसा मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो सके।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।

असुरों की प्रसिद्ध विभिन्न प्रकार की योनियां तथा जो दुःख रूप लोक हैं, वे सभी अन्धकार से, अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्महत्यारे हैं, वे मरकर उन्हीं अन्धकारमय लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।

वह परमेश्वर अचल, एक और मन से अधिक तीव्र गतियुक्त है। सबके आदि ज्ञानस्वरूप परमेश्वर को देवता भी नहीं पा सके। वे दूसरे दौड़ने वालों को, स्थिर रहते हुए भी अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके होने पर ही मातरिश्वा जीवनी शक्ति का सम्पादन करने में समर्थ होता है।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।५।।

वह चलता है, वह नहीं चलता। वह दूर से भी दूर है, वह अत्यन्त समीप है, वह इस सम्पूर्ण जगत् के भीतर परिपूर्ण है और बाहर भी।

यस्तु सर्वाणि भूतान्त्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेशु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।६।।

परन्तु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में ही निरन्तर देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को देखता है, उसके पश्चात् वह कभी किसी से घृणा नहीं करता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।७।।

जिस अवस्था में पूर्णप्रज्ञ, तत्त्वज्ञ विज्ञानी महापुरुष के लिए सम्पूर्ण प्राणी जगत् आत्मा ही हो गया है, उस अवस्था में एकत्व का निरन्तर साक्षात् करने वाले तत्त्वद्रष्टा के लिए कौन सा मोह और कौन सा शोक?

स पयगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो
ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।८।।

वह सर्वव्यापक है, वह देहरहित, स्नायुरहित, व्रणरहित, शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी, द्रष्टा, ज्ञाता, मन का स्वामी, सर्वविजयी और स्वयंभू है। उसने योग्य रीति से अनादि काल से अर्थों की व्यवस्था की है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः।।९।।

जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में रत हैं, वे तो उनसे भी अधिक अन्धकार में जाते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।।१०।।

वह विद्या से अन्य कहा गया है, अविद्या से भी वह अन्य कहा गया है; ऐसा धीर पुरुषों से मैंने सुना है, जिन्होंने हमें उस परमतत्त्व का भलीभांति अवबोधन कराया है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।११।।

विद्या और अविद्या, इन दोनों के साथ जो उस परमात्म तत्त्व को जानता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा अमृतत्त्व का उपभोग करता है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव तमो य उ सम्भूत्याँ रताः।।१२।।

जो मनुष्य असम्भूति की उपासना करते हैं, वे अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति में रत हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश पाते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१३।।

इसे सम्भव से अन्य ही कहा है, असम्भव से अन्य कहा है, इस प्रकार धीर पुरुषों से सुने हैं, जिन्होंने हमें उसका विशेष रूप से साक्षात् अवबोधन कराया है।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।१४।।

जो सम्भूति और विनाश, इन दोनों के सहित उसे जानता है, वह विनाश के द्वारा मृत्यु को पार कर सम्भूति के द्वारा अमृत को प्राप्त करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।।

सुवर्णमय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे विश्व का पोषण करने वाले प्रभु! मुझ सत्यधर्मा के लिए, सत्य के बोध की अभिलाषा वाले के लिए, उस आवरण को तू हटा ले।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजा-
पत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।१६।।

हे पोषण करने वाले, हे ज्ञानस्वरूप द्रष्टा, हे सबके नियन्ता, हे परमप्रकाशक, ज्ञानियों के परम लक्ष्य, हे प्रजापति के प्रिय! आप इन रश्मियों को एकत्र कीजिए, इस तेज को समेट लीजिए। जो आप का अतिशय कल्याणमय रूप है, उस रूप को मैं देख रहा हूँ। जो वह पुरुष है, वही मैं हूँ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर।।१७।।

हे प्रभो ! अब यह प्राणवायु अविनाशी अमृत, अपार्थिव सच्चिदानंद में तथा यह शरीर अग्नि में भस्मरूप को प्राप्त हो जाए। हे सर्वरक्षक प्रभो! आप मुझे स्मरण करें, मेरे किये हुए को स्मरण करें।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम। ।१८।।

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! हमें परमानन्द रूप परमधन को प्राप्त करने के लिए सुन्दर मार्ग से ले चलिये। हे देव ! आप ही सम्पूर्ण कर्मों के ज्ञाता हैं, हमारे सम्पूर्ण कुटिल पापों को दूर कर दीजिए। आपको बार-बार नमस्कारमय वचन कहते हैं, बार-बार आपको नमन करते हैं।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः ॐ शान्ति ॐ शान्तिः

हमारे प्रकाशन

पुस्तकों के नाम	मूल्य
1. मानस महाकाव्य में नारी	50/-
2. ब्रह्मविद्या विज्ञान भाग-I	20/-
3. ब्रह्मविद्या विज्ञान भाग-II	30/-
4. गीता तत्त्वबोध	20/-
5. गीता ज्ञान विज्ञान योग	15/-
6. नारी तुलसी की दृष्टि में	5/-
7. आपकी अपनी बात	7/-
8. सहज समाधि भली	7/-
9. भारत की आत्मा	7/-
10. मानस के मोती	10/-
11. हिन्दू धर्म सूत्र	5/-
12. जीवन विज्ञान	8/-
13. तत्त्व चिन्तन	8/-
14. सन्त सन्देश	3/-
15. योगांकुर	8/-
16. समाधान	10/-
17. योगपथ	10/-
18. क्या वर्ण-व्यवस्था अभिशाप है?	1/-
19. The Hindu & Its Way Of Life	3/-
20. How to be a Yogi	15/-
21. Towards Divinity	8/-
22. Yoga For Life	10/-

दिव्यालोक मासिक पत्रिका

सद्विचारों के प्रचार और प्रसार की मासिक पत्रिका 'दिव्यालोक'। अधिक-से-अधिक संख्या में इसकी सदस्यता ग्रहण करके मिशन के साथ सहयोग करें।

वार्षिक मूल्य 25.00 रुपये आजीवन सदस्यता 250.00 रुपये

सम्पर्क सूत्र

1. **ब्रह्मर्षि आश्रम,**
   विराट नगर, पो० ऑ० पिंजौर, हरियाणा
   फोन : 2553 कालका
2. **विद्यालोक प्रकाशन,**
   466 सैक्टर 20/A, चण्डीगढ़ 160 020
3. **ब्रह्मर्षि योगाश्रम,**
   28/B, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा,
   दिल्ली 110 032
4. **ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन,**
   माधोपुरी, गऊशाला रोड, लुधियाना
   फोन : 32565
5. **ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन** (अंग्रेजी मीडियम)
   बेअन्तपुरा, चण्डीगढ़ रोड, लुधियाना
   फोन : 27406
6. **BRAHMRISHI ASHRAM**
   114-Hammond Road, Southall
   Midd-X U.K.
   Phone : 01—571—3879
7. **BRAHMRISHI ASHRAM**
   116, Trooststraat 2525 GW
   Denhaag, Holland
   Phone : 070—89 73 79
8. **BRAHMRISHI ASHRAM & HINDU TEMPLE**
   448 Lancaster Street West,
   Kitchener, Ontario,
   Canada N2H4V9
   Phone : 519—579—1486
9. **BRAHMRISHI ASHRAM**
   1246, North Mantua Street, Kent,
   Ohio—44240 U.S.A.
   Phone : 216—678—3793

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा
दिव्यालोक प्रकाशन